चिकित्साचन्द्रोदय

पहला भाग पृष्ठ-संख्या ३४०	मूल्य अजिल्दका ३)	सजिल्दका ३॥)
दूसरा भाग पृष्ठ-संख्या ६००	मूल्य अजिल्दका ५)	सजिल्दका ५॥)
तीसरा भाग पृष्ठ-संख्या ५००	मूल्य अजिल्दका ४।)	सजिल्दका ५)
चौथा भाग पृष्ठ-संख्या ४३२	मूल्य अजिल्दका ३॥)	सजिल्दका४॥)
		कुल—१६)

पहले भागमें, वैद्य-विद्या सीखने वालोंके जानने योग्य प्रायः सभी कामकी बातें लिखी हैं। इस भागके पढ़ लेने से मनुष्य वैद्यके जानने योग्य हज़ारों जरूरी बातें जान जाता है, जिनके जाने बिना कोई भी सच्चा वैद्य बन नहीं सकता।

दूसरे भागमें, सब रोगोंके राजा और कालोंके काल "ज्वर" रोगके निदान, लक्षण और चिकित्सा है। प्रायः सभी प्रकारके ज्वरोंके कारण और लक्षण लिख कर, उनकी चिकित्सा बहुत ही सीधे ढँग से लिखी गई है। हर प्रकारके ज्वर पर शास्त्रोक्त योग या नुसखे तो लिखे ही हैं, पर साथ-साथ आजमाये हुए नुसखे भी लिख दिये हैं, जिनको काममें लाने से वैद्यको फौरन ही कामयाबी होती है। इस एक ग्रन्थको, शुरू से अखीर तक, पढ़ लेने से ज्वरों पर और ग्रन्थ देखनेकी जरूरत नहीं रहती। पुस्तकके अन्तमें, बच्चों के प्रायः सभी रोगोंकी चिकित्सा बड़ी ही खूबी से लिखी गई है। अङ्गरेजी बुखार न्यमोनिया, टाइफाइड फीवर और टाइफस फीवर प्रभृति पर भी प्रकाश डाला गया है।

तीसरे भागमें, अतिसार, संग्रहणी, बवासीर, मन्दाग्नि, अजीर्ण, विशूचिका, हैजा, पाण्डु, कामला, कृमिरोग, उपदंश या गरमी रोग एवम् सोजाककी चिकित्सा इस खूबी से लिखी गई है कि, अनाड़ी आदमी भी, जो हिन्दी-मात्र पढ़ सकता है, इस पुस्तक को देख-देख कर, ऊपर लिखे सभी रोगोंका इलाज करके यश और धन कमा सकता है।

चौथे भाग में, प्रमेह और नामर्दी के निदान लक्षण और चिकित्सा एवं बन्ध्या को पुत्र देने वाले अनुभूत योग लिखे गये हैं। यह भाग बालक वृद्ध जवान, नर और नारी, सभी के काम का है।

नोट—चारों भाग एक साथ मँगाने से २।=) कमीशन मिलेगा, पर डाकखर्च खरीदार को देना होगा।

हिन्दी भगवद्गीता।

अनुवादक

हरिदास वैद्य

हरिदास एण्ड कम्पनी

द्वारा प्रकाशित।

कलकत्ता।

२०१ हरिसन रोड के "नरसिंह प्रेस" में

मैनेजर पण्डित काशीनाथ जैन

द्वारा मुद्रित।

सन् १९२३ ई०

चौथीवार ५०००]　　　　मूल्य २)

विषय		पृष्ठ
भूमिका...	...	१
गीताका परिचय	...	[illegible]
श्रीमद्भगवद्गीतासार	...	९-६४
पहला अध्याय	...	६५
दूसरा ”	...	... ८६
तीसरा ”	... ...	... १८४
चौथा ”	... ...	... २०५
पाँचवाँ ”	... ...	... २३५
छठाँ ”	... ...	... २६०
सातवाँ ”	... ...	... २८६
आठवाँ ”	... ...	... ३०२
नवाँ ”	... ...	... ३१९
दसवाँ ”	... ...	... ३३४
ग्यारहवाँ ”	... ...	... ३४५
बारहवाँ ”	... ...	... ३६३
तेरहवाँ ”	... ...	... ३७३
चौदहवाँ ”	... ...	... ३८२
पन्द्रहवाँ ”	... ...	... ४०२
सोलहवाँ ”	... ...	... ४१५
सत्रहवाँ ”	... ...	... ४२५
अठारहवाँ ”	... ...	... ४३

गीता अनमोल रत्न है। जिस तरह अनमोल रत्न बड़ी कठिनतासे मिलते हैं, उसी तरह इस गीताके महान् उद्देश्य, शुभकर उपदेश और कठोरतर विषय भी बड़ी कठिनतासे समझमें आते हैं। फिर मुझ सरीखे अल्पज्ञ और अत्यन्त तुच्छ बुद्धिवाले मनुष्यकी क्या सामर्थ्य है, कि इस ग्रन्थकी भूमिका लिख सके। लिखना इतनाही है, कि इस वेदमयी, सर्वशास्त्रमयी और तत्त्वज्ञानमयी गीतामें दियेहुए श्रीकृष्ण भगवान्‌के अमृत सरीखे उपदेशोंके, केवल हिन्दीजाननेवालोंकी समझमें न आनेके कारण जनसमाज का उतना उपकार नहीं होता जितना कि होना चाहिये और न गीता की रचनाके उद्देश्यकी पूर्णतया सिद्धिही होती है तथा संसार इस दुर्लभ अमृतको देख-देख-तथा पूज-पूजकरही बिना पान किये रह जाता है।

ऐसा न होना चाहिये। उचित तो यह है, कि बालकपनसे ही इसके अर्थका थोड़ा-थोड़ा बीज बालकोंके कोमल हृदयों पर आरम्भमेंही बो दिया जाय, जिसमें उनकी बुद्धिकी वृद्धिके साथही-साथ वेदव्यासके उद्देश्यकी भी कुछ सिद्धि होती जाय तथा जगत्‌का कुछ उपकार भी हो। बस, इसी उद्देश्यसे तथा यही विचारकर कि जिन महाशयोंका संस्कृत में उतना बढ़ा-चढ़ा अभ्यास नहीं है, कि वे गीता सरीखे कठोरतर ग्रन्थका आशय समझ कर परब्रह्म जनार्दनके उपदेशों को समझ सकें, मैंने अपनी अल्प-शक्ति और हीन बुद्धिके अनुसार इस ग्रन्थके आशयोंको, जहाँतक बन पड़ा है, सरल हिन्दीमें खुलासा तौर पर समझानेका उद्योग किया है। सो भी, अपने ही भरोसे नहीं—बल्कि मैसूर-राज्यके श्रीयुत महादेव शास्त्री एम०ए० की अनुवादित भगवद्गीता और शङ्कर-भाष्यके सहारे अपने उद्देश्यकी सिद्धिका प्रयत्न किया है।

इस ग्रन्थको लिखते समय, मैंने इस बातपर विशेष ध्यान रखा

है कि, गीताके उपदेशोंके भाव भली भांति व्यक्त हों, इसलिये साफ़ सरल शब्दोंमें भावार्थ अलग समझानेका उद्योग किया है, साथही विषय ठीक-ठीक रखने पर भी पूरा ध्यान रखा है। जहाँ तक अपनी सामर्थ्य थी, इसको सुन्दर सजाकरही पाठकों को अर्पण करनेका साहस किया है। अब यह ग्रन्थ कैसा हुआ, यह पाठक गण आपही समझ लें और यदि कहीं त्रुटियां नजर आवें तो समय-समयपर मुझे भी सूचित किया करें, ताकि चतुर्थ संस्करणमें इसका और सुधार हो जाय। मैं इतनाही चाहता हूँ, कि बालक इससे शिक्षा ग्रहण करें, केवल हिन्दी पढ़े-लिखे मनुष्य श्रीमधुसूदनके उपदेशोंका सार समझकर लाभान्वित हों और देशका कुछ उपाकार हो। यदि इसका कुछ भी अंश सत्य हुआ, तो मैं अपने उद्योगको सफल जानूँगा।

हाँ, तीसरे संस्करण में, गीता के आरम्भ में "श्रीमद्भगवद्गीता सार" नामका एक निबन्ध और भी जोड़ दिया गया था। उसे श्रीयुत् बाबू शिवपूजन सहाय जी एम० ए० ने लिखा था। उसे सर्वसाधारण ने खूब पसन्द किया, क्योंकि उस से गीता के महत्व और भीतरी बातों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वह आरम्भ में इस बार भी ज्यों का त्यों रख दिया गया है उसके सिवा, इस संस्करण में चित्र-संख्या भी बढ़ा दी है, आशा है, ये चित्र गीता-प्रेमियों को रुचिकर मालूम होंगे। यह अनुवाद कैसा है, इस के लिखने की अब कोई ज़रूरत नहीं; क्योंकि इस अनुवाद के संस्करण-पर संस्करण होना ही इसकी उत्तमताका काफी सुबूत है। जगदीशकी कृपा से इस का प्रचार आज घर घर में हो रहा है, सुशिक्षित, अल्प शिक्षित और अर्द्ध शिक्षित सभी इसे अपना रहे हैं। इसी से इस बार इसकी पाँचहज़ार प्रतियाँ छापी गई हैं। आशा है, गीता-प्रेमी इसे हाथों-हाथ खरीद कर, प्रकाशकों का उत्साह बढ़ायेंगे।

विनीत :—

हरिदास।

महाराजा धृतराष्ट्र अन्धे होने के कारण युद्धक्षेत्रमें नहीं गये थे। इसी से सञ्जय भी उनके साथ राजधानीमें रह गये। महर्षि व्यासजी ने सञ्जय को अपने तपोबल से दिव्य दृष्टि प्रदान की थी, इसी से वह राजमहलोंमें बैठे हुए युद्धक्षेत्रका दृश्य प्रत्यक्ष देखते थे और वहाँ का हाल अन्धे महाराज को सुनाते थे। १ पृष्ठ

गीताका परिचय

अस्माद्धर्ममयी गीता, सर्वज्ञान-प्रयोजिका ।
सर्वशास्त्रमयी गीता, तस्माद्गीता विशिष्यते ॥

अर्थात् गीता के पढ़ने और उसको समझनेसे धर्मकी बातें मालूम होती हैं, सब तरहके ज्ञानोंकी वृद्धि होती है, सब शास्त्रोंके तत्त्व की बातें मालूम होती हैं ; इसलिये गीता सब शास्त्रों से श्रेष्ठ है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि ऊपर दिये हुए श्लोक का एक-एक अक्षर सत्य और ठीक-ठीक है ; क्योंकि गीता की ऐसेही समयमें सृष्टि हुई है और श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुन को ये अमृत-भरे उपदेश ऐसेही समय में दिये हैं, जिस समय अर्जुन बहुतही व्याकुल हो उठे थे, क्षत्रियोचित भाव उनके हृदयसे दूर हुआ जाता था तथा वह, क्षत्रियों के कर्मको भूल, रणभूमिसे भागा चाहते थे। ऐसी अवस्थामें, ऐसे अवसरपर और ऐसे रणभूमि-सरीखे चित्तको हिला देनेवाले स्थानमें जिस अमृतरूपी उपदेशने अर्जुन-सरीखे व्यग्र-चित्त मनुष्य का हृदय स्थिर और शान्त कर दिया, उस उपदेश को सुख और शान्ति में बैठा हुआ मनुष्य यदि ध्यान देकर, समझकर पढ़े ; तो इसमें क्या सन्देह है कि, उसका ज्ञान बहुत बढ़ जायगा और धर्म तथा कर्म के पूरे-पूरे तत्त्वको वह भली भाँति समझ सकेगा—यही एक प्रधान कारण है कि, प्रत्येक विचारशील उन्नत जातिने इस पवित्र ग्रन्थ का बहुतही विशेष आदर किया है।

महाभारत के समय की बात है, ठीक--ठीक समय का पूरा पता न लगनेपर भी, अनुमान से पाँच हज़ार वर्ष पहिले की यह घटना मालूम होती है। उस समय भारत में हस्तिनापुर नामक एक

समृद्धिशाली नगर था। वहाँ चन्द्रवंशी राजा राज्य करते थे। उन राजाओंमें शान्तनु बड़ेही प्रतापी राजा हुए। उनके पुत्रका नाम भीष्म था। कारणवश, भीष्मके रहते हुए भी शान्तनुने योजनगन्धा नामकी मल्लाहकी कन्यासे विवाह किया। उससे उनके दो पुत्र हुए, जो असमयमें ही मर गये। उनके उन दोनों पुत्रोंसे पाण्डु और धृतराष्ट्र नामके दो पुत्र हुए। पाण्डु ही राज्यके मालिक हुए। पाण्डुसे युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र हुए; जिनमें सबसे बड़ा दुर्योधन था। धृतराष्ट्रके पुत्र कौरव कहलाये और पाण्डुके पाँचों पुत्र पाण्डव कहलाये। पाण्डु भी अपने पुत्रोंको छोटी अवस्थामेंही छोड़ परलोक सिधार गये; इसलिये राज्यकी देख-भालका काम धृतराष्ट्रके हाथोंमें गया।

आरम्भसेही धृतराष्ट्रकी नीयत खोटी थी। उनके कामोंसे मालूम होता है कि, उनकी इच्छा अपनेही पुत्रोंको समस्त राज्य दे देनेकी थी। उनका बड़ा बेटा दुर्योधन भी पाण्डवोंको देख न सकता था, दिन-रात उनका निधनही मनाया करता था। पाण्डवोंके मारनेके बहुत कुछ यत्न करने पर भी, ईश्वरकी कृपासे, वह पाण्डवोंका कुछ भी बिगाड़ न कर सका, पाण्डव बार बार बचते ही गये। पाण्डवोंकी शिक्षा भी अच्छी हुई; अस्त्र-शिक्षामें भी पाण्डवोंनेही विजय पायी। अर्जुन बड़ेही भारी धनुर्द्धर हुए। पाण्डवोंसे दुर्योधनकी न पटती देख, अन्तमें बहुत कुछ समझाने-बुझानेपर धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको राज्य बाँट दिया।

राज्य पानेपर पाण्डवोंने अपने राज्यकी उन्नति आरम्भ की। पाण्डव खूब बली थे। उन्होंने अपने भुज-बलसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—चारों दिशाएँ जीतकर राजसूय-यज्ञ किया। उनका सभा-मण्डप मय नामक एक दैत्यने ऐसा अद्भुत बनाया, जैसा न कभी पृथ्वीपर बना और न बनेगा। पृथिवीके सभी राज्योंने पाण्डवोंकी वश्यता स्वीकार की। चीन, कम्बोजिया, कन्दहार आदि पृथ्वीके

सभी नरपतियोंने पाण्डवोंको अपना सम्राट् समझा । पृथ्वीभरके राजाओंने पाण्डवोंको अनेक प्रकारके धनरत्न आदि भेटमें दिये। पाण्डव अब बड़ेही वैभवशाली हुए । समस्त भूमण्डलके वह एक-मात्र चक्रवर्त्ती राजा हुए ।

दुर्योधनसे पाण्डवोंकी यह श्री और उन्नति देखी न गई । उसने पाण्डवोंको बुलाकर छलसे जूआ खेलना आरम्भ किया । जूएमें पाण्डव बराबर हारते गये, यहाँतक कि अपनी परमप्रिया स्त्री द्रौपदी को भी हार गये । इस द्यूत-सभामें द्रौपदी को बहुत कुछ अपमान सहना पड़ा । जूएमें दुर्योधनका छल भी पाण्डवोंसे छिपा न रहा । पाण्डव उसी समयसे समझ गये कि, दुर्योधन कुछ अनर्थ करेगा । सब सभासदोंके समझानेपर, बड़ी कठिनतासे द्रौपदीको तो छुटकारा मिल गया ; परन्तु पाण्डवोंको १२ वर्षका बनवास और १ वर्षका अज्ञातवास मिला । प्रतिज्ञाबद्ध होनेके कारण, पाण्डवोंको ये सब दुःख सहन करनेही पड़े । अज्ञातवास का १३ वाँ वर्ष भी पाण्डवोंने राजा विराटके यहाँ छिपकर नौकरी करके बिता दिया * ।

प्रतिज्ञाके तेरह वर्ष बीत जानेपर, पाण्डवोंकी ओरसे श्रीकृष्ण भगवान् दूत बनकर कौरवोंके पास गये और उनसे पाण्डवोंका राज्य माँगा । इस समय दुर्योधनके हाथमें राज्यकी देख-रेख थी; दुर्योधनने राज्य देनेसे इन्कार कर दिया । कृष्णने बहुत-कुछ समझाया, अन्त में पाँच गाँवही माँगे ; परन्तु दुर्योधनने साफ़ कह दिया कि, बिना युद्धके मैं एक सुईकी नोक बराबर भूमि भी न दूँगा । लाचार, कृष्ण लौट आये ।

अब दोनों ओरसे युद्धकी तय्यारियाँ होने लगीं । दुर्योधनको भी मालूम होगया कि, पाण्डवोंसे लड़ाई होगी । भीष्मपितामह,

* पाण्डवों के अज्ञातवास के १३ वें सालका हाल अगर औपन्यासिक भाषामें देखना हो, तो हमारे यहाँसे सचित्र "पाप-परिणाम" मँगा देखें । दाम १) डाक खर्च ।=) अगर महारानी द्रौपदी के वस्त्रहरण प्रभृति की घटनायें देखनी हैं, तो सचित्र "द्रौपदी" मँगा देखें, दाम २॥)

द्रोणाचार्य, कर्ण, शल्य, जयद्रथ आदि बड़े-बड़े नामी धनुर्धर कौरवों की ओर हुए। धृष्टकेतु, चेकितान, कुन्तिभोज, शैव्य, धृष्टद्युम्न, सात्यकि आदि राजे तथा अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र पाण्डवोंकी ओर हुए। कौरवी सेनाके सञ्चालनका भार भीष्मपितामह-को दिया गया और पाण्डवी सेनाके सेनापति भीमसेन हुए। दोनों ओरकी सेनाएँ सजधजकर मोर्चेपर आ डटीं। दोनों ओरसे लड़ाई-का मारू बाजा बजने लगा। जब दोनों सेनाएँ एकत्रित हो गईं, तब अर्जुनने अपने सारथि (क्योंकि श्रीकृष्णनेही अर्जुनके रथको चलानेका भार लिया था) श्रीकृष्ण को रथ दोनों दलोंके बीचमें, इस लिये, ले चलनेको कहा कि, देखें कौन-कौन हमलोगोंसे युद्ध करनेके लिये हमारे विपक्षमें खड़े हुए हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने रथ दोनों दलोंके बीचमें ले जाकर खड़ा किया। अब अर्जुन अपने विपक्षी दलको देखने लगे—उन्हें अपने सम्बन्धी, बाबा, गुरु, चाचा, मामा, पौत्र, श्वशुर, सभी अपने-ही-अपने दिखाई देने लगे। यह दृश्य देख, अर्जुनको बड़ा दुःख हुआ। वह, करुणामें भरकर, कृष्णसे बोले—"हे कृष्ण! इस स्थानपर आकर तो अब मेरी युद्ध करनेकी इच्छा नहीं होती, मेरा मुँह सूख रहा है, नसें ढीली पड़ी जाती हैं, कलेजा काँप रहा है, यह धनुष मेरे हाथ-से गिराही चाहता है, माथेमें चक्कर आ रहे हैं; क्योंकि जिनसे युद्ध करना होगा, वे सब अपनेही सम्बन्धी, भाई-बन्धु, गुरु आदि हैं। इन अपनेही मनुष्योंको मारकर मैं क्या सुखी होऊँगा? यह राजपाट यदि मैंने जीत ही लिया, तो किस काम आवेगा, यह बात मेरी समझमें नहीं आती। अब मुझे जयकी ज़रूरत नहीं है; मैं राज्य-की भी इच्छा नहीं करता; न इतने आत्मीयों को मारकर मुझे सुख-भोग भोगनेकी इच्छा है। राज्य-भोगसे क्या होगा? जिनके लिये राज्य-भोगकी आवश्यकता है, वे तो यहाँ मरने-मारनेके लिये खड़े हैं। वे हमारे गुरु, पितामह, श्वशुर, साले और अन्यान्य सम्बन्धी

हैं। हे मधुसूदन! ये चाहें मुझे मार डालें, पर मैं इनपर शस्त्र नहीं चला सकता। इन गुरुजनोंको मारकर राज्य भोगनेकी अपेक्षा भीख माँगकर दिन काटना अच्छा है। यदि मुझे त्रिलोकीका राज्य भी मिल जाय, तोभी मैं इनपर शस्त्र नहीं उठा सकता।"

श्रीकृष्ण भगवान्ने देखा कि, अर्जुन इस समय वृथा मिथ्या मोह-जालमें फँसकर अपने धर्मसे डिग गया है; इसे ब्रह्मज्ञान नहीं है; इसीसे मोह और शोकने इसे धर दबाया है। यदि इस समय इसे ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया जाय, तो यह फिर अपने क्षत्रियोचित धर्मपर आरूढ़ हो सकता है। यह सोचकर, श्रीकृष्ण भगवान् समस्त वेदोंका सार, ब्रह्मज्ञान, साधनों-सहित अर्जुनको सुनाने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ जिस ब्रह्मविद्याका उपदेश देकर अर्जुनकी आँखें खोलीं और उसे अपने धर्ममें लगा दिया, उसीका नाम "गीता" हुआ। यही गीताका यथार्थ परिचय है।

गीता ज्ञानका भण्डार है। गीता धर्ममयी, सर्वशास्त्रमयी और सब प्रकारके तत्त्वज्ञानोंसे भरी हुई है। गीताका एक-एक श्लोक, एक-एक पद, यहाँतक कि एक-एक अक्षर भी ज्ञानसे शून्य नहीं है। यह योगशास्त्रका विषय है। इसमें एकमात्र ब्रह्म-विद्याका निरूपण है। इस ग्रन्थके सभी श्लोक मन्त्र हैं। समूची गीतामें ज्ञाननिष्ठाका वर्णन है; क्योंकि ज्ञाननिष्ठाही मोक्षका कारण है। बिना ज्ञाननिष्ठाके मुक्ति नहीं हो सकती, परन्तु ज्ञाननिष्ठाके पहिले उपासना और उपासनाके पहिले कर्मयोग या कर्म-निष्ठाकी आवश्यकता आ पड़ती है। अतः कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंही मोक्षके कारण हैं। इन तीनोंमें से किसीके बिना काम नहीं चल सकता। तीनोंहीके साधन की आवश्यकता है। तीनोंके साधनसेही मोक्ष मिलती है। उपासना और ज्ञानके बिना, केवल कर्मसे काम नहीं चलता। न कर्मके बिना केवल उपासना और ज्ञानसेही काम चलता है; इसी तरह ज्ञानके बिना केवल कर्म और उपासनासे भी काम नहीं चल सकता। तात्पर्य यह है,

कि तीनोंमें से एक भी न रहने से, दोनों बेकार हो जाते हैं। ये सदा एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं।

अब इन दोनोंमें भेद यह है, कि कर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, उपासनासे चित्त एकाग्र होता है और ज्ञानसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये गीताके पहले छः अध्यायोंमें कर्मकाण्डका वर्णन है; दूसरे छः अध्यायोंमें उपासनाका वर्णन है और शेषके छः अध्यायोंमें ज्ञान-निष्ठाका वर्णन है। इस तरह १८ अध्यायों और ७०० श्लोकोंमें गीता समाप्त की गयी है। जब मनुष्य कर्मयोग और उपासनामें पक्का हो जाता है, तब उसके सामने ज्ञान-निष्ठा मुख्य हो जाती है और जब वह ज्ञान-निष्ठामें भी परिपक्व हो जाता है, तब उसके सब दुःखोंका नाश होकर, उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

जिस तरह वेदमें कर्म, उपासना और ज्ञानका निरूपण किया गया है; उसी तरह इस गीतामें भी कर्म, उपासना और ज्ञानका निरूपण किया गया है। गीतामें ऊँच-नीचका भेद नहीं है। गीताका मुख्य उपदेश है, कि आत्मा सबमें समान है, सभी ब्रह्म हैं और जीव तथा ब्रह्ममें भेद नहीं है।

कृष्णने अर्जुनके उपकारके लिये जिस तरह यह ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया, अर्जुनने जिस भाँति इन उपदेशोंको ध्यानसे समझकर अपना कर्म ठीक-ठीक साधन किया; उसी तरह महर्षि वेदव्यासने भी, जगत्के उपकारके लिये, यह विचार कर कि, कुछ दिनोंमें वह समय आवेगा जब लोग वेदको समझ न सकेंगे और ब्रह्मविद्याको भी जान न सकेंगे, भगवान्के मुखसे निकले हुए ब्रह्मज्ञानको यथास्थान सजाकर, अपने लिखे महाभारतके भीष्म-पर्वमें जोड़ दिया और उसका नाम "भगवद्गीता" रख दिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, गीता अलभ्य ग्रन्थ है; इसके समान उपदेशपूर्ण और कोई ग्रन्थ नहीं है; इसके प्रमाण-स्वरूपमें कृष्ण भगवान् ने स्वयंही कहा है:—

गीताश्रयेऽहंतिष्ठामि, गीतामेचोत्तमंगृहम् ।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य, त्रींल्लोकान्पालयाम्यहम् ॥

मैं गीताके आश्रय परही रहता हूँ, गीताही मेरा परमोत्तम घर है और मैं गीताके ज्ञानका आश्रय लेकरही त्रिलोकीका भरणपोषण करता हूँ।

और भी कहा है—

चिदानन्देनकृष्णेन ,प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।
वेदत्रयीपरानन्दा, तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥

यह गीता स्वयं परब्रह्मरूप चिदानन्द श्रीकृष्णने अपने मुखसे अर्जुनको सुनाई है ; इससे यह वेदत्रयी-रूप, कर्मकाण्डमय और सदा आनन्द तथा तत्वज्ञान की देनेवाली है।

विचारनेकी बात है कि, जिस गीताके वक्ता स्वयं पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण हैं, श्रोता अर्जुन-सरीखे महाधुरन्धर तेजस्वी और जितेन्द्रिय पुरुष हैं और कर्त्ता कृष्णद्वैपायन व्यास जैसे महात्मा हैं, भला उसके भवघ्नी, त्रयतापनाशिनी और तत्त्वार्थज्ञानदायिनी होनेमें क्या संशय है ?

इसमें तो कोई सन्देहही नहीं है, कि गीतासे बढ़कर ज्ञानका कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। इसको समझकर पढ़नेसे मनुष्य ज्ञानसिद्धि प्राप्त करता है, और अन्तमें जन्म-मरणसे छुटकारा पाकर ब्रह्मरूप हो जाता है। जो मनुष्य-देह पाकर इस गीतारूपी अमृतको नहीं पीता, वह अमृत छोड़कर विष पीता है ; अतएव जिन्हें जन्म-मरणके कष्टसे छुटकारा पाना हो, जिन्हें संसारसागरसे तरना हो, वे गीताको समझ कर पढ़ें-पढ़ावें, सुनें और सुनावें।

गीताका विषय कठिन है। इसमें ज्ञानकी बातें हैं। ज्ञानकी बातें बिना समझे, बिना बुद्धि लड़ाये, माथे में नहीं घुसतीं। जो बात

समझमें नहीं आती, जिस बातमें मस्तिष्क काम नहीं करता; उस बातको केवल रट लेनेसे कोई फल नहीं मिलता। गीता श्रीकृष्ण-प्रदत्त उपदेश है। किसीके उपदेशको रटनेसे फल नहीं हो सकता। उपदेशका अर्थ समझकर, उसके अनुसार कार्य करना चाहिये, तब फल मिलता है। कहा है—

गीतार्थश्रवणासक्तो, महापापयुतोऽपिवा।
वैकुण्ठसमवाप्नोति, विष्णुनासह मोदते॥

महापापी भी यदि गीताके अर्थको (केवल पद्यको नहीं) सुननेमें आसक्त होता है; तो वह भी वैकुण्ठ पाकर विष्णु भगवान्‌के पास रहता हुआ आनन्द करता है।

और भी कहा है—

गीतार्थं ध्यायते नित्यं, कृत्वाकर्माणिभूरिशः।
जीवन्मुक्तः सविज्ञेयो, देहान्ते परमं पदम्॥

जो अनेक प्रकारके कर्म करता हुआ भी गीताके अर्थका नित्य ध्यान करता है, वह मरनेपर परमपद पाता है।

विशेष समझानेकी बात नहीं है; जैसे जब तब अन्न नहीं पचता; तब तक रुधिर आदि धातुयें नहीं बनतीं; उसी तरह जब तक उपदेश समझमें नहीं आते, तबतक मनुष्य उनके अनुसार काम भी नहीं कर सकता और इसी कारणसे कुछ फल भी नहीं मिलता। अतएव, इस गीतारूपी उपदेशके एक-एक अक्षर, एक-एक पद और एक-एक शब्द तथा वाक्यको खूब समझकर पढ़ना और याद रखना चाहिये। समझकर पढ़नेसेही गीता-पाठका यथार्थ फल मिल सकता है।

महाराजा दुर्योधन गुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर उनसे युद्ध-सञ्चालन-सम्बन्धी सलाह मशवरः करते हैं। पृष्ठ ८

श्रीमद्भगवद्गीता-सार

(माधवाचार्य्यके गीता-भाष्यके अनुसार गीताके प्रत्येक अध्यायका संक्षिप्त भाव)*

प्रथम अध्याय।

पाण्डवों और कौरवों की सेनायें कुरुक्षेत्रमें सम्मुखीन हुई हैं। दुर्योधन दोनों सेनाओंको देखता है। देखने पर उसके हृदयमें यह भाव उठता है, कि यद्यपि उसके दलकी अक्षौहिणियों और प्रसिद्ध योद्धाओंकी संख्या अधिक है; तथापि पाण्डव-सैन्यही अधिकतर बलवती है। अपनी शक्तिकी पूर्णता पर उसे संशय होता है और द्रोणाचार्य्यको ही इस विषयमें सबसे सुचतुर समझ, वह उत्साह-वाक्य सुननेकी आशासे, दौड़ा हुआ उनके पास जाता है। द्रोणाचार्य्य तो कुछ नहीं कहते, किन्तु सेनानायक पितामह भीष्म राजकुमार की मानसिक व्यग्रता समझ जाते

* जिस श्लोकसे जो भाव लिये गये हैं, उस श्लोककी संख्या दे दी गई है।

हैं और उसके दुःखाभिभूत हृदयको उत्तेजित करनेके लिये अपना शंख बजाते हैं। इन बातोंसे यह झलकता है कि, दुर्योधन खूब समझ गया है, कि मेरा पक्ष अन्याय्य है। और इन बातोंसे यह भी प्रकट होता है कि, महती सेनाके रहते भी, धर्मपथसे विचलित होनेके कारण, उसपर मानसिक निर्बलता अपनी छाप जमा रही है। इस संघटन से और दुर्योधनका यह मनोभाव देखकर मानों पाठकों और चिन्ताशील पुरुषों को इस संघर्षके अन्तिम फलका आभास मिल रहा है। दूसरी ओर ;अर्जुनमें कोई धार्मिक दोष नहीं, जिससे उन्हें यह युद्ध परित्याग करना पड़े अथवा जिसके कारण उनकी विजयमें सन्देह हो सकता हो ; तथापि करुण और उच्च-से-उच्च भावोंके वशीभूत होकर, अर्जुन अपनी प्रतिज्ञासे डिगना चाहते हैं। वह देखते हैं, कि युद्धक्षेत्रमें जिनसे उन्हें लड़ना पड़ेगा, उनमें उनके आत्मीय, श्रद्धास्पद गुरुजन, घनिष्ट मित्र और लड़के मौजूद हैं। परन्तु यदि अर्जुन युद्ध छोड़कर भाग जायँ, तो लोगोंकी यह कहावत चरितार्थ होगी कि, संसारमें अन्याय और अधर्म्म भरा हुआ है तथा अन्याय और अधर्मकी जीत और न्याय और धर्म्मकी हार होती है। अर्जुनको कर्त्तव्य-पथपर लाना बहुत आवश्यक है और उनको कर्त्तव्यके महत्त्वका ज्ञान कराना उचित है। उनको अच्छी तरह समझानेके लिये भगवान् कृष्ण बहुत ज़ोर देकर यह नियम बतलाते हैं कि, कर्त्तव्य-सम्पादन के लिये कुछ उत्सर्ग—कभी-कभी बहुत उत्सर्ग की आवश्यकता होती है। प्रथमतः, प्रशंसनीयसे भी प्रशंसनीय व्यक्तिगत भावोंको बिना आहुति दिये, कर्त्तव्य-पालन नहीं हो सकता'। यही साधारण नियम, दैवी तथा मानवी न्याय का मूलमन्त्र है।

करुण-भावसे अभिभूत होकर अर्जुन युद्ध छोड़ देनेके लिये कुछ युक्तियाँ उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि, जिन गुरुजनों की मुझे पूजा करनी चाहिये, जो आत्मीय मेरे सारे सुखोंकी जड़ हैं;

उनलोगोंके मारनेसे मुझे क्या लाभ ? उनका संहनन करनेसे मैं केवल रक्तरञ्जित सम्पत्तिका स्वामी बनूँगा ; परन्तु ऐसी सम्पत्ति ज़राभी सुखदायिनी नहीं होगी। प्रत्युत् यह सम्पत्ति बादको मुझे नरकमें भी लेजा सकती है। बुद्धिमानों की तरह बातें करते हुए अर्जुन युद्धसे देश, समाज तथा धर्मपर होनेवाली बुराइयों का वर्णन करते हैं। संक्षेपतः, अर्जुन शत्रुको हरा, उसकी सम्पत्तिको अधिकार में लानेसे, न अपनीही और न संसारकीही कोई भलाई देखते हैं। वे कहते हैं, कि यदि मैं शत्रुहीन धनधान्यपूर्ण सारी पृथ्वीका अकेला राजा हो जाऊँ अथवा स्वर्गका राज्य भी मेरे ही हाथमें आ जाय; तोभी मुझे नहीं दीखता कि, मेरी इन्द्रियोंका जलानेवाला शोक दूर हो जायगा। अर्जुनको इहलोकके अनुभव की सत्यता पर पूरा विश्वास है और वे यह माननेके लिये तैयार नहीं, कि इस अनुभव का विनिमय इस या दूसरे किसी लोककी किसी चीज़से हो सकता है। समस्त वार्त्तालापमें श्रीकृष्ण भी यह अस्वीकार नहीं करते, कि इस संसारके अनुभव मायिक नहीं, बल्कि सच्चे अनुभव हैं। उनका केवल यही कहना है, कि जो पुरुष सुख और दुःख दोनोंही को एकही तरह अनुद्विग्न चित्तसे देखता है, वही पुरुष अमरत्वके योग्य होता है; अर्थात् इस क्षणभङ्गुर जीवन के तुच्छ आमोद-प्रमोदके लाभकी अपेक्षा औरभी उच्च उद्देश्य हैं, जिनपर मनुष्यको लक्ष्य रखना चाहिये। श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि अर्जुन! तुम्हारी युक्तियाँ ठीक नहीं। सच्चे प्रज्ञावान् पुरुषको चाहिये, कि कुछ व्यक्तिगत असुविधाओंकी परवा न करे और विश्वब्रह्माण्डकी अधिक-से-अधिक सुख-वृद्धिके लिये यत्न किया करे। जिन उद्देश्योंकी सिद्धिकी चेष्टा करनी चाहिये तथा जो भाव चित्तमें उत्पन्न हो सकते हैं, उनके इस भेदको जब तक मनुष्य हृदयङ्गम नहीं करता, तब तक यह नहीं कहा जा सकता, कि इसने सच्ची प्रज्ञा प्राप्त कर ली है।

दूसरा अध्याय।

भगवान् कृष्ण कहते हैं, कि पण्डित लोग न मृत व्यक्तिके लिए, न जीवित व्यक्तियोंके लिये, चिन्ता करते हैं। अर्जुन, केवल तुम बुद्धिमानोंकी तरह बातें करते हो। भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य्य यह नहीं, कि अर्जुनको सच्ची प्रज्ञा है। जैसा शोक अर्जुन अनुभव कर रहे हैं, वैसा शोक सच्ची प्रज्ञाका चिह्न नहीं। अब प्रश्न यह उठता है, कि तब सच्ची प्रज्ञा है क्या? भगवान् अर्जुनके ध्यानको अभ्यस्त मार्ग से खींचनेके लिये, उनके तर्क की नीवही पर आक्षेप करते हैं। वे कहते हैं, कि अर्जुन तुमको प्रज्ञा का अर्थही मालूम नहीं। जो लोग जीवित हैं, उनके लिये पण्डित या मूर्ख कोई शोक नहीं करता। जो लोग मर गये हैं, उनके लिये भी पण्डित लोग शोक नहीं करते; केवल मूर्ख उस भूलभूलैया में पड़ते हैं। यहीं बुद्धिमानों की बुद्धि देखी जाती है। अब यह शङ्का हो सकती है, कि आत्मीयोंके मरनेसे बुद्धिमानों तथा मूर्खोंकी हानि तो बराबर ही होती है, तब बुद्धिमानोंको व्यथा क्यों नहीं होती? इसी जिज्ञासाको चित्तमें उद्दीप्त करना वक्ताका उद्देश्य है। इसका उत्तर यह नहीं, कि प्राज्ञ पुरुषोंके लिये एक अलग और मूर्खोंके लिये एक दूसरा ही लोक है। ऐसे उत्तर का कुछ अर्थ नहीं निकलता। यथार्थ में दोनों ही के लिए एक लोक है। पर सोचना यह है, कि किस दृष्टिसे इन बातोंको देखना बुद्धिमत्ता और किस दृष्टिसे देखना मूर्खता है। यदि समूची गीता में इस एक विषय का भी पूर्वापर विरोध-रहित विचार किया गया है और यदि यह निज की भाषा
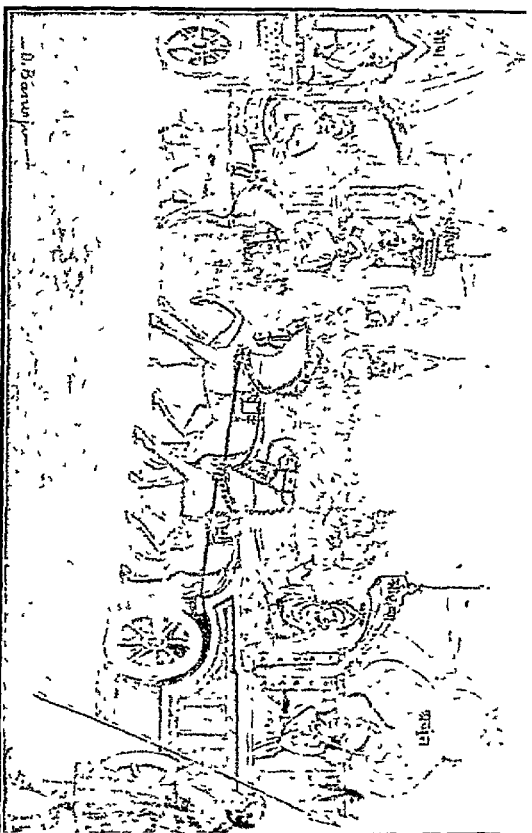
कुरुक्षेत्रके मैदानमें कौरव और पाण्डवोंकी सेनायें लड़ने को तैयार खड़ी हैं। सामने ही भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और महाराजा दुर्योधन प्रभृति महारथियोंके रथ खड़े हैं। इधरसे महाधनुर्धर महात्मा अर्जुनकी इच्छानुसार, उनके परम मित्र महायोगेश्वर मुरली मनोहर त्रिलोकीनाथ श्री कृष्णचन्द्र महाराज उनके सफेद घोड़ोंके रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर खड़ा करते हैं। अपने रिश्तेदारोंको देखकर, अर्जुनका दिल युद्ध करने से हटना

तथा स्थिति की व्याख्या और विवरण प्रगट करती दिखायी देती है, तो जिज्ञासु पुरुषको इतने ही से यह सोच कर सन्तुष्ट होना चाहिये, कि एक यथार्थ और समुचित फल उसके हाथ लगा है।

श्लोक १२।१३—प्रारम्भ में ही चिन्ताशील पुरुष को ये बातें सावधानता-पूर्वक स्मरण रखने का आदेश किया जाता है:—

(१) मुख्यतः, क्या सत् और असत् है ?

(२) मनुष्य में कोई ऐसी चीज़ है, जो मानो उसे शरीर और आत्मा को एक समझने से मना करती है।

(३) अहम् का तात्पर्य्य एक प्रधानतः सत् पदार्थ से है—एक ऐसा सत् पदार्थ जो परिवर्तनशील स्थिति से भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावान्वित होने पर भी स्वयं परिवर्तनशील नहीं तथा जो अपने को सबका आधार-भूत समझता है। ऐसे ही सत् पदार्थ को 'आत्मा' कहते हैं।

(४) जो कुछ मुख्यतः सत् है, उसका बिल्कुल अभाव नहीं हो सकता। तर्कशास्त्रके कार्य-कारण नियमके अनुसार सत् पदार्थ की जड़ एक नित्य पदार्थ ही हो सकता है। और जो कुछ परिवर्तन इसके सम्भव हैं, वे इसकी केवल भिन्न-भिन्न अवस्थायें तथा विकार मात्र हैं। इसीको विनाश कहते हैं, विनाश कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं। चाहे यह चैतन्य जीव हो या जड़ वस्तु हो, मुख्यतः इस सत्-पदार्थको स्वतः या इसके प्रधान रूपमें अवश्य ही नित्य मानना होगा। यदि यह नियम अतीत और वर्त्तमानके विषयमें सत्य है, तो भविष्यत्के विषय में भी इसको सत्य मानने के लिये विवश होते हैं। यह एक मामूली उक्ति है, कि वस्तुका नाश नहीं होता (*Matter is indestructible.*)। पूर्वोल्लिखित नियममें और इस मामूली उक्तिमें वस्तुगत्या ऐक्य है। जैसी परिभाषा उस नियमकी की गयी है, उससे इस मामूली उक्ति के भाव स्पष्ट व्यक्त हो जाते हैं। अतएव, इस नये ढँगसे परिभाषित नियम से सत्यका उच्चतर और व्यापक परिज्ञान होता है। वह

साधारण उक्ति तो केवल चेतना-रहित वस्तु के विषय में है। किन्तु यहाँ दिखलाया गया है, कि इस उक्ति का गूढ़तर अर्थ है और अन्य एक पदार्थ के विषय में भी इसका उपयोग कर सकते हैं। इस अन्य पदार्थ को हम लोग सुविधा के लिये आध्यात्मिक कहेंगे। इस अन्य पदार्थ में कुछ ऐसे गुण हैं, जो जड़ पदार्थ में नहीं हो सकते। इसलिये इस को जड़ पदार्थ से भिन्न पदार्थ मानना पड़ेगा। दोनों ही के अस्तित्वका पर्याप्त प्रमाण मिलता है। वह साधारण उक्ति कहती है कि, वस्तु अक्षय है; अब हम उस उक्तिका अधिक व्यापक अर्थ करके कहेंगे, कि वस्तु ही नहीं, ये दोनों पदार्थ अविनश्वर हैं। दोनों ही के विषय में यह कहना पड़ता है, कि दोनों मुख्यतः अविनश्वर हैं; अर्थात् दोनों ही का भूत, भविष्यत् और वर्तमान में प्रधानतः एक ही रूप रहता है। दोनों ही का न आदि है न अन्त है; दोनों ही स्थिति के अधीन हैं। जड़ वस्तुमें फेरफार या रूपान्तर होता है, परन्तु चैतन्य पदार्थ में नहीं। पहला विच्छेद्य है ; उसके भिन्न-भिन्न अंश हो सकते हैं ; उसके रूप स्थूल होते हैं। दूसरे के भिन्न-भिन्न अंश या स्थूल रूप हो ही नहीं सकते। स्थान-विशेषके कारण जड़ पदार्थ का आध्यात्मिक पदार्थ पर प्रभाव पड़ सकता है और यही इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है।

जो बातें अर्जुन मान गये हैं, वहीं से १२।१३ वें श्लोकों में विवाद प्रारम्भ होता है। अर्जुन धार्मिक और अधार्मिक कार्यों में भेद मान गये हैं। उन्हें निश्चित रूप से यह भी विश्वास है कि, उन कार्योंके क्या फल होंगे। उन्हें एक उच्चतर जीवन-देवताओं के जीवन-जैसे जीवन में विश्वास है। नारकीय जीवनमें भी उन्हें उसी तरह विश्वास है। वे यह भी समझते हैं, कि समर में विजय या पराजय का होना उनकी—किंबहुना किसी मनुष्य की—इच्छा के अधीन नहीं है। अतएव, अर्जुन को निरा बुद्धिहीन सांसारिक मनु-

थ समझना भूल है। उन्हें ऊँचे दर्जेकी शिक्षा प्राप्त है। इसलिये श्रीकृष्ण गहन से गहन और उच्च से उच्च प्रश्नों को अर्जुन के सामने उपस्थित करना उचित समझते हैं। जो चीजें सर्वदा व्याप्त रहती हैं अथवा जिनके कारण ये शाश्वत नियम प्रभावित या परिवर्त्तित होते हैं। उन चीजोंकी ओर हृषीकेश अर्जुनका ध्यान आकर्षित करते हैं। १९ वें और १३ वें श्लोकों में बातें इस ढँगसे कही गयी हैं, कि उनको पढ़कर भी पाठक "अहम्" "त्वाम्" और "एतद्" तथा परिवर्तनशील शरीरको एक माननेमें अपनेको स्वतन्त्र समझ सकता है और सम्भव है, कि इनको एक मानने की भूल उसपर तुरन्त व्यक्त न हो जाय। आगे चलकर भगवान्ने कहा है—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥ इस श्लोक से स्पष्ट है कि, देह से भिन्न एक अविनाशी देही है; और दोनोंको एक मानना बड़ी भारी भूल है। हाँ, ऐसी भूल करने में लोग स्वतन्त्र हैं। कोई रोकने वाला नहीं। विचार नियन्त्रित नहीं। अपने मत की अतार्किकताकी बिना परवा किये लोग श्रीकृष्णकी पूर्वोल्लिखित सब बातों को अस्वीकार कर सकते हैं। पर ऐसे विरुद्ध और भ्रान्त मतके खण्डन की सब युक्तियाँ साङ्केतिक रूपसे दी गई हैं। कुछ युक्तियों का उल्लेख तो आगे चलकर श्रीकृष्ण ने स्पष्टतया कर दिया है। परन्तु सब युक्तियों का सार इसी एक प्रश्नमें है—क्या जिस आधार पर सब चीज़ें अवलम्बित हैं, वह आधार ही असत्य है; क्या एक ही पदार्थ—चाहे वह जड़ या चैतन्य पदार्थ हो—इन सबोंका आधार है; किसी को यह चिन्तनीय क्षति पहुँचती है? इन सब बातोंसे लोगोंका शरीर और आत्माको एक मानना भ्रान्त मालूम होता है। सूक्ष्म विचार से यह मालूम होता है कि, इस मतको मानने से कोई साध्य ही नहीं रह जाता और जब साध्य ही नहीं है, तब साध्य का साधन ढूँढ़ना निरर्थक और मरीचिका की अनुसन्धानकी तरह व्यर्थ है।

इसीलिये इन झंझटों को छोड़कर कृष्ण भगवान् प्रारम्भ में ही मुख्य निष्कर्ष को ही उपस्थित कर देते हैं। वे अर्जुन से कहते हैं, कि जीवन-मरण से बुद्धिमानों को मोह नहीं होता। जिन स्थितियों की व्याख्या कृष्ण भगवान् अभी-अभी कर चुके हैं, उनको बुद्धिमान् सत्य और आवश्यक मानते हैं। इस मतको मानने से सब पदार्थों और सब कामोंका असल अर्थ समझ में आता है। किसी दूसरे मतको मानने से भ्रम के गड्ढे में गिरना पड़ता है। सब पदार्थों, सब कामों और उनके सम्बन्धोंके असली तत्त्व का सच्चा ज्ञान होने के कारण, बुद्धिमानों को किसी सङ्कटमय अवसर पर अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में हतबुद्धि नहीं होना पड़ता। क्या धर्म है, क्या अधर्म है ; क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये; कौन-कौनसे उत्सर्ग उच्चतर उद्देश्यों की सिद्धि के लिये स्वेच्छापूर्वक करने चाहियें—इन बातों की विवेचना करनेमें प्राज्ञ लोग नहीं घबराते। इतनेमें ही मुख्य प्रश्न और उसका उत्तर सारगर्भित शब्दोंमें दे दिया गया है। आगे इसकी सविस्तर व्याख्या करने की आवश्यकता है।

(१४) बुद्धिमत्ता प्रथमतः यह देखने में है; कि हर्ष और पीड़ाके आनन्द और दुःखका अनुभव किस संघटन पर अवलम्बित है। विचार करने से यही मालूम होता है, कि अभिमान तथा विषयोंकी ओर मनके रुखही पर यह अनुभव निर्भर है। (१५) अभिमानके उन्मूलित होनेपर प्रज्ञा कई अंशोंमें उन्नत हो सकती है। इसकी उन्नति से अमरत्व प्राप्त होता है और यह प्राप्ति—यह लाभ वर्त्तमान हर्ष या सुखके तुच्छ उत्सर्गके लिये पर्याप्त प्रतिभूसे भी अधिक है। (१६) इस श्लोकमें कहा गया कि—"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" अर्थात् अधर्मसे सुख नहीं होता और धर्मसे दुःख नहीं होता। यहाँ पर इस बातसे मतलब नहीं, कि धर्म्म या अधर्मके मार्गमें कुछ तरद्दुद होता है या कुछ भी तरद्दुद नहीं होता। यहाँ पर बीचकी बातोंसे प्रयोजन नहीं, अन्तिम

फलसेही एकमात्र प्रयोजन है। इस श्लोकमें जो महान् नियम दर्शाया गया है, उससे हम लोगोंका ध्यान इस बातकी ओर आकर्षित होता है, कि बुद्धिमान् मनुष्य मुख्यतः किसी काम के स्थायी परिणामको ही कहते हैं। जो कठिनाइयाँ, जो दुःख उन कामोंके सम्पादनमें होते हैं, उनकी ओर ऐसे पुरुषोंकी दृष्टि अधिक नहीं रहती। (१७) जो कुछ सब कालमें या सब स्थानमें व्याप्त हैं, उसका नाश नहीं हो सकता। शरीर अनित्य और परिमेय है, इसलिये उसका नाश निश्चित है। शरीरधारी आत्मा स्थानबद्ध है, तोभी सब कालमें होनेके कारण वह अविनाशी है। (१८) आत्मा अपरिमेय परमात्माके सदृश है। अपरिमेय परमात्मा उसको कहते हैं, जो सब कालमें और सब स्थानमें है और जो सब उत्कर्षों और सब शक्तियोंसे सब तरह परिपूर्ण है। (i) जिन पदार्थोंसे यह सीमाबद्ध शरीर बना है उनमें, (ii) देहीमें (आत्मामें), तथा (iii) अपरिमेय परमात्मामें, निम्नलिखित अंशोंमें सादृश्य है:—

(क) मुख्यतः तीनोंही नित्य हैं।

(ख) पहला गठन या रूप-सम्बन्धी परिवर्त्तन या हेरफेरके अधीन है; दूसरा नहीं। परन्तु दोनोंही स्थान, शक्तियों और गुणोंके विषयमें सीमाबद्ध हैं।

(ग) अपरिमेय परमात्मा स्थानके विषयमें भी सीमाबद्ध नहीं। उसकी शक्तियाँ और गुण भी अपूर्ण नहीं हैं। (१९) देहकी बात छोड़ आत्माको लीजिये। यह सोचना मूर्खता है, कि आत्मा मारनेवाला है या आत्मा मारा जा सकता है। (१८) १७ वें श्लोक का "विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति" यह सिद्धान्त बहुतसी बातोंका निरीक्षण करके निकाला गया है। उन बातोंमेंसे अपरिमेय परमात्मा भी एक है। स्थूलतः वे सब बातें यह हैं— काल, स्थान, वस्तु, (Matter) आत्मा तथा परमात्मा। इनमेंसे अन्तके तीनोंका विचार तो पहले दोके सम्बन्धमें ही हो सकता है।

जैसा कि बतलाया जा चुका है, जब इन तीनोंकी विभिन्नताकी बातोंका सावधानतासे निरीक्षण किया जाय, तब मालूम हो जाता है कि, किन-किन अंशोंमें अपरिमेय परमात्मा औरोंसे भिन्न होनेका दावा करता है। क्योंकि, जहाँ अन्य दोनों देखनेसे कुछ अंशोंमें सीमाबद्ध या परिमेय मालूम होते हैं, वहाँ तीसरा अपेक्षाकृत अपरिमेय या सब अंशोंमें पूर्ण कल्पित होता है। यदि किसी शाश्वत पद्धति या नियमके कार्य-कारणकी व्याख्या सांसारिक बातों से कर दी जाय, तो इस संसारको परिमित पदार्थकी कीर्त्ति नहीं मान सकते। और विचारोंके अतिरिक्त इन विचारोंसे ही एक सर्वोपरि और सर्वांशपूर्ण कर्त्ताके अस्तित्वमें विश्वास करना पडता है। और यहाँ जान-बूझकर अपरिमेय शब्दद्वारा उसके प्रधान गुणका उल्लेख किया गया है। प्रथमतः यह देखना चाहिये कि, अपरिमेयता तो देही (आत्मा) का भी गुण हो सकती है। परन्तु देहीके सम्बन्धमें अपरिमेय शब्दका प्रयोग स्पष्टतया यह जाननेके लिये किया जाता है, कि देह और देहीमें बहुत विभिन्नता है और देही देहकी नांई नश्वर नहीं! द्वितीयत: यह देखना चाहिये कि, आत्माका उससे क्या सादृश्य है, जो सर्वथा अपरिमेय है। यही बतलानेके लिये—ऊपर कहे हुए गुणोंसे जिस सिद्धान्तका बोध होता है, उसी सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये—उस अपरिमेयका आवश्यकतावश उल्लेख करना पड़ता है; अर्थात् आत्मा शरीरकी नाईं नश्वर नहीं। वह अक्षय है और अपरिमेय परमात्माकी तरह आत्मा भी शाश्वत है। अपरिमेयका आत्माके साथ सम्बन्ध निश्चित होने पर, आत्माके लिये ईश्वरकी उपासना करनेकी आवश्यकता और युक्तिसंगतता स्पष्ट प्रकट हो जाती है।

(१९) अर्जुनके शोक करनेकी मूर्खताका स्पष्टीकरण तब हो-जाता है, जब यह बतलाया जाता है कि स्वतः या ईश्वरकी इच्छा या शक्तिसे भी आत्माका नाश सम्भव समझना भ्रान्तिमूलक सिद्धान्त

है। (२०) ये सब सिद्धान्त वेदके प्रमाण द्वारा हमें निश्चित बतलाये जाते हैं। जो श्लोक यहाँ उद्धृत किया गया है, उसमें उन तीनों पदार्थोंके गुण और पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट व्यक्त किये गये हैं। इन बातोंको स्पष्ट करनेके लिये इसके दो अर्थ किये जाते हैं। अब साधारणतः लोग यह बात समझ सकते हैं, कि जिन श्लोकों द्वारा आत्माके गुण भिन्न-भिन्न दृष्टिसे बताये गये हैं, उन श्लोकोंमें परमात्माके गुणोंका भी प्रच्छन्नरूपसे अथवा स्पष्टतया आभास पाया जाता है; क्योंकि परमात्माके गुणोंसेही आत्माके लक्षण मालूम होते हैं। (२१,२७) इन श्लोकोंमें हृषिकेश अनेक प्रकारसे आत्माके अक्षयत्व और देहके साथ उसके सम्बन्धका वर्णन कर, अर्जुनका ध्यान उनके शोक करनेकी मूर्खताकी ओर पुनः आकृष्ट करते हैं। (२८) यहाँ यह बात संक्षेपतः बतायी गयी है कि, शरीर और उसके गुणोंका आदि अव्यक्त है और अल्प जीवनके अनन्तर यह शरीर और उसके गुण फिर अव्यक्तमें ही मिल जायँगे। इस श्लोकसे भी यह बात साबित की जाती है कि, जीवन-मरणके लिये दुःखी होना मूर्खता है। (२९-३८) आत्मा अविनाशी है, इसलिये शोक करना ठीक नहीं—यह बतलाकर श्रीकृष्ण अब अर्जुनके उच्च भावोंको उद्दीप्त करना चाहते हैं। अब वे यह बतलाते हैं कि,—क्यों उन्हें लाभदायक और प्रशंसनीय कर्त्तव्यसे मुँह नहीं मोड़ना चाहिये, कैसे कर्त्तव्य नहीं करनेसे अर्जुन उपहास और दोषके भाजन बनेंगे और कैसे कर्त्तव्य करनेसे मोक्ष प्राप्त होती है। क्या जानना चाहिये, अबतक अर्जुनको यही बतलाया गया है। क्या करना चाहिये और कैसे करना चाहिये, अध्यायके अवशिष्ट अंशमें उन्हें यही बताया गया है। कर्मके बन्धनसे (कर्मके परिणामसे) मुक्त होनेके लिए, उन्हें योग या कर्मके सम्पादनका आदेश किया गया है। यह सिद्धान्त हठात् आत्माविरोधभावापन्न मालूम होता है और इस विचित्र सिद्धान्तको

सुन जिज्ञासुका ध्यान उत्तेजित्त होता और इस विषय पर जम जाता है। किसी-किसी मतसे विचार करनेसे ज्ञान ही प्रज्ञा बन जाता है। उसी तरह उद्देश्य-विशेषकी सिद्धिके लिये कर्म करनेसे ही मनुष्य अधःपतनसे बच जाता है। कभी-कभी तो वह अपनी अवस्थासे ऊपर उठ जाता है। ऐसी व्याख्या करनेसे कर्मका उपदेश विरोधभाव-रहित हो जाता है। अब आगे चलकर बताया गया है कि; बिल्कुल अकर्मण्यता आत्माके स्वभावके अनुकूल नहीं। उसके लिये अकर्मण्यता असम्भव है। आत्मा कर्म करनेके लिये स्वभाव सेही बाध्य है; पर वह निरर्थक काम नहीं करता या ऐसा भी काम नहीं करता, जिससे उसका वर्तमान दुःख बढ़ जाय; प्रत्युत, भगवान् कहते हैं कि, (४०) "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" अर्थात् यह धर्म थोड़ासा भी, उस बड़े भारी भयसे रक्षा करता है। धर्म शब्दसेही किसी उद्देश्यकी सिद्धिके निमित्त कर्म की पवित्रता संक्षेपतः प्रकट हो जाती है। किन्तु वह कौनसा उद्देश्य है? क्या यह उद्देश्य वही उद्देश्य नहीं है, जिसे लोग वेदों से समझते हैं और जिसका लोग वेदोंके प्रमाणसे अनुसरण करते हैं? ४० - ४४—श्रीकृष्ण कहते हैं, कि वास्तवमें वेद उच्चतम उद्देश्योंके निमित्तही कर्म करनेका उपदेश देते हैं, पर भोगासक्त या स्वर्गाकांक्षी लोग उनका अर्थ ठीक नहीं समझते। ४५—जिनकी रग-रगमें त्रैगुण्य भरा हुआ है, उनका उद्देश्य तो हर्ष-प्राप्ति है; पर अर्जुनसे भगवान् कहते हैं, कि तू तीन गुणोंसे अलग हो जा, अथवा इच्छासे रहित हो जा—निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्। क्योंकि जो लोग तीन गुणोंके बन्धनमें फँसे हुए हैं और जो तीन गुणोंसे रहित हैं, उन दोनोंके उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। इस-लिये उनके कर्मोंके रूप भिन्न-भिन्न हैं और उनसे फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिये श्रीकृष्ण इस बातकी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं, कि जो मनुष्य उच्चतम उद्देश्यके लिये कार्य करता है, उसे वे

अदूषित और वांछनीय लाभ भी प्राप्त हो जाते हैं, जो काम्य कर्मके द्वारा मिलनेवाले समझे जाते हैं। (देखिये वेदान्त सूत्र ३-४-१) कर्त्तव्य-सम्बन्धीय जिस महान् नियमकी व्याख्या की गई है, वह यों है,—कर्त्तव्य करो, क्योंकि कर्त्तव्य करना चाहिये; दूसरी ख्वाहिश-को स्थान न दो। यह मत विश्वास करो कि कर्मसे अकर्मण्यता श्रेष्ठतर है। ४८,—जिस योगका इस ग्रन्थमें उपदेश किया गया है, उसी योगकी इस श्लोकमें पुनः व्याख्या की गई है: तब निष्काम कर्महो योग ठहरा। ४९—५१, सब कर्मोंसे जिसकी अधिक प्रशंसा की गई है, उस उद्देश्यका तात्पर्य उस ज्ञानसे है, जिसके द्वारा मनुष्य दुःखसे शून्य उस निर्दिष्ट स्थानपर पहुँच सकता है—उस साध्यका तात्पर्य्य परमात्माके ज्ञानसे है, जो मनुष्यको उस निर्दिष्ट स्थानपर पहुँचा सकता है; और कर्म इस ज्ञान-प्राप्तिका साधन है। इससे यह स्पष्ट है, कि जो कर्त्तव्य ज्ञान तथा प्रज्ञाके लिये किये जाते हैं, वे नश्वर जीवनमें मनुष्यको बाँधनेवाले कर्म नहीं। ५२—५३ निश्चय ही ऐसे उद्देश्यका स्पष्ट ज्ञान और इसके अनुकूल कर्मकी सम्भावना तभी हो सकती है, जब वेदका पूरा-पूरा अर्थ समझमें आ जाता है और जब मनुष्यकी बुद्धि वैदिक तत्त्वोंमें लीन हो जाती है। ५४-६८ स्वभावतः अर्जुन इसके बाद एक ऐसे बुद्धिमान् पुरुषका वर्णन सुनना चाहते हैं, जिसे वह अपना आदर्श बना सकें। उत्तरमें श्रीकृष्ण प्राज्ञ पुरुषके केवल लक्षणही नहीं बतलाते, वरन् उन सीढ़ियोंको भी दिखाते हैं, जिनके द्वारा प्रज्ञा प्राप्त होती है; ताकि जिज्ञासु आरम्भ करनेकी रीति जान जाये। साथ-ही-साथ पद-पदकी कठि-नाई और हरेक कठिनाईका कारण भी बताया गया है। अन्ततः चित्तशान्तिकी एकाग्रता और ध्यान-सफलताके मार्गके पड़ाव बतलाये जाते हैं। ६९-७०—जो सब प्राणियोंकी रात है, वह मनके जीतनेवाले पुरुषोंके लिए जागनेका समय है और जो सब प्राणियोंके जागनेका समय है, वह मुनिके लिये रात है। इस ? रह श्रीकृष्ण

अर्जुनको बताते हैं, कि क्यों और किस अंशमें काम वे करते या कामसे विरत रहते हैं : किस तरह सब विषयोंके दास न होकर भी वे उनका उपभोग करते हैं। परन्तु संसारी जीव उनमें एकदम आसक्त हो जाता है। ७१-७२—अवशेषमें, जो सब प्रकारकी वासनाओंको त्याग देता है और अहङ्कारसे रहित हो जाता है, उसके सब काम और विषयोंका अनुभव सुखके बाधक नहीं होते, प्रत्युत शान्तिके वर्द्धक होते हैं। ऐसे कर्मोंके द्वारा ईश्वरीय ज्ञान और अन्त तक ईश्वरमें पूर्ण विश्वास यही दोनों उन तक पहुंचनेकी प्रधान सीढ़ियाँ हैं।

सांख्य, ज्ञानको कहते हैं। योग, कर्म करनेको कहते हैं। जिस ज्ञान और कर्मकी विवेचना सम्पूर्ण गीतामें की गई है, वही यहाँ दिखाये गये हैं। इसीलिये इस अध्यायका शीर्षक सांख्ययोग रक्खा गया है।

अखीरमें अर्जुनको कर्म करनेका आदेश दिया जाता है। कर्म करनेका नतीजा ज्ञानकी प्राप्ति है। परन्तु कर्म ज्ञानसे नीचा है; ज्ञान बहुत उत्कृष्ट साधन है [२ रा अध्याय श्लोक ४९] इसलिये उत्कृष्ट और सुविधाजनक साधन अर्थात् ज्ञानको ही चुननेकी इच्छा लोगोंको स्वभावतः होती है। अर्जुनको भी इच्छा ऐसी ही है। जबतक ज्ञान और कर्मका घनिष्ट सम्बन्ध दिखलाया न जायगा,

तबतक कर्म करनेमें वे सम्मत नहीं होंगे। १-२—इसीलिये वे ये प्रश्न करते हैं। ३—४ श्रीकृष्ण कहते हैं, कि ज्ञान और कर्म दोनों मुक्तिके साधन हैं। दोनोंमेंसे कोई एक अकेला पर्याप्त नहीं। कर्म और ज्ञान दोनों साथ-साथ करनेसे मुक्ति होती है। कर्म और ज्ञानका विभाग दोनोंमेंसे एकको अधिक-मात्रापर निर्भर है। जिनमें ज्ञानकी मात्रा अधिक है, वे सांख्य हैं; जिनमें कर्मकी मात्रा अधिक है, वे योगी हैं। अतएव पहली बात जो ध्यानमें अवश्य रखनी चाहिये, वह यह है कि, केवल अकर्मण्यतासे अथवा कर्मको छोड़ देनेसे मनुष्य कर्मके बन्धनोंसे रिहाई नहीं पा सकता। ५ असलमें कर्मण्यता आत्मामें स्वभावतः भरी हुई है और कुछ ऐसी शक्तियाँ जिनपर उसका अधिकार नहीं, आत्माको कुछ न कुछ करते रहनेके लिये बाध्य करती हैं। ६, मनुष्यका मन निरन्तर कर्ममें संलग्न रहता है: मन मनुष्यको काम करनेके लिये उत्तेजित करता रहता है। जो कुछ मन करता है, उसके फल आदमीको भोगने पड़ते हैं। मन हमेशा काममें लगा रहता है; इसलिये कर्मेन्द्रियोंको वशमें करके अपनेको कर्मसे मुक्त बताना पाखण्ड-मात्र है। ७ मन और इन्द्रियोंको पाप और बुरे मार्गमें लगनेसे रोकना और शुद्ध भावोंके वशीभूत होकर कर्म करनेकी चेष्टा करनाही उत्तम बात है। ८ हे अर्जुन! इसलिये तुम अपना कर्त्तव्य करो। ९ सच बात तो यह है, कि जो काम ईश्वरको खुश करनेके निमित्त किया जाता है, वह बन्धनका कारण नहीं हो सकता। १०—१६—कर्मण्यता और कर्त्तव्य सब चीज़ों या जीवोंके—नीच-से-नीच और उच्च-से-उच्च चीज़ों या जीवोंके—घनिष्ट और आन्तरिक सम्बन्धके स्पष्ट फल-स्वरूप हैं।

क्योंकि कोई चीज़ अनियमित या असम्बद्ध या विशृङ्खल रूपसे अपना प्रभाव दूसरी चीज़पर नहीं डाल सकती। इसलिये इन सम्बन्धोंको ठीक-ठीक समझना चाहिये और याद रखना चाहिये,

ताकि जो पद्धति या नियम उन सम्बन्धोंपर अवलम्बित है, उस पद्धति या नियममें कोई गड़बड़ उपस्थित न हो। देवताओं और मनुष्यों के, स्वर्ग और पृथ्वीके बीच जो सम्बन्ध साधारणतः देखे जाते हैं, उन सम्बन्धोंपर विचार करनेसे इन बातोंकी सत्यता स्पष्ट हो जाती है। १७—कर्म या कर्त्तव्य हमेशा उद्देश्यका एक साधन रहता है। इस-लिये कर्मण्यताको बिल्कुल स्थगित रखना शायद उसी व्यक्तिके लिये सम्भव है, जो आत्माके प्रगाढ़ ध्यानमें मग्न रहता है; यानी आत्म-स्वरूपमें ही आनन्द मानता है। यह दशा वास्तवमें आत्माके लिये अकर्मण्यता नहीं; परन्तु वह सच्चे मार्गपर मुख्यतः कर्मण्यता दिखा रहा है। १८ ऐसी अवस्थामें लानेके लिये, ऐसी वस्तुसे सम्मुखीन करनेके लिये ही आत्माको अन्य कर्मों के करने का आदेश किया गया है। जब आत्मा इस अवस्थामें आ जाय, तब हम नहीं कह सकते, कि उसने कर्म करना छोड़ दिया है या वह कर्म करनेके लाभ से वञ्चित हो गया है। जब यह बात उस व्यक्ति के विषय में सत्य है, जिसने नश्वर शरीर में रहकर भी, ईश्वर को पहिचान लिया है और जो उसके आनन्ददायक तेजके ध्यानमें तल्लीन है तब जिसने परम पद पाया है, उसके विषय में तो यह बात अवश्य ही पूर्णतया ठीक होगी। अन्य सब दशाओं में कर्म करना ही ठीक है। १९— इसी तरह श्रीकृष्ण अर्जुनको बतलाते हैं, कि जो काम अभी अर्जुनको करने के लिये कहा गया है; कामनासे रहित होकर करने पर वह काम मुक्तिका बाधक नहीं हो सकता। २०—२४ ज्ञान प्राप्त करने पर भी जनक इत्यादि प्रसिद्ध नृपतियों और मुनियोंने कर्म करना नहीं छोड़ दिया। बल्कि ज्ञानी पुरुषके लिये आवश्यक है, कि वह कर्म करता जाय; क्योंकि ऐसे ही पुरुषको संसार अपना आदर्श बना-ता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, कि देखो, अर्जुन! यद्यपि ऐसा कोई काम नहीं है, जो मुझे करना चाहिये; तथापि संसारको कर्म करनेका उदाहरण दिखाने के लिये ही मैं नित्य और निरन्तर कर्म किया

करता हूँ। २५।२६—ज्ञानी पुरुष कर्म के सुफल की परवा भले ही न करे और यद्यपि वह मुख्यतः लोक संग्रहके लिये कर्म करता है, तथापि उसे अपने कर्त्तव्य-सम्पादन में पूरा उत्साह और कर्म की उपयोगितामें यथेष्ट विश्वास दिखाना चाहिये, ताकि उसके ये भाव लोगों पर स्पष्ट विदित हो जायँ। यदि वह ऐसा उत्साह और विश्वास न दिखावे, तो उसके कार्य अनुवर्त्तनीय नहीं होंगे। ज्ञानयोगी मनुष्य को आत्मज्ञान का उपदेश देकर मूर्खोंके भावों और विचारों को बदलनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे मूर्खों का विश्वास धर्म से हट जा सकता है। जिस कामना को छोड़ने की आवश्यकता है, वह कामना कई भ्रान्त विचारोंके कारण पैदा होती है। वह भ्रान्त विचार ये हैं—

१—आत्मा स्वतन्त्र कर्त्ता है।

२—आत्माको काम करने के लिये बाध्य करने वाली दूसरी कोई शक्तियाँ नहीं हैं।

२८—परन्तु ज्ञानी पुरुष सत्य को देखते हैं, कारणोंको जानते हैं, और कामनासे मुक्त हो जाते हैं। २८।३० कामना का परित्याग करना, संसारके लिये आदर्श बनना और कर्त्तव्यके अनुरोध से आत्मा में चित्त लगाकर युद्ध करना—इन्हीं तीन बातों को अर्जुन के चित्तपर अङ्कित करने की चेष्टा की गई है। इस उपदेश की खूबी यह है, कि जो बातें मोक्ष और ज्ञानकी प्राप्ति के अनुकूल नहीं, वह नहीं सिखायी जातीं। जो इस उपदेश की अवहेलना करते हैं, वे अधःपतित हो जाते हैं। किसी बात या किसी नियम को समझ लेनेसे ही चिरस्थित बुरी प्रवृत्तियोंको दमन करने की शक्ति नहीं आ जाती। साधारणतः ये मनोवृत्तियाँ इतनी बलवती होती हैं, कि मनुष्य उनको दमन नहीं कर सकता। इसलिये मनुष्य को सब भ्रमों और बुरी मनोवृत्तियों को जड़को जान लेना चाहिये और उनको दमन करने के लिये सिरतोड़ परिश्रम करना चाहिये; तब

कहीं उनको दमन करने की और उनसे छुटकारा पाने की आशा हो सकती है। ऐसी दशामें पहली बात तो यह है, कि वह अपने कर्त्तव्य पर डटा रहे और अपने कर्त्तव्य को करता जाय। इसके बाद उसे आधा ही काम बाक़ी रह जाता है; यानी मानसिक प्रवृत्ति-को दमन करना। ३६—सब बुरी मनोवृत्तियों की प्रधान और मुख्य जड़ क्या है? ३७—कामही सबकी प्रधान जड़ है। ३८—आत्माकी आँखोंसे ज्ञानको ढक रखने की, और आत्माको बुरे मार्गमें ले जाने की काममें बहुत शक्ति है। परन्तु आत्मा की स्वभाविक प्रवृत्तिके अनुसार यह शक्ति अधिक या कम होती है। ज्ञान या विद्वत्ता अकेली इसकी शक्तिको—इसकी सर्वस्वदहनकारी शक्तिको—नहीं रोक सकती। ४०।४१—'इच्छा' हरेक इन्द्रियमें—मन और बुद्धिमें—रहती है और हरेक इन्द्रियको अपने वशमें किये हुए है। हरेक स्थान से "इच्छा" को भगाना चाहिये। किन्तु पहले इन्द्रियोंको रोकना शुरू करना चाहिये, उसके अनन्तर काम को मार डालना चाहिये। ४२।४३—इस विजय की सम्भावना उपनिषद् में वर्णित ज्ञानपर—इन्द्रियों द्वारा काम करनेवाली उच्चतर शक्तियोंके ज्ञानपर—अवलम्बित है।

इन शक्तियों से सहायता लेनी चाहिये। विशेषत: जब इन्द्रियों पर शासन करने वाले और इन्द्रियों को वशमें रखने वाली शक्तियों पर भी शासन करने वाले आत्मा का ध्यान किया जाता है, तब इस वांछित विजय की प्राप्ति सहल हो जाती है। इस अध्यायमें कर्म ही ज्ञान और मोक्षका साधन बताया गया है। कर्म प्रारम्भ करने का ढँग भी इस अध्याय में बताया गया है।

चौथा अध्याय।

यह दिखाया गया है, कि जब परमात्माके ज्ञान द्वारा काम उन्मूलित कर दिया जाय, तभी कर्मयोग अथवा निष्काम कर्मकी सम्भावना हो सकती है। १—३ श्रीकृष्ण अब अर्जुनसे कहते हैं, कि प्राचीन कालमें विवस्वन, मनु, इच्वाकु, निमि तथा अन्य नृपतियों और मुनियों ने इस पथका अवलम्बन किया था, मैंने तुम्हें कोई नई बात नहीं बताई है। प्राचीन कालमें "मैंने सूर्यको सिखाया" और "अब यह तुम्हें सिखाया जाती है" ये वाक्य अर्जुनके चित्तमें एक सवाल पैदा करने के लिये ही कहे गये हैं। अर्जुनके चित्तमें एक प्रश्न उठता है और वह पूछ बैठते हैं कि, (४) हे कृष्ण! सूर्यका जन्म पहले हुआ था और आपका जन्म अब हुआ है; कहिये, मैं किस तरह समझूँ, कि आपने यह कर्मयोग शुरूमें सूर्यसे कहा था? उत्तरमें (५—१२) अपरिमेय अथवा परमात्मामें और नश्वर शरीरमें रहने वाले आत्मामें भेद बताया गया है। परमात्मा प्रकृति और आत्मा दोनोंका शासक है; परन्तु त्रैगुण्यके बलसे प्रकृति आत्माको वशमें कर लेती है। इसलिये परमात्मा संसार को सच्चा मार्ग दिखानेके लिये अवतार लेता है। और जब आत्मा उस पथका सच्चे दिलसे अनुसरण करता है, तब उसे मुक्ति या परमपद प्राप्त हो जाता है। परमात्मा का ज्ञान और उसकी कृपा मोक्षके मुख्य साधन हैं और परमात्मा भिन्न-भिन्न पुरुषों को उनके काम करनेके उद्देश्य तथा उनकी बुद्धिके अनुसार भिन्न-भिन्न फल प्रदान करता है। १३—१५ परमात्मा सबका निर्माता है और शाश्वत है तथा आत्मा

की तरह परमात्मा इसी कारण कर्मके अधीन नहीं—इस बातका ज्ञान प्राचीन कालमें भी कर्त्तव्य पालनके लिये पहली सीढ़ी समझा जाता था। इसलिये श्रीकृष्ण अर्जुन तथा अन्य उपासकों को यही उपदेश देते हैं।

१९—३२—शरीरसे भिन्न, आत्मा मुख्यत: एक काम करने वाली चीज़ या कर्त्ता मालूम पड़ता है; तोभी उसके काम अकारण मालूम होते हैं और उन कामों को देखकर अर्जुन की बुद्धि चक्कर खाने लगती है। कुछ काम अच्छे होते हैं, कुछ बुरे होते हैं, इसका अर्जुनको अस्पष्ट ज्ञान है। कभी-कभी वह सोचने लगते हैं, कि अकर्मण्यतासे ही सब कठिनाइयाँ हल हो जा सकती हैं। सब कर्मण्यताकी जड़, कर्मण्यता का सच्चा रूप, अकर्म अथवा सब काम छोड़ देने की उपयोगिता या इसकी अनुपयोगिता—यह कुछ भी अर्जुन ठीक-ठीक नहीं समझते। इसलिये इसी बात पर अर्जुन का ध्यान आकृष्ट किया जाता है। उनको बतलाया जाता है, कि परमात्मा सब कर्मण्यता की प्रधान जड़ है; अतएव इस कर्मण्यताको ठीक-ठीक समझना बहुत कठिन है। इसको ठीक-ठीक समझ लेनेपर मनुष्य कामनाको छोड़ कर कर्त्तव्य कर सकता है और पहलेके किये हुए कर्मोंके बुरे नतीजेसे छुटकारा पानेके योग्य बन सकता है। जब इस ज्ञानको वह अपना पथप्रदर्शक बनाता है, तब उसका दैहिक कर्म और कर्मण्यता पापप्रसविनी नहीं हो सकती। ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेपर, वह जो कुछ उसके भाग्यमें रहता है; उसीसे सन्तुष्ट रहता है और हर्ष और दुःख किसी वासनासे अभिभूत नहीं होता। कालक्रमसे ज्ञान प्रगाढ़ होता है और वह समझने लगता है कि, "ब्रह्म ही अर्पण है; ब्रह्मही हवि है; ब्रह्मही अग्नि है; ब्रह्मही हवन है और ब्रह्मही समाधियुक्त कर्म है" अर्थात् वह समझने लगता है, कि ब्रह्मही सब कर्मण्यताका मूल और सब कर्मण्यताका सञ्चालक है।

२५—३३ वस्तुयें, विचार और कर्म सब संसारके स्वामी परमात्माको अर्पित किये जाते हैं। ऐसा करना परमात्माकी पूजा करना है। सब तरहकी पूजाओंमें, उसको ठीक-ठीक पहचानना और उसको स्पष्ट अपनी आँखों देखनाही परमात्माको सबसे अधिक सन्तुष्ट करनेवाली पूजा है। और वस्तुतः, अनेक प्रकारके यज्ञ या पूजायें परमात्माको तभी स्वीकार हो सकती हैं, जब उपासकको उसकी प्रभा तथा सब पदार्थोंके असली तत्त्वका ज्ञान हो।

३४—४२ शेषमें, श्रीकृष्ण ज्ञानकी शक्तिका—विशेषतः कर्मको मोक्षका एक साधन बनानेके लिये ज्ञानकी शक्तिका स्पष्ट वर्णन करते हैं। ये सब बातें बताकर, श्रीकृष्ण अर्जुनको क्षात्रधर्मानुसार श्रद्धापूर्वक अपना कर्त्तव्य करनेके लिये उत्तेजित करते हैं। इस अध्यायमें ज्ञान-योगका उपदेश दिया गया है। कर्मकी जड़ क्या है, कर्मका स्वरूप क्या है, और किस तरह ज्ञानके द्वारा कर्मका स्वरूप और उसके फल बदल जाते हैं—इन्हीं सब बातोंका इसमें समावेश किया गया है।
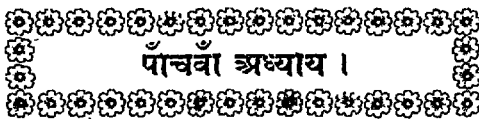
पाँचवाँ अध्याय।

दार्शनिक विचारशील पुरुष और आलसी संसारी जीव दोनोंको अकर्मण्यता प्रिय मालूम पड़ती है। त्याग और उसके महत्त्वकी बात सुनकर अर्जुन घबरा उठते हैं। उनको दोनोंमें जो अच्छा हो वही चाहिये—त्याग अथवा कर्म; अतएव जो श्रेष्ठतर हो, उसीके विषयमें निश्चितरूपसे कहनेके लिये वे श्रीकृष्णसे प्रार्थना करते हैं। श्रीकृष्णकी व्याख्या यों है—यहाँ

पर त्याग या संन्यासका अर्थ सब कर्मोंको छोड़ देना और अकर्मण्यताका आश्रय लेना नहीं है। अगर संन्यासका तात्पर्य्य यह होता, तो संन्यासयोग, जैसा कि अध्यायका नाम रखा गया है, स्वयं स्पष्टतः आत्मविरोधभावापन्न हो जाता। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि संन्यासी वह है जो न घृणा करता है, न प्रेम करता है; वह नहीं, जो कर्त्तव्योंका परित्याग कर देता है। आगे चल कर दिखाया गया है, कि जो काम किसी मतलबसे किये जाते हैं अथवा जो कार्य कामको प्रेरणासे किये जाते हैं, उनका छोड़ना भी संन्यास है। ४—यह समझना बड़ा भारी भ्रम है कि, कर्त्तव्य या कर्म, ज्ञान-प्राप्तिकी रुकावटें हैं और उनको छोड़ देनेसे ज्ञानकी प्राप्तिमें सुविधा होती है। इसलिये श्रीकृष्ण कहते हैं कि, जो ज्ञान या कर्म—किसी एकके मार्गपर ठीक तरहसे चलता है, उसे दोनों के फल उपलब्ध होते हैं,—अर्थात् कर्त्तव्यपालन बिना ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। ज्ञान बिना कर्त्तव्य करनेसे कोई लाभ नहीं होता, और कामनासे रहित होकर कर्त्तव्यके सम्पादनमें ज्ञान या प्रज्ञाकी झलक आये बिना रह नहीं सकती। हम लोगोंको इसलिये समझ रखना चाहिये, कि यहाँ पर जिस योगका उपदेश दिया गया है, उस योगका तात्पर्य्य परमात्मा तथा उसके अधीनस्थ सब पदार्थोंका सच्चा ज्ञान प्राप्त करके कर्त्तव्य करनेसे ही है। इसलिये, रास्ते भले ही भिन्न भिन्न हों, परन्तु यह योग और यह ज्ञान किसी विशेष वर्ण या आश्रमके लिये ही नहीं है, प्रत्युत, हर एक मनुष्यको दोनों प्राप्त होने चाहिये'। फिर भी; कर्त्तव्यका परित्याग करना स्वयं कोई गुण नहीं हो सकता; यदि ऐसा होता, तो प्रत्येक आलसी मनुष्य भारी धर्मात्मा होनेका दावा कर सकता। समूचे वार्त्तालाप का उद्देश्य यही दिखानेका है, कि कर्त्तव्य परित्याग करना योगका एक चिह्नमात्र है। ७—ऐसा ही योग आत्माके द्वारा काम करनेवाले परमात्माके पहचानने

का साधन है। ऐसा ही कर्म संसारके बन्धनोंको सुदृढ़ करनेके बदले मनुष्यका परित्राण करता है। यहाँ पर दी हुई व्यवस्थाके अनुसार, यदि वह निरन्तर धैर्य्य-पूर्वक काम करता जाय, तो उसे सत्यका ज्ञान हो जाता है; वह यह समझ जाता है, कि अपने बीचमें रहनेवाले आत्मापर बिना प्रभाव डाले, इन्द्रियाँ विषयोंमें जा सकती है अथवा विषयोंका इन्द्रियोंके साथ सम्पर्क हो सकता है; प्राथमिक अवस्थामें, उसे अपनी सीमाबद्ध प्रकृतिका तथा परमात्माके शासनका ज्ञान हो जाता है। इस ज्ञानकी सहायतासे, कर्मोंसे अनिष्टका होना बन्द हो जाता है। अतएव योगी लोग शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे अथवा शुद्ध इन्द्रियोंसे कर्म करना नहीं छोड़ते। पूर्वोक्त साधनों द्वारा जो कर्म योगमें नहीं परिणत किया जाय, वही कर्म मूर्खोंका कर्म है और बन्धनका हेतु होता है।

३०—जब संन्यास अथवा अभिमान का परित्याग सम्भव है, तब आत्मा शरीरमें रहकर भी सुखी हो सकता है। उसको समझना चाहिये, कि वह न स्वतन्त्र कर्त्ता है न दूसरे के कर्मोंका सञ्चालक है; उसके अपने कर्मोंके फलपर अधिकार नहीं और यह सब कुछ परमात्माके अख़्तियारमें है। जिस अज्ञानसे आत्मा परिवृत है, उस अज्ञानको दमन करनेमें केवल यही ज्ञान काम आता है; इसके अनन्तर जब प्रज्ञा प्राप्त होती है, तब वह सर्वत्र और सब पदार्थोंमें एक ही परमात्माको देखता है और उसीका ध्यान करता है। इस अवस्थामें अन्तिम मुक्ति बहुधा प्राप्त हो जा सकती है; कम-से-कम मुक्तिका निश्चय प्राप्त होना स्पष्ट हो जाता है।

२०—२९ पूर्वोक्त सत्यके ज्ञानको और दर्शनकी सहायतासे भिन्न-भिन्न कर्मों और अनुभवोंके मध्यमें अनुद्विग्न रहना संन्यासका दूसरा पहलू है। ध्यानयोग—हरेक दृष्टिसे और हरेक सम्बन्धमें, परमात्माका ध्यानके पूर्ववर्त्ती होनेके कारण, इस अवस्थाका उल्लेख और वर्णन यहीं पर किया गया है और उसी अवस्थामें सच्चा सुख

है। अल्प समय में आत्मा ब्रह्मके समचही अक्षय सुखका अनुभव करेगा– इस बातका इससे बढ़कर सुदृढ़ निश्चय ही क्या हो सकता है? जिस व्यवस्थाका इस अध्यायमें उपदेश दिया गया है, उसका संक्षेपतः वर्णन यों हो सकता है। उसका मन उसके अधीन हो जाता है, अधिक उदार हो जाता है और सब जीवोंकी भलाई चाहता है; उसके सन्देह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, उसके पाप नाश हो जाते हैं; और वह ब्रह्म-निर्वाणको पाता है। ये सब करनेके अनन्तर ही, वह इन्द्रियोंको बाहरी चीज़ोंसे हटा सकता है, प्राण और अपानवायुको अपने अधीन कर सकता है और तब एकाग्रचित्त होकर मनको परमात्मामें लगा सकता है। जब वह इस प्रकार परमात्माको देख लेता है; तब उसे शान्ति मिल जाती है। यही अभिवचन है और यहाँ उसका निश्चय कराया गया है।

छठा अध्याय।

जैसा ऊपर समझाया गया है—जो योगी, अपनेको बिना सर्वशक्तिमान् समझे और कर्म-फलोंकी इच्छा त्याग करके कर्त्तव्य करता है, वह योगी ही संन्यासी है। जो अग्निहोत्र और अपने कर्त्तव्य-कर्म नहीं करता, वह किसी तरह संन्यासी नहीं कहा जा सकता। जैसा यहाँपर बताया गया है, वैसा संन्यासी बननेका पहला शीघ्रभावी फल यह होता है, कि वह प्रगाढ़ ध्यानकी दूसरी अवस्थामें प्रवेश करने के योग्य बन जाता है। इसलिये कहा जाता है, कि कर्त्तव्यका सम्पादन उसे ध्यानके योग्य बनता है और ध्यानके द्वारा ईश्वरका तत्क्षण दर्शन हो

जाता है। जो त्याग, प्रारम्भ करनेवाला पुरुष और साधक बहुत परिश्रमसे कर सकता है, जो ईश्वर का दर्शन कर लेता है उसमें वह त्याग एक स्वाभाविक वृत्ति हो जाती है। यदि मन विषयोंसे रोक लिया जाय और इन्द्रियोंके वेग से मुक्त हो जाय, यदि यह ईश्वरके ध्यानमें पूर्णतया लगाया जाय और ईश्वरकी अनुकम्पा गृहीत हो जाय, तो समझ लेना चाहिये कि मोक्षका मार्ग साफ होगया अथवा यथार्थमें मोक्ष मिल गयी। किन्तु, वही मन, जब ऐसा वशवर्ती नहीं हो, तब आत्माके नाशका मार्ग तैयार करता है। ६—१४ मनको वशमें लानेका क्रम संक्षेपतः यह है—(१) देहके भीतर या बाहरकी अन्य चीज़ों या कारणोंसे होनेवाले अनुभवोंके मध्यमें अनुद्विग्न रहना (२) इच्छाओंको छोड़ना (३) संसारके कोलाहलसे दूर हट कर, किसी रमणीक और पवित्र स्थानमें वास करना (४) ध्यान करनेके लिये सबसे उत्कृष्ट आसन का अभ्यास डालना (५) शुद्धाचारसे जीवन व्यतीत करना। जब ध्यान बराबर किया जाता है और प्रगाढ़ हो जाता है, तब ईश्वर उसे दर्शन देते हैं; और उस दर्शनके प्रतापसे उसका नश्वर शरीर उसकी असली प्रकृतिपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता और वह ईश्वरकी तेजोमय उपस्थितिमें अक्षय और सुखमय जीवनके योग्य बन जाता है। खाने-पीने, सोने-जागनेके विषयमें नित्यके व्यवहारों को ठीक रखना भी मन तथा इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये बहुत महत्वकी बात है। प्रारम्भमें मनसे, जिसको हम लोग ईश्वरमें लगाना चाहते हैं, इच्छाओंको निकाल फेंकना बहुत परिश्रमका काम है; पर अन्तमें मन इच्छाओंको आश्रय भी नहीं देता। जो सब तरहकी कामनाओंसे शून्य हो जाता है, वह मन पवन-रहित स्थानमें दीपकके सामान मालूम होता है। इस उपमा का आशय यह है, कि जिस तरह दीपक तभी तक दीपक रहता है उसी तरह मन भी तभी तक वर्त्तमान रहता है या रह सकता है,

जब तक वह चीजोंको प्रकाशित कर सके; अर्थात्, यद्यपि मन दूसरी चीज़ोंके विषयमें चिन्तन करना बन्द कर दे सकता है; तथापि उसे परमात्माके ध्यानमें स्वभावतः आनन्दमें मग्न रहना चाहिये। ऐसे ही मानसिक संयमका अभ्यास डालनेके लिये यहांपर आदेश दिया गया है। ऐसा संयम योगसे प्राप्त होता है। ऐसी मानसिक अवस्था शनैः शनैः प्राप्त होती है—पहले इच्छाओंको ही रोकनेसे, उसके बाद इन्द्रियोंको और अन्तमें मनको रोकनेसे। परन्तु साथ-ही-साथ मनको परमात्माका ध्यान करनेका अभ्यास डालना चाहिये, यह बात इस तरह बारबार दुहराई गई है। दुहराने का मतलब इस बातपर ज़ोर देनेका है, कि परिणाममें तथा उसके देनेवाले परमात्मामें विश्वास रखकर बहुत दिन तक लगातार अभ्यास और असाधारण प्रयत्न बिना मनका निग्रह पूरा नहीं हो सकता। अभ्यासके समय ही जिस सुखमय शान्तिका वह अनुभव करता है, उसीसे इस मार्ग के सच्चे और श्रद्धावान अनुगामीको अन्तमें परम-पदका पाना निश्चित प्रतीत होने लगता है।

२८—३२ मनको सब पदार्थोंमें और सब स्थानोंमें एक परमात्माका ध्यान करना चाहिये, ताकि परमात्मा और आत्माका अविच्छेद्य सम्बन्ध खूब समझमें आजाय। तब हर्ष और शोकका, जो बाहरी संसर्गोंके परिणाम हैं, उसके ऊपर कुछ असर नहीं होता। ३३—३६ परन्तु अर्जुन सोचते हैं, कि मन अतीव चञ्चल है; उसको रोकना अथवा उसको स्थिर रखना असम्भव है। श्रीकृष्ण कहते हैं—कि अभ्यासका बल आश्चर्यजनक है और इसका परिणाम देखकर आदमी आश्चर्यचकित हो जाता है। अभ्याससे मन को वशमें करना सम्भव है। जैसा कि कई बार दिखाया गया है; मनको भूखों मारनेसे निग्रह करनेकी आशा नहीं की जा सकती। मनको उचित भोजन देना चाहिये; अर्थात् उसे एक परमात्माके ध्यानमें मग्न होना सिखाना चाहिये। और इसके लिये निग्रह या

दूसरी चीज़ोंसे मनका हटाना एक गौण साधन है। ३७—४७ अन्तमें, श्रीकृष्ण कहते हैं—कि यह ज़रूरी नहीं कि, किसी व्यक्तिका परिश्रम एवा, और उसी जन्ममें पूर्णतया सफलीभूत हो जाय ; तोभी योगका प्रारम्भ करना और कुछ अभ्यास करना व्यर्थ नहीं जाता। बीचमें बन्द होनेपर भी, वह योग आत्माकी एक स्थायी वृत्ति हो जाता है। उसीकी बलसे उसे अगले जन्ममें सुयोग मिल जाता है। सुयोग मिलनेपर पूर्वजन्मकी अभ्यास की हुई ब्रह्म-विद्या ताज़ी हो जाती है और निश्चय ही और बलपूर्वक उसको इस महान् कार्यकी सिद्धिके लिये प्रेरित करती है। इसीलिये अब शेषमें श्रीकृष्ण कहते हैं,—कि सब योगियोंमें मैं उस योगीको उत्तम समझता हूँ, जो श्रद्धापूर्वक मुझमें दृढ़तासे चित्त और हृदय लगाकर, मुझको भजता है। इसी तरह मनको इन्द्रियोंकी अधीनतासे तथा अपनी इच्छाओंसे मुक्त करनेकी आवश्यकता है—और संयम अथवा आत्माकी आत्मामें लगानेसे ही यह बात सम्भव हो सकती है। इस-लिये यह अध्याय आत्मसंयम-योगकी शिक्षा देता है।

सातवाँ अध्याय।

यह दिखाया गया है, कि मनको वशमें करनेकी सम्भावना उसके लिये प्रयत्न करनेपरही अवलम्बित है। यदि मनको नयी-नयी चीज़ोंके ढूँढ़ने और उनका ध्यान करनेकी बारंबार उत्कण्ठा होती है, तो श्रीकृष्ण कहते हैं ; कि परमात्माकी कीर्त्ति अनन्त और सर्वत्र है और हरेक वस्तुका ध्यान करनेसे उसकी महिमा प्रकट होती है। पहले यह दिखाया गया है कि,

जड़ वस्तु और शरीरमें रहनेवाला और शरीरसे मुक्त आत्मा अर्थात् आठ प्रकारकी अपरा-प्रकृति और संसारको धारण करनेवाली परा-प्रकृति--सब एकमात्र परमात्माके अधीन हैं। और परमात्माही सब अवस्थाओंमें सब चीज़ोंका व्यक्त और अव्यक्त कारण है। प्रारम्भ में इन बातोंका ज्ञान प्राप्त कर लेनेकी आवश्यकता है। ८-११,—वही हरेक पदार्थके तत्त्व, शक्तियों और गुणोंका शासक और स्वामी है—यही बात खूब अच्छी तरह बताकर विज्ञान अर्थात् परमात्मा की कीर्त्तिका सूक्ष्मतर ज्ञान प्राप्त कराया जाता है। १२,—भगवान् कहते हैं, कि सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी—सब भावोंको मुझसे ही पैदा हुए जान; वे मुझमें हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। अर्थात् हरेक तरहसे वे भाव परमात्माके अधीन हैं; परमात्मा का उनपर पूरा अधिकार है; परन्तु उनका परमात्मापर किसी तरहका अधिकार या प्रभाव नहीं। यदि हम परमात्माको सर्वोपरि स्वामी मानें, तो विवश होकर इसी मतको मानना पड़ेगा। और चीज़ोंके तत्त्वों और गुणोंको और परमात्माको एक माननेकी भूल न करनेके लिए यहाँपर स्पष्ट चेतावनी दी गई है। १३-१४—दूसरी ओर, आत्माओंको तीन गुणोंने और उनकी अधिष्ठात्री देवी चेतन-प्रकृतिने जकड़ लिया है; और परमात्माकी दया बिना इस शक्तिके दमन करनेमें आत्मा समर्थ नहीं हो सकता। १५-१८,—कुछ मनुष्य तो परमात्माकी शरण लेते हैं; परन्तु कुछ नहीं लेते। श्रीकृष्ण कहते हैं कि, जो मेरी शरण लेते हैं, उन सबोंके भी मेरी शरण लेनेका उद्देश्य एक ही नहीं होता। कुछ लोग किसी विशेष विपत्तिसे छुटकारा पानेको लिये मेरी सहायता चाहते हैं; कुछ ज्ञानके निमित्त; कुछ धन-प्राप्तिकी कामनासे; परन्तु कुछ लोग, जो बुद्धिमान हैं, मेरे लिए ही मेरी खोज करते हैं। ऐसा ज्ञानी मुझे सबसे प्यारा है और वह निश्चयही परमपद पावेगा; अर्थात् मेरे समस्त अक्षय सुखका उपभोग करेगा। परन्तु ऐसे ज्ञानी बहुत कम नज़र आते हैं।

२०—२३.—बाकी लोग अपने स्वभावके अनुकूल ख़ास-ख़ास इच्छाओंके अधीन होकर काम करते हैं। अपनी अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये जिन देवताओंकी वे उपासना करते हैं, उन देवताओं को वे पा लेते हैं। परमात्मा इनके विश्वासको छिन्न-भिन्न नहीं करते। क्योंकि उन्हें संसारको यह नियम समझाना और दिखाना है, कि इच्छा, विश्वास-साधन, उपासना, और जो उद्देश्य सफल होता है वह उद्देश्य, सब एक दूसरे के अनुकूल होते हैं तथा वे उपासकके स्वभावके अनुसार होते हैं। ऐसे उपासकोंको जो फल मिलते हैं, वे अवश्य ही नाशवान् होते हैं। परन्तु जो स्वयं परमात्माकी उपासना करते हैं, वे उन्हींके पास चले जाते हैं। अन्तमें, श्रीकृष्ण बताते हैं कि, किस तरह लोग, अपनी प्रकृतिके भुलावेमें पड़कर और तीन गुणोंके वशीभूत होकर, परमात्माके सच्चे रूपको नहीं पहचान सकते। वे अपनी ही तरह परमात्माको भी विकारके अधीन समझते हैं। पुण्य-कर्मोंके करनेसे, परमात्मामें विश्वास करने से और परमात्माकी उपसना करनेसे ही उनलोगोंका यह मोह मिट सकता है। विश्वसंसारके संचालन-सम्बन्धी परमात्माकी अनन्त कीर्त्तिके अधिक सूक्ष्म ज्ञानके लिये वह उपासक योग्य बन जाता है।

इसी तरह परमात्माकी महिमा का साधारण तौर पर उल्लेख किया गया है। इस अध्यायमें उसकी महिमाका सविस्तर वर्णन भी किया गया है और अधिक वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा भी की गयी है। ऐसा ज्ञान उसकी कृपा प्राप्त करनेका साधन अर्थात् योग है। इसलिये इस अध्यायका नाम ज्ञान-विज्ञान-योग है।

आठवाँ अध्याय।

गत अध्यायमें, तत्वों और उनके द्वारा काम करनेवाली परमात्माकी शक्तिका संक्षिप्त वर्णन दिया गया है। अध्यायके अन्तमें कुछ ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया गया है, जिनके विषयमें यह बात भी कही गयी है कि, उन शब्दों द्वारा जिन वस्तुओंका बोध होता है, उन वस्तुओंका ज्ञान सर्वसक्तिमान् परमात्माकी प्रकृतिको ठीक-ठीक समझने के लिये निहायत ज़रूरी है। जिन भिन्न-भिन्न रूपोंमें आठ प्रकारकी प्रकृति विभक्त होती है, उन रूपोंमें, आत्मामें और परमात्मामें जो सम्बन्ध हैं—उन्हीं सबोंका बोध उन शब्दों द्वारा होता है।

जिसका किसी तरह कभी नाश न हो वह ब्रह्म; आत्माका वासस्थान, इन्द्रियों और मन से युक्त शरीर या अध्यात्म ; विशाल सृष्टि या कर्म; नाशवान् पदार्थ अथवा अधिभूत ; शरीर और प्रकृतिके और कार्योंके ऊपर अधिकार रखनेवाला आत्मा या अधिदैव; शरीरके भीतर रह कर आत्मा तथा अन्य चीज़ों पर शासन करनेवाला परमात्मा या अधियज्ञ—इन शब्दों और उनकी व्याख्याओंसे बहुत कुछ मालूम होता है। (१) भिन्न भिन्न अवस्थाओंके निर्माता: सर्वाङ्गपूर्ण चेतनता और अपरिमित शक्तिसे सम्पन्न, सबोंके स्वामी परमात्मामें (२) परमात्माकी बनाई हुई अवस्थाओंके अन्दर अपनी कार्यसिद्धि के लिये चेष्टा करनेवाले आत्मामें (३) तथा उन अवस्थाओंमें, जो जड़ प्रकृतिके विकारमात्र हैं—इन तीनोंमें जो सम्बन्ध हैं, वे ऊपरके शब्दोंकी व्याख्याओंसे साफ़-साफ़ मालूम हो जाते हैं। श्रीकृष्णके बताये हुए मार्गका अवलम्बन करनेकी आवश्यकता दिखानेके लिये ये सब बातें कही गयी हैं। पहलेका कहा हुआ

सम्बन्ध जब सत्य दीख पड़ता है, तब दिलमें यह विश्वास बैठ जाता है कि, उसके भीतर जो नियम काम कर रहा है, उस नियमसे छुटकारा पानेका कोई उपाय नहीं। जो भ्रान्ति-मूलक विचार अर्जुन के दिलमें विराज रहे हैं और जिनके कारण वे अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं रह सकते, वैसे विचारोंको हटानेके लिये यह ज्ञान बहुत उपयोगी है।

यह उपदेश देनेके दो उद्देश्य हैं:—(क) परमात्माकी महिमा मनुष्यको खूब अच्छी तरह समझा देना (ख) परमात्माका साक्षात् दर्शन करनेके लिये प्रयत्न करनेमें आत्माको तत्पर करना। इसलिए एक साधारण नियम बताया गया है कि—"जीवनकालमें जो मुझे प्रतिक्षण याद करता है, वह अन्तकालमें भी मुझे याद करेगा।" यह भी चेतावनी दी गयी है कि, जो बात अन्तकालमें याद आती है, वही शरीरको छोड़नेवाले आत्माका पहला और प्रधान उद्देश्य बन जाती है। यदि कोई अपने धार्मिक अभ्यासोंके रहते भी अन्तकालमें मुझे स्मरण न कर सके; जैसा कि प्रियव्रतका पुत्र राजा भरत मुझे स्मरण न कर सका, तो समझना चाहिये कि, उसमें गहरी श्रद्धाका अभाव है। और श्रद्धाका कम और अधिक होना परमात्मा की महिमा को समझने और उसका ध्यान करने पर निर्भर है। अध्यायके बाकी हिस्सेमें अभ्यास करनेके विषयमें कुछ बातें विस्तारपूर्वक कही गयी हैं। शरीरको छोड़ने पर जिन मार्गोंसे जाना पड़ता है और अपने-अपने उद्देश्यके अनुसार जिन भिन्न-भिन्न स्थानोंपर लोग पहुँचते हैं, उनके विषयमें भी बहुत सी बातें कही गयी हैं। अवशेषमें यह बात कही गयी है, कि जो उपदेश परमात्माको सदैव स्मरण रखनेके विषयमें दिया गया है, उस उपदेश के बिना उल्लङ्घन किये, कर्त्तव्योंका पालन करना परम-पदकी प्राप्ति के लिये बहुत ही उपयोगी साधन है। परमात्माका दर्शन प्राप्त करनेके पहले जो अन्य उपाय करने पड़ते हैं, उन सबोंका सार इसी

तरह कर्त्तव्यका पालन करना ही है। जिस उपायसे अविनाशी परमात्मा तथा अक्षर-ब्रह्मका अन्तमें ज्ञान और दर्शन प्राप्त होता है, उस उपायकी शिक्षा इस अध्यायमें दी गयी है।

वर्त्तमान अध्याय सातवें और आठवें अध्यायोंका अभिवर्द्धन-स्वरूप है। जो गूढ़ बातें इस अध्यायमें बतायी गयी हैं, पहले दोनों अध्यायोंको उनकी भूमिका समझना चाहिये। इस अध्यायमें एक "राजगुह्य" बताया गया है। परमात्माकी अपरिमित और गूढ़ शक्तियों तथा सब चीज़ोंमें उसके वर्त्तमान रहनेके ज्ञानसे बढ़ कर रहस्यही क्या हो सकता है? सातवें और आठवेंमें सृष्टिकी चीज़ोंका साधारण विभाग, उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्तिम अवलम्ब इत्यादि बातें लिखी गयी हैं। यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुनको यह दिखाते हैं कि परमात्मा का सब चीज़ोंसे सम्बन्ध है; तथापि वह उनसे बिल्कुल बेलाग है। श्रीकृष्ण अपनेको ही परमात्मा भी बताते हैं। २,—जो ज्ञान यहाँ सुनाया गया है, वह धर्म्म अथवा सबोंके अवलम्ब, सबोंके स्वामीके विषयमें है अर्थात् वह ज्ञान धर्म्म है। 'धर्म्म' शब्दसे सब बातोंके कारण, सब कारणोंके कारण परमात्माका बोध होता है। इसीलिये श्रीकृष्ण कहते हैं, ४—कि मुझसे यह सब जगत व्याप्त है; तोभी मेरी मूर्त्ति अव्यक्त है; सब जीवोंका मैं अवलम्ब हूँ, परन्तु वे मेरा

अवलम्ब नहीं। इस संबन्ध से मेरी शक्तियाँ और मेरा स्वभाव प्रभान्वित या परिमित नहीं हो सकता। महान् वायु आकाशमें सब जगह घूमता है; परन्तु जिन चीज़ोंसे उसका संसर्ग होता है, उनमेंसे किसी चीज़का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् वायु न तो उन चीज़ोंका कोई गुण ग्रहण करता है, न अपना गुण छोड़ता है।

. उसी तरह—बल्कि वायुकी अपेक्षा मेरे विषयमें यह बात कहना अधिक सत्य है—मैं सब जीवोंमें रहता हूँ, पर मेरा उनसे कुछ लगाव नहीं। साक्षात् अथवा प्रकृतिके द्वारा मैं संसारको बनाता और उसका प्रलय करता हूँ। इस कर्मसे मैं आबद्ध नहीं होता; क्योंकि कामनासे रहित होकर मैं यह करता हूँ। यथार्थमें कोई ऐसी चीज़ नहीं, जिसकी मुझे चाहना हो। कामना उसी जीवके लिये सम्भव है, जो परिमित हो। आत्माओंकी स्वाभाविक वृत्तियाँ देखनेमें भिन्न-भिन्न मालूम पड़ती हैं। अतएव उनके कर्म और उनके उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। महात्मालोग मेरी दैवी प्रकृतिको जानते हैं। वे मुझे सब चीज़ोंका आदि कारण समझते हैं। वे जानते हैं कि मैं अविनाशी हूँ। वे लोग एकाग्र-चित्त होकर, खूब श्रद्धापूर्व्वक, मेरी उपासना करते हैं। वे लोग हमेशा मेरी चर्चा करते हैं। वे लोग हमेशा योग करते हैं अर्थात् अपने कर्त्तव्योंका पालन करते हैं और इससे उनकी ज्ञान-वृद्धि होती है। मैं सब कहीं व्याप्त हूँ और मैं कर्त्तव्य करनेसे जाना जाता हूँ, यही समझकर वे लोग हरेक धार्मिक कामको तथा एक-एक करके सब कर्त्तव्योंको करते हैं। त्रैविध अर्थात् ऋक्, यजुः, साम इन तीन वेदोंके जाननेवाले लोगोंका विश्वास है कि, स्वर्गमें सुख पानेके लिये यज्ञ किये जाते हैं। इसलिये वे स्वर्गीय सुखोंको उपभोग करते हैं और फिर स्वर्गसे लौट आते हैं। महात्मा लोग मेरे सिवाय किसी दूसरेको नहीं जानते; इसलिये मेरी कोशिश रहती है कि,

वे ऐसे स्थानमें पहुंच जायँ, जहांसे उनका अधःपतन न हो। यह एक प्रख्यात नियम है कि, उपासक उसीके यहाँ जाते हैं जिसकी वे उपासना करते हैं और वेही चीज़ें उन्हें मिलती हैं, जिनको पानेकी वे इच्छा रखते हैं। मेरी पूजा करनेमें उपासकको कोई दुःख नहीं भोगना पड़ता। जो कुछ कर्त्तव्य वह कर सकता है या करता है, उसको श्रद्धापूर्वक करनेसेही मेरी उपासना हो जाती है। हे अर्जुन! इसलिये तुम अपना कर्त्तव्य करो और उसे मुझे अर्पण कर दो। ऐसा करनेसे तुह्मारा कर्म मोक्षका द्वारा बन जाता है। इससे सांसारिक बन्धन दृढ़ नहीं होता। मैं पक्षापक्षी करता हूँ—यह समझ कर जो संसार भूल करता है, उस भारी भूलसे तू बचा रह। आत्माओंके कर्म्म और स्वभावके अनुसार भाग्यमें भेद होता है। जो अकेला मेरी उपासना करता है, समझ रखो कि, वह सच्चे मार्ग पर चल रहा है; सम्भव है कि, वह कहीं-कहीं कर्त्तव्यकी बारीक बातोंमें भूल करे। कितनी ही विपत्तियाँ उसे झेलनी पड़ें, मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता। अतएव सब कर्त्तव्योंका रहस्य यह है—मुझमें अपना चित्त लगाओ: मेरे उपासक बनो: अपने यज्ञ मुझे समर्पण करो; मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम करो; मुझे लक्ष्य बनानेसे और इस तरह अपने चित्तको अभ्यस्त करनेसे तुम मेरे पास चले आओगे।

इस तरह हम लोगोंको सबसे गुढ़ रहस्य बताया गया है। इससे हमलोग मोक्षकी ओर बहुत आगे क़दम बढ़ाते हैं।

दसवाँ और ग्यारहवाँ अध्याय

विभूति-रूप ईश्वरके भिन्न-भिन्न रूप हैं। सब चीज़ोंमें ये विभूतियाँ वर्त्तमान रहती हैं। येही विभूतियाँ सब चीज़ोंकी शक्तियाँ और गुणोंको जड़ और सञ्चालक है। जो विभूतियाँ सातवें और आठवें अध्यायोंमें दी गयी हैं, उनके अतिरिक्त कुछ यहाँ भी दी गयी हैं। यह ज्ञान किस्त-दर-किस्त बताया गया है, क्योंकि भिन्न भिन्न दर्जेके आत्माओं द्वारा तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें यह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अब तक अर्जुन कानोंसे सुनते थे: अब वे आंखोंसे देखेंगे और निरीक्षण करेंगे। परमात्माके तेजोमय, सर्वव्यापी तथा सर्वावलम्बभूत स्वभावका वर्णन किया गया है। अर्जुन इन बातों को अपनी आंखों देखते हैं और शब्दोंकी शक्तिके अनुसार तथा अपने देखनेकी शक्तिके अनुसार उन बातोंका वर्णन करते हैं। अर्जुनका वर्णन उद्धृत करनेमें दो बातें स्पष्टतया ध्यानमें रखी गयी हैं। वे बातें ये हैं—(१) ऊपर कही हुई परमात्माकी महिमाका अर्जुन ने कहां तक ज्ञान प्राप्त किया है, यह दिखाना। (२) अर्जुन अपनेको किस तरहका कर्त्ता समझते हैं, यह दिखाना। पूर्वपरिचित रूपमें फिर श्रीकृष्णको देखनेके लिये, अन्तमें, अर्जुनके विनय करनेका आशय यह है कि, यद्यपि हम लोग परमात्माकी महिमा देखनेको तरसते रहते हैं; तथापि उसकी अनन्त कीर्त्तिका साक्षात् दर्शन करके परिमित तथा अनुन्नत बुद्धिवाले पुरुष घबरा उठते हैं। परमात्माके संख्यातीत रूप तथा उसकी अपरिमित शक्तियाँ सब चीज़ोंको चलाती हैं और वह सब चीज़ोंका अवलम्बभूत है—इन बातोंका ज्ञान प्राप्त करनेमें हम लोग इस तरह और दो सीढ़ियाँ आगे बढ़ गये।

बारहवाँ अध्याय।

विश्वरूप देखने का प्रभाव अथवा परिणाम क्या होना चाहिये? विश्वास यह दिलाया गया है कि, सर्वावलम्ब-भूत विश्वरूप के अतिरिक्त और कोई उपासनाका भाजन नहीं हो सकता। उपास्यके महत्त्व और उत्कर्षको ठीक-ठीक समझ कर उस पर प्रगाढ़ प्रेम रखनेको ही उपासना कहते हैं।

परमात्माकी सर्वोपरि और अनन्त प्रभा देखी गयी है और परमात्मामें प्रगाढ़ भक्ति उत्पन्न हो गयी है। अर्जुन दूसरेकी उपासना की उपयोगितामें सन्देह करते हैं; इसीसे परमात्मा में उनका भक्ति-भाव प्रकट होता है। उस सन्देह सूचक प्रश्नका उत्तर अर्जुन मन-ही-मन हठात् नहीं ठीक कर लेते; परन्तु उदाहरण द्वारा उस बात को स्पष्ट कर देनेके लिये श्रीकृष्णसे अनुनय करते हैं। परमात्माके नीचे और उसके अधीन सर्वाधिकार-सम्पन्ना चेतन-प्रकृति या श्री (लक्ष्मी) है, जिसका अव्यक्त शब्दसे यहाँ पर उल्लेख किया गया है। अर्जुनके प्रश्नका उत्तर सहल करनेके लिये श्रीकृष्ण अव्यक्तका वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं; क्योंकि जो कुछ अव्यक्तके विषयमें सत्य है, वह और चीज़ोंके विषयमें अधिक सत्य है। श्रीकृष्णका उत्तर संक्षेपमें यों है—जो लोग अकेले मेरी उपासना करते हैं; समझ रखो, उन्होंने सर्वोत्कृष्ट उपाय का अवलम्बन किया है। जो अव्यक्त की उपासना करते हैं, उनका भी अन्तिम लक्ष्य मैं ही हूँ। परन्तु इन लोगोंको अधिक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है और अव्यक्तका मार्ग सुगम नहीं होने के कारण वे सहज में नहीं पहुँच सकते। सीधे

मेरा उपासक बनना संसारसे छुटकारा पानेके लिये सबसे निश्चित और निरापद मार्ग है। ठीक बुद्धिवाला मनुष्य, अपने पहलेके अभ्यासके अनुसार, उल्लिखित सीढ़ियोंमेंसे (८—११) किसीसे अथवा सबसे नीची सीढ़ीसे अपना काम प्रारम्भ कर सकता है। और यही परमात्माके लिये उसे सोचना और करना है। और जीवोंके सम्बन्ध में—और सब जीव परमात्माके ही हैं—भक्तको कुछ विशेष गुण होने चाहिये; यथार्थमें उन गुणोंका होना भक्तिका एक अंश या शर्त है। जब उसकी भक्ति सब तरह पूर्ण हो जाती है, तब परमात्माका वह बहुत प्यारा हो जाता है। [१३-१८ श्लोकोंमें उन गुणों का नाम लिया गया है] अवशेष में श्रीकृष्ण कहते हैं, कि जो इस धर्ममय और अमृतमय मार्गपर चलते हैं, वे भक्त मुझे विशेष प्रिय होते हैं।

इस तरह भक्ति आख़िरी सीढ़ी है—इसलिये यह अध्याय भक्तियोग कहा जाता है। जब भक्तका वर्णन किया गया है, तब आनुषंगिक रीति से भक्तिकी भी परिभाषा हो गयी है।
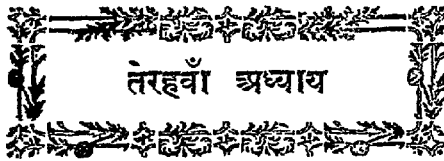
तेरहवाँ अध्याय

पहलेके अध्यायमें जिन प्रधान नियमोंका उपदेश दिया गया है, उन नियमोंका इस अध्यायको एक उत्कृष्ट सारांश समझना चाहिये। जिन भिन्न-भिन्न शीर्षकों के नीचे श्रीकृष्णकी बतायी बातें विभक्त हो सकती हैं अथवा जिन शीर्षकोंके नीचे अर्जुनने उन बातोंको रखा है, वे ही शीर्षक अर्जुनके प्रश्न द्वारा व्यक्त होते हैं। वे ये हैं—प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और

क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय। इन योगीवद्ध शब्दोंका अर्थ सावधानता-पूर्वक समझना चाहिये। श्रीकृष्णकी कौन-कौन स्थितियाँ थीं, अर्जुन ने कहाँ तक उनको ठीक-ठीक समझा और कहाँ तक पूर्वापरविरोधसे रहित होकर उन बातोंको समझाने की चेष्टा की गयी है—ये सब बातें उन शब्दोंके अर्थ समझने पर मालूम हो जाती हैं। थोड़ी देरके लिये हम लोग उन शब्दोंके बदले दूसरे शब्द रखें और देखें कि क्या नतीजा निकलता है।

प्रकृति = जड़ वस्तु, जो सबका कारण है।

पुरुष = चेतन जीव।

क्षेत्र = प्रकृतिकी बनाई चीज़ें।

क्षेत्रज्ञ = वह जो उन चीज़ों को समझता है।

ज्ञान = जानना (जाननेका साधन)

ज्ञेय = जो जानने-योग्य है।

अगर ऊपरकी व्याख्यायें मूल श्लोकों द्वारा स्पष्टतया प्रमाणित होती हैं, तो हम नहीं समझ सकते कि, श्रीकृष्णका मतलब था कि अर्जुन उनमेंसे किसीको असत्य समझें। बल्कि, स्वभावतः तो यह मालूम होता है कि, दो तरह के पदार्थोंके भेद तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली छोटी-छोटी बातें और उनके पारस्परिक सम्बन्ध—जिनकी ओर श्रीकृष्णने उनका ध्यान दूसरे अध्याय के बारहवें और तेरहवें श्लोकों में आकृष्ट किया है—अर्जुन की समझ में ठीक-ठीक आ गये हैं। क्योंकि इन बातोंको समझनेसे ही अर्जुनके शोक करनेकी मूर्खता सम्यक् रूपसे दीख पड़ती है। अध्यायके बाकी हिस्सेमें कोई ऐसी बात नहीं कही गयी है, जिससे उन चीज़ोंमें किसीकी असत्यता अथवा एकका दूसरेसे ऐक्य ज़ाहिर हो। जो बातें यहाँ पर कही गयी हैं, उनकी सत्यता और असत्यताकी जाँच करनेके लिये, इस अध्याय के हरेक वाक्यका सावधानता-पूर्वक निरीक्षण करना बहुत लाभदायक होगा।

(२) यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है: जो इसको जानता है उसे, बुद्धिमान लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

(३) सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का इस तरहका ज्ञान जो यथार्थ में मुझे जानने वाला ज्ञान है।

अगर क्षेत्रज्ञका अर्थ हरेक शरीरमें रहने वाले आत्मासे है, तो "सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान" इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि, सब शरीरोंमें विराजमान रहने वाला आत्मा एक है। परन्तु ऐसा अर्थ करने पर भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद नहीं मिट जाता।

फिर भी, एक ही जीव सब क्षेत्रोंमें और एक ही समय कैसे रह सकता है? यदि इस जीवका तात्पर्य परमात्मा से है, तो यह बात सम्भव हो सकती है। और यदि परमात्मा और सीमाबद्ध आत्मा को एक मान लिया जाय, तब श्रीकृष्ण का "मुझे जान" इस वाक्य से "अपने को जान" कहना अधिक उपयुक्त होगा। जब वे कहते हैं कि "मुझे जान," तब वे क्षेत्र या क्षेत्रज्ञमें जानने वाले को शामिल नहीं करते। उसके शामिल करने से तीसरे श्लोकके पिछले अर्द्ध-भागको कोई आवश्यकता नहीं रहती; यथार्थमें मालूम होता है कि, कोई तीसरा पुरुष है, जिसे ये बातें जाननी हैं। इस तीसरे पुरुषके ज्ञानकी सीमाके अन्दर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दो भिन्न चीजें आती हैं। यदि व्यक्तिगत आत्मा और परमात्मा एक है और वही क्षेत्रज्ञ या क्षेत्रका जाननेवाला है, तब बात यहीं समाप्त हो जाती है; क्योंकि क्षेत्रज्ञ क्षेत्रज्ञको जानेगा, यह कहने का क्या मतलब? फिर भी, यदि व्यक्तिगत आत्मा क्षेत्रको पहले से ही जानता है, तो वह जैसा है वैसा ही नहीं रहता।

(४) श्रीकृष्ण क्षेत्रके विकार तथा गुण, उसकी शक्तिका परतन्त्र स्वभाव, उसके कारणके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लेनेके लिये अर्जुनसे कहते हैं। इस श्लोकमें "क्षेत्र और वह" का तात्पर्य क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ से है। दोनोंके साथ भेदके द्योतक विशेषण लगे हुए हैं।

पहले अर्थात् क्षेत्रको विकारके अधीन कहा गया है ; दूसरे अर्थात् क्षेत्रज्ञको महती शक्तिसे सम्पन्न कहा गया है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों अलग-अलग बताये गये हैं।

(५) व्याख्या देनेके पहले, यहाँ ऋषियों और वेदोंके प्रमाण तथा ब्रह्म-सूत्रोंके निष्कर्ष उपस्थित किये गये हैं। कहा गया है, कि "यह युक्ति पूर्ण ब्रह्मसूत्रके पदोंमे पूरी तरह सच्ची साबित की गयी है।" इस वाक्यसे आशा की जाती है कि, ब्रह्मसूत्रोंकी स्थितियाँ और निष्कर्षों को यहाँ पर उद्धृत करना ही ग्रन्थ-कर्त्ताका उद्देश्य है।

(६ और ७) भूत अहङ्कार, और अन्य तत्त्व, इच्छा और मनकी अन्य उपाधियाँ तथा शरीर क्षेत्र कहे गये हैं।

(८-१२) जिसे क्षेत्रज्ञको जानना है, उसे वासनाओंसे मुक्त होना चाहिये, पवित्रता से जीवन बिताना चाहिये, उसके हृदय में श्रद्धा होनी चाहिये। ऐसे ही मनुष्यको क्षेत्रज्ञके विषयमें जाननेका अधिकार हो सकता है। परमात्माको जाननेकी आकांक्षासे युक्त ऐसा जीवन ही ज्ञान कहा जाता है ; क्योंकि यह ज्ञानप्राप्तिके लिये एक सुदृढ़ सीढ़ी है।

(१३-१८)—समस्त शक्तियोंका क्षेत्रज्ञ, ब्रह्म ही क्षेत्रमें देखी जानेवाली कर्मख्यता का मूलस्वरूप है! ब्रह्म ही प्रधानत या जानने की चीज़ अर्थात् ज्ञेय है। जिन गुणोंका आदि हो सकता है, वैसे गुणों से ब्रह्म बिल्कुल शून्य है। कहनेका तात्पर्य यह कि शरीर, इन्द्रियाँ तथा उनके कार्य कलापोंका प्रभाव उस पर कुछ नहीं पड़ता। वह सत् अर्थात् प्रकृतिका व्यक्त कार्य नहीं ; वह सूक्ष्म प्रकृति अथवा असत् भी नहीं। अतएव, जो कुछ क्षेत्र कहा जा सकता है, उससे वह एकदम भिन्न है (सत् और असत् शब्द वेदोंमें इसी अर्थमें इस्तेमाल किये गये हैं) शेष श्लोकोंमें परमात्माकी सर्वाभिभाविनी प्रकृति और शक्तियोंका वर्णन किया गया है। आशय इस बातपर

ज़ोर देनेका है कि न परिमित शक्तियोंसे सम्पन्न आत्मासे, न जड़ वस्तु अथवा शरीरसे ही उसको एक मान सकते हैं।

१९—क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का इसी तरह वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि, मेरा भक्त इसको सम्यक् रूपसे देखता है और वह मद्भावके लिये योग्य है। शायद "मद्भाव" का अर्थ ऐसा किया जा सकता है, जिससे सब आध्यात्मिक जीवन की एकता प्रकट हो। परन्तु हम लोगों को देखना चाहिये कि, गीता कहाँ तक ऐसी व्याख्या की पुष्टि करती है।

२०—प्रकृति और पुरुष दोनों अक्षय हैं। सब विकार प्रकृतिके ही सम्बन्धमें होते हैं। क्षेत्रज्ञ या ज्ञेयका वर्णन करने में 'पुरुष' शब्दका जान-बूझकर वहिष्कार किया गया है। जिस क्षेत्रका सविस्तर वर्णन किया गया है, उस क्षेत्रकी जड़ होनेके कारण प्रकृति पुरुषके साथ जोड़ दी गयी है; और दोनों नित्य बताये गये हैं। पुनः, प्रकृति सब विकारों, सब गुणों और सब अवस्थाओंका कारण बतायी गयी है।

तब पुरुष कौन है? अन्य स्थानोंमें आत्मा तथा परमात्माकी जगह इसका बहुधा प्रयोग किया गया है; किन्तु आगे चलकर परमात्मा 'पुरुषोत्तम' शब्द द्वारा अभिहित होता है। इस श्लोकमें भी पुरुषके दोनों अर्थ हो सकते हैं।

२१—उसको शरीर और इन्द्रियोंका कारण और उसके कर्मोंका संचालक कहकर प्रकृतिको फिर पुरुषसे भिन्न दिखाया गया है। प्रत्युत, पुरुष परिणाम का अर्थात् हर्ष और क्लेशके अनुभव का हेतु कहा गया है। हेतु शब्द कारण या आधारका पर्यायवाची हो सकता है। जब हेतुका अर्थ अनुभवका आधार अर्थात् हर्ष और क्लेश, दुःख और सुखका भोक्ता है; तब पुरुष, जैसा अभी कहा गया है उस तरह, सर्व शक्तिमान् ज्ञेय नहीं हो सकता। हर्ष और क्लेशके भोक्ता पुरुष का तात्पर्य्य आत्मा से है, और आत्मा उस क्षेत्रज्ञ से

बिल्कुल भिन्न है, जिसका ज्ञान सुख-लाभके निमित्त प्राप्त किया जाता है। यदि भाषाके नियमों के अनुसार पुरुष और हेतुसे यह समझना चाहिये कि 'पुरुष' कारण है, तो भोक्तृत्व के साथ एक और शब्द ऊपरसे लगाना पड़ेगा। अब श्लोकके परार्द्ध का अर्थ यह है कि, परमात्मा 'पुरुष' आत्माके हर्ष और क्लेशके अनुभव का कारण है। अब स्पष्ट है कि, साक्षात् 'पुरुष' शब्द द्वारा अथवा हर्ष और क्लेशके अधीन जीवकी चर्चा करके, आत्मा परमात्मासे भिन्न बताया गया है।

२२—परन्तु आगेके श्लोकमें 'पुरुष' तीन गुणोंकी शक्तिके अधीन बताया गया है। यह भी कहा गया है कि उन गुणोंमें तथा उनसे पैदा हुई चीज़ोंमें वह आसक्त हो जाता है, जिसके कारण उसे ऊँची या नीची योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। ऐसे पुरुषसे ज्ञेय, क्षेत्रज्ञ और परमात्मा फिर भिन्न बताये गये हैं। परमात्मा एक भिन्न तरह का पुरुष है, जो ईश्वरीय शक्तियोंसे सम्पन्न है और जो तीन गुणोंके बन्धनमें फँसे हुए पुरुषके साथ शरीर में रहता है। गीता दो पुरुषों का ज़िक्र करती है—एक पुरुष वह, जो सुख और दुःख का अनुभव करता है और एक वह पुरुष जो "पर" है और जो सब चीज़ोंका देखनेवाला और सबका रास्ता बतानेवाला है। पिछला ही पुरुष वह क्षेत्रज्ञहै, जिसे क्लेशग्रस्त आत्माको सब क्षेत्रोंमें वर्त्तमान समझना चाहिये। अब हमलोग अर्जुनके प्रश्नमें इस्तेमाल किये गये तीन शब्दोंका अर्थ समझ सकते हैं। पहले, प्रकृतिसे जड़ कारणको व्यक्त करना प्रधान उद्देश्य है। आध्यात्मिक कक्षाके अन्तर्गत जितने चेतन जीव हैं, वे पुरुष शब्द द्वारा व्यक्त किये गये हैं। परमात्मा और चेतन प्रकृतिके कार्य करनेसे ही हरेक स्थावर और जङ्गम संसारमें पैदा होता है। अतएव, पहले इन्हीं दोनोंको जानना चाहिये, क्यों कि वे पुरुष अर्थात् आत्मासे उच्चतर हैं। क्षेत्रका तात्पय परिवर्त्तनशील शरीरसे ही नहीं, परन्तु उसके संचालक देवतासे भी

है। शरीर और आत्माको एक जगह लानेके इनके कामको सबसे पहले जान लेना चाहिये ; क्योंकि इस सम्बन्धकी चीज़ोंको बिना जाने ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। यद्यपि इन चीज़ोंका ज्ञान अल्प प्रयाससे प्राप्त होता है, तथापि इनका जानना परमात्माको जाननेके लिये बहुत उपयोगी है। जब परमात्माका ज्ञान तथा दर्शन हो जाता है; तब परमात्मा दया करके आत्माको बन्धनसे मुक्त कर देता है। अतएव, सबसे बढ़कर वही ज्ञेय है। अर्जुनके उक्त तीन शब्दोंमें पिछले दो की व्याख्या पहले इसी लिये की गयी है। पहला शब्द अन्तमें उठाया गया है, जिसमें आत्माके स्वभाव तथा उसको परिवृत करनेवाली अवस्थाओंकी व्याख्या सहजमें हो जाय। जिस ज्ञानकी ऊपर शिक्षा दी गयी है, शोकमग्न आत्माके लिये उस ज्ञानके महत्त्व का सविस्तर वर्णन दिया गया है। यद्यपि परमात्माके लिये भी 'पुरुष' शब्दका प्रयोग किया जाता है, यद्यपि आत्माके साथ वह एक ही शरीरमें वर्त्तमान है; तथापि परमात्मा आत्मासे उतना भिन्न है जितना सम्भव हो सकता है। वह शरीरके परिणामोंसे प्रभावान्वित नहीं होता और उसका तेज सर्वत्र विच्छुरित रहता है। यह सब कुछ सारगर्भित अन्तिम श्लोकमें संक्षिप्ततः दिया गया है और उस श्लोकके प्रत्येक शब्द पर ज़ोर दिया गया है। "जो ज्ञानकी आँखोंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका यह फ़र्क़ अच्छी तरह देखते हैं, (३४) जो उसको जानते हैं, जिसके द्वारा आत्मा भूत और प्रकृतिसे छुटकारा पाता है, वह उच्चतम पदको पाते हैं।"

नतीजा यह निकला कि, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग-मोक्षके लिये ज्ञानकी ऊँची सीढ़ी है।

चौदहवाँ अध्याय

कहा गया है कि, (अध्याय १३, श्लोक २७) सर्वज्ञ परमात्मा यानी चेतन्य चेतके साथ कार्य करता है; उसीसे आत्मा जन्म लेता है अर्थात् शरीर धारण करता है। शरीरमें रहनेवाला आत्मा तीन गुणोंके अधीन है। भिन्न-भिन्न अंशों में वे शरीर तथा इन्द्रियोंमें मिले रहते हैं। अव्यक्तका उल्लेख बारहवें अध्यायमें किया गया है। चेतन प्रकृतिके ऊपर तथा उन तीन गुणोंके ऊपर, जिनसे आत्माका निवासस्थान बनाया जाता है, वह अव्यक्त शासन करता है। वही अव्यक्त चेतन प्रकृति है। यहाँ उसे महद्ब्रह्मन् कहा गया है और वह परमात्माकी स्त्री है। वह प्रकृतिके ऊपर शासन करने वाली देवी ही नहीं बतायी गयी है; यह भी कहा गया है कि, वह परमात्मा की अनन्त, नित्य नूतन तथा अद्भुत व्यक्ति और महिमाका एकही अविनाशी दर्शक है। ३—उसीमें परमात्मा सृष्टिका बीज डालते हैं। उसमें बीज डालनेसे और उसके सदैव साथ रहनेका कारण वह सूक्ष्म प्रकृति (जड़ वस्तु) पर काम करती है और तीन तत्व अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् अलग हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न अंशोंमें मिलकर ये शरीर में शामिल होते हैं। कर्त्तव्यकी आवश्यकताके अनुसार तथा उसकी योग्यताके मुताबिक आत्माको भिन्न-भिन्न तरहका शरीर मिलता है। सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुणके आधिक्य होनेके अनुसार शरीर तीन श्रेणियोंमें विभक्त किये गये हैं। अमुक आत्माका संसारमें अमुक प्रकारका शरीर पाना स्वेच्छाचारिता का उदाहरण नहीं समझा जा सकता। कौन आत्मा किस तरहकी देह से अपना काम चला सकता है और कौन आत्मा किस तरहका काम कर सकता है, ये सब बातें सोच

कर अमुक प्रकार का शरीर दिया जाता है। यद्यपि सब आत्मा तीन गुणोंके वशमें रहते हैं, तथापि किसी विशेष समय पर देखिये तो मालूम होगा कि, वे भिन्न-भिन्न रूप से भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की सिद्धिके लिये काम करते हैं।

क्या यह हो सकता है कि, सतोगुण इत्यादि तीन गुणोंका भेद वास्तविक भेद नहीं है? क्या असलमें उनमें कोई भेद नहीं? यदि उनमें कोई भेद नहीं, तो फिर भेद क्यों बताया गया है? क्या उनको मुख्यतः एक समझना चाहिये, चूँकि वे एकही प्रकृतिसे प्रादुर्भूत होते हैं? यदि मुख्यतः वे एक हैं, तो उनमें भेद बताने का कोई पर्याप्त कारण है वा नहीं? क्या 'प्रकृति' शब्दमें कोई ऐसी चीज़ है, जो यह मानने के लिये हमें बाध्य करती है? नहीं तो क्या ऐसा करने से दार्शनिक विचारका महत्त्व बढ़ जाता है? अथवा यदि सब कठिनाइयों को हल करने के लिये एक ही कुञ्जी चाहते हैं, तो क्या कमसे कम यह बात नहीं माननी होगी? ऐसे ही कुछ प्रश्न बुद्धि-मान् जिज्ञासु पुरुषके चित्तमें उठ सकते हैं।

६—१८,—आगे यह दिखाया गया है कि, शरीरमें तीनों गुणोंमें एक का औरों पर प्राबल्य हो सकता है। जिस गुणका प्राबल्य होगा, उसी गुणके अनुसार शरीरकी अवस्था होगी। इसके परिणाम अल्प समयमें अनुभूत हो सकते हैं—जैसे निद्रा, क्रोध, हर्ष, सुख, दुःख तथा मृत्यु। कितने परिणाम ऐसे होते हैं, जिनसे आत्मा लौट कर नहीं आ सकता।

१९—गुणोंका आत्माके ऊपर कठिन अधिकार देखा जाता है। किन्तु यदि वह उनके असर से पचना चाहता हो, तो उसे पहले उस कारण या शक्तिको ठीक-ठीक जानना चाहिये, जो उनसे ऊँची है और जो उनको अपने वशमें कर सकती है। इस बातके ज्ञानके द्वारा वह जन्म-मरणके बन्धन से छुटकारा पा जाता है और परम हितकारी ब्रह्म उसे मिल जाता है।

२१—२६,—त्रैगुण्यविषयक वार्तालाप का महत्त्व अब अर्जुन समझते हैं। आत्माओंके ऊपर उनका कितनी शक्ति है, यह भी वे समझ गये। वे अब देखते हैं कि, आत्माओंको यह शक्ति दमन करनी चाहिये। जो लोग उन गुणों को दमन करनेमें सफलमनोरथ हो गये हैं, उनको खोजकर उनका सङ्ग करनेमे बहुत लाभ होता है इस लिये अर्जुन ऐसे महात्माओंके लक्षण जानना चाहते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् वे लक्षण बता देते हैं। अन्तमें, जो गुण यहाँ पर बताये गये हैं, उन गुणोंको प्राप्त करने से भी, परमात्माकी भक्ति और उपासना के बिना, कोई लाभ नहीं हो सकता। वास्तवमें वे गुण भक्तिवृद्धिके लिये ही काम आते हैं। अवशेष में भगवान् कहते हैं; कि मैं सनातन-धर्मका पक्षपाती हूँ।

कौनसा धर्म, सम्भवतः, वह सनातन-धर्म हो सकता है? इस अध्यायमें तथा किसी अध्यायमें क्या इसके विषय में कोई बात कही गई है? भगवान्ने तीन गुणोंका तथा उनके परिणामों का वर्णन किया है। उन गुणोंको दमन करनेका भी आदेश दिया गया है। कुछ ऐसे गुणोंका भी उल्लेख किया गया है, जिनको प्राप्त करना आवश्यक बताया गया है। क्या, इन बातोंके द्वारा सनातन-धर्मका बोध नहीं होता? क्या धर्मका ज्ञान नहीं मिलता? जिन आत्माओं के काम करनेके लिये वे सिर्फ़ औज़ार हैं, उन आत्माओंसे यदि तीन गुणोंका प्रादुर्भाव और भिन्न-भिन्न अंशोंमें सम्पृक्त होना सचमुच कोई सम्बन्ध रखता है; यदि कोई विशेष कार्य-वृत्ति अथवा कोई विशेष गुण समुदाय ज्ञानवृद्धि के लिये उपयोगी बताया गया है; यदि एतादृश ज्ञान और भक्ति ही सब उत्कृष्ट और लाभदायक कर्म्मोंका उद्देश्य होना चाहिये, यदि इस उन्नतिको असम्भव बनानेवाले कारणों और अवस्थाओंसे भिन्न उसकी वृद्धिमें सहायता देनेवाले उत्कृष्ट साधन हैं; और यदि यहाँ उस उन्नति के वर्द्धक कारणों, अवस्थाओं तथा साधनों का वर्णन किया गया है; तो क्या हमें यह न

समझना चाहिये कि, सनातन-धर्म क्या है अथवा उसकी पहचान क्या है, इत्यादि बातें यहाँ बतायी गयी हैं ? फिर भी; यदि उपासकों का प्रधान स्वभाव तथा उनके उद्देश्य के अनुकूल और प्रतिकूल अवस्थायें तथा दोनों का सच्चा रूप सब कालोंमें एकसा और सत्य रहता है : तो क्या यह कहना ठीक नहीं कि, परमात्मा ही सनातन धर्मका आधार-भूत है अर्थात् वही सब पदार्थों का रूप और प्रकृति सब कालोंमें एकसी बनाये रखता है ?

स्वभावतः, पहले सम्पूर्ण का ज्ञान होता है ; हो सकता है कि यह स्पष्ट न दिखाई पड़े। किन्तु अंशोंका तथा पुङ्खानुपुङ्खों का दर्शन मानसिक अनुमानके द्वारा होता है। विगत अध्यायमें आत्मा और शरीर अर्थात् प्रकृति और पुरुष संपूर्ण रूपसे संयुक्त अवस्थामें दिखाये गये हैं। तदनन्तर इस अध्यायमें बताया गया है कि, किस तरह प्रकृति आत्माके ऊपर अपना प्रभाव डालती है। यह भी बताया गया है कि, आत्मा किस तरह प्रकृति तथा उसके प्रभाव को दमन करनेमें समर्थ होता है। इसलिये इस अध्याय को यहीं पर स्थान दिया गया है।

पन्द्रहवाँ अध्याय।
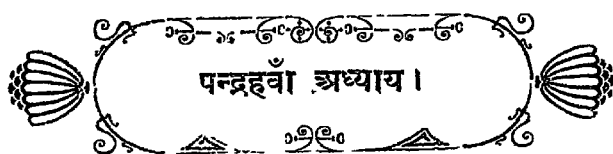
इस अध्यायमें संसारका—शरीरमें रहनेवाले आत्माकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंका अर्थ संसार है—वर्णन वृक्षरूपसे किया गया है। लेकिन संसाररूपी वृक्ष, नीचे से नहीं, ऊपरसे बढ़ता है। कहनेका तात्पर्य्य यह कि अखिल संसार, चेतन और जड़-प्रकृति यानी परमात्माका बनाया हुआ है। यह द्विधा प्रकृति सृष्टिकी हरेक छोटी से छोटी बातमें अपनी शक्ति दिखलाती है।

आत्माओंके निमित्त सृष्टि होती है; परन्तु उनके ऊपर भी ये अपनी शक्तिका प्रयोग करती हैं। तेरहवें अध्यायका सार भी प्रसंगवश यहाँ पर दे दिया गया है। यह भी दिखाया गया है कि इस वृक्ष की जड़ें बहुत दूर तक गई हैं और बहुत मज़बूत हैं; इसलिये इस पेड़को ज्ञानरूपी मज़बूत हथियारसे काटना चाहिये। परन्तु पूर्वोक्त कारणोंके अनुसन्धान, बुरी प्रवृत्तियोंके दमन तथा प्रगाढ़ भक्तिके अभ्यासके अनन्तर ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वेद ही अनुसन्धान का क्षेत्र कहा गया है; वेद ही पत्तियाँ हैं, जिनपर फूल और फल लगते हैं। कहनेका मतलब यह कि, वेदके अनुशीलनसे ज्ञान रूपी फूल और मोक्षरूपी फल पैदा होता है।

६—तब बताया जाता है, कि परमात्मा ही उनका ध्येय है; परमात्मा जब मिल जाता है, तब आत्माको संसारमें नहीं लौटाता। ७—८—आत्मा सर्वदा परिमित रहता है; चाहे संसारमें भ्रमता रहे, चाहे मोक्षके अक्षय सुखोंका उपभोग करता रहे, आत्मा हमेशा परमात्मामें आवद्ध रहता है।

९—१०—एक बार फिर परमात्माकी कुछ कीर्त्तियोंका वर्णन किया गया है। ऐसा करनेका कारण यह है कि, उनको देखना और हृदयङ्गम करना ही अखीरमें ज्ञान समझा जाता है और उनको जानना परमात्माका ध्यान करनेके लिये ख़ास करके आवश्यक है। परमात्माका आत्मासे सम्बन्ध आदिसे अन्त तक क्या है, यह जानना भी आवश्यक है। ये सब बातें यों लिखी गयी हैं—क्षर और अक्षर दो ही पुरुष हैं; किन्तु सर्व्वोच्च व्यक्ति क्षर और अक्षर दोनों से बहुत भिन्न है; और वह परमात्मा अर्थात् सम्पूर्ण और सर्वाधीश आत्मा कहा जाता है। वह शासकोंका शासक और अविनाशी है। १८—चूँकि वह क्षरके ऊपर और अक्षरसे भी बहुत ऊपर है, इसलिये वेदोंमें और मनुष्य के बनाये हुए धर्मग्रन्थोंमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है।

२०—यह सबसे भारी रहस्य है; शास्त्रमें इसका उपदेश दिया गया है; इसीके द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और इसीके द्वारा सबसे श्रेष्ठ उद्देश्य सिद्ध होता है।

इस अध्यायमें पुराण पुरुषोत्तम अर्थात् अविनाशी और सर्वोच्च पुरुषका वर्णन किया गया है।

सोलहवाँ अध्याय

जो गुण ग्राह्य हैं और जो दोष त्याज्य हैं, उनके नाम यहाँ दिये गये हैं। वे उक्त दोष उन्हींमें पाये जाते हैं, जो उस सर्वोत्कृष्ट उद्देश्यके प्रतिकूल मार्गका अवलंबन करते हैं। १-३—पहले दैवी प्रकृतिके लक्षण थोड़ेमें दिये गये हैं। ये बातें पहलेके अध्यायोंमें कुछ विस्तारसे दी गयी हैं, क्योंकि जो दैवी प्रकृतिके हैं, उनका ही भाग्य और कार्य सचमुच खूब अच्छी तरह बताने लायक और महत्त्वके प्रश्न हैं। जो दैवी प्रकृतिके नहीं हैं, उनके लक्षणका भी थोड़ा उल्लेख किया गया है। श्रीकृष्ण असुर-प्रकृतिका संक्षेपमें वर्णन करते हैं और अर्जुनसे कहते हैं कि, मैं दैवी प्रकृतिका हूँ।

६—२०—उसके बाद श्रीकृष्ण अर्जुनसे असुर प्रकृतिको सावधानतापूर्वक समझ लेनेके लिये कहते हैं अब। श्रीकृष्ण असुर-प्रकृतिका विस्तार पूर्वक वर्णन करना आरम्भ करते हैं। अनेक लक्षणोंमेंसे कुछ लक्षण ये हैं—असुर पुरुष यह नहीं जानते कि, क्या करना चाहिये। उनके लिये विश्व-संसार पूर्णतया असत्य है, और इसका कोई सर्वाधीश शासक नहीं। कार्य-कारणभावसे आपसमें सम्बन्ध रखनेवाली चीज़ोंसे, उनकी आँखोंमें, संसार बना हुआ है।

वर्त्तमान सुखही उनका अभीष्ट है और इसको छोड़कर वे कुछ नहीं जानते। श्रीकृष्णभगवान् और भी कहते हैं कि—ऐसेही अनेकानेक विचारों से हतबुद्धि होकर वे घृणित नरकमें गिरते हैं। उनको मैं संसार तथा असुर योनियोंमें डालता हूँ। इस रास्तेमें पड़नेसे और हरेक जीवनमें भुलावेमें पड़नेके कारण वे मुझे कभी नहीं पाते। हे कुन्तीपुत्र! वे सबसे भारी गड्ढे में गिरते हैं। २१—२४ इसलिये श्रीकृष्णअर्जुनसे नरकके तीन द्वार अर्थात् काम, क्रोध और लोभ से बचनेके लिये कहते हैं। वे कहते हैं कि, उसी नियमका पालन करो, जो तुम्हें धर्ममय कर्त्तव्योंके मार्गमें ले जायगा। यहाँ क्षत्रियधर्मानुरूप कर्त्तव्योंके संपादन करनेका औचित्य समझनेके लिये अर्जुन उत्तेजित किये गये हैं।

सत्रहवाँ अध्याय ।

पहलेके सब उपदेशोंका फल यह हुआ है कि, अर्जुन सबसे ऊँची सीढ़ी पर पहुँच गये हैं। यह विश्वास की सीढ़ी है। जो कुछ शास्त्रमें सिखाया गया है, उसमें विश्वास—जो कुछ श्रीकृष्णने स्वयं सिखाया है, उसमें विश्वास—उत्पन्न हो गया है। इस विश्वासका होना और न होना ही सब गुणों और दोषोंकी जड़ है। इसलिये विश्वासके महत्त्वको अच्छी तरह समझना चाहिये, अर्जुन भी पूछते हैं कि, क्या शास्त्रोंका अनुशीलन छोड़ कर भक्तिपूर्वक परमात्माकी उपासना करना सम्भव है—ऐसी उपासना आसुरी प्रकृति या दैवी प्रकृतिके अनुकूल होगी? उत्तरमें श्रीकृष्ण विश्वासके सच्चे रूपके ही विषयमें बहुत कुछ कहते हैं। शरीरमें रहनेवाले आत्माओंकी प्रकृतिसे ही विश्वास का रूप समझा

जा सकता है। यह तीन तरहका है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। शरीरके स्वभावसे विश्वासमें भेद होता नहीं देखा जाता; किन्तु शरीरका स्वभाव, शरीरमें रहनेवालेके स्वभाव पर निर्भर है। ३-२२—जीव जो कुछ करते हैं, उसीमें—यज्ञ, दान, तप, यहाँ तक कि भोजनमें भी—विश्वासका पूर्वोक्त भेद देखनेमें आता है।

२३-२८—विश्वास और उस पर अवलम्बित रहनेवाले आत्माके जीवन और कर्मोंकी इस व्याख्याको सामने रख कर, श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि, शास्त्रोंके श्रद्धावान् भक्तों, प्राचीन ब्रह्मवादियोंके दृष्टान्तके अनुसार अपना जीवन बनाओ। श्रीकृष्ण कहते हैं कि, वे ओ३म् में विश्वास रखकर अपना कर्म प्रारम्भ करते हैं और पद-पद पर उसकी रक्षा और उपदेशके लिये प्रार्थना करते हैं। उसकी प्रसन्नताके निमित्त वे अपने कर्म करते हैं। उनका विश्वास है कि, वह सब कर्मोंमें रास्ता दिखानेके लिये उनके साथ सदा वर्त्तमान रहता है। केवल वही उन्हें रक्षा और सफलता प्रदान करता है। अन्तमें यह भी कहा गया है कि, परमात्मामें विश्वास बिना शास्त्र-वाक्योंके अनुसार ठीक-ठीक कर्म करनेसे ही पुण्य या लाभ नहीं होता; बल्कि ये कर्म असत् बताये गये हैं। जिन्हें विश्वास है, उन्हींके लिये शास्त्र उपयोगी है।

अठारहवाँ अध्याय
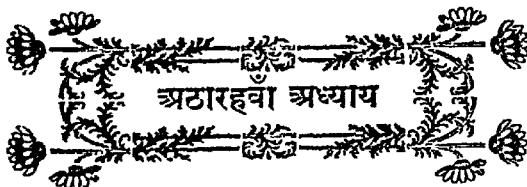
प्रधान नियमकी सङ्गतताको दृढ़ करनेके लिये जिन तीन बातोंको अच्छी तरह समझानेकी ज़रूरत है, वे ये हैं—संन्यास, त्याग और योग। ये अर्जुनको कर्त्तव्य-स्थान पर दृढ़ रखनेके लिये फिर समझायी गयी हैं। कर्त्तव्य ही योग कहा गया

है और अन्य दोनों उसके लक्षण हैं। अर्जुन फिर पूछते हैं और देखना चाहते हैं कि श्रीकृष्ण, अन्तमें, अपना मत बदलते हैं कि नहीं। जो बातें बतायी गयी हैं, उनकी पुष्टि करनेके लिये इस विषय पर प्रकाश डालनेकी श्रीकृष्णसे प्रार्थना की जाती है। जिस योगका उपदेश दिया गया है, उसका साधन होना या न होना, संन्यास और त्यागके पहले कहे गये ढङ्गके होने और न होने पर निर्भर है। इसीलिये इन दोनों शब्दों के सच्चे अर्थके विषयमें अर्जुन प्रश्न करते हैं। श्रीकृष्णका उत्तर संक्षिपतः यों है—पहले ही कह दिया गया है कि काम यानी इच्छाओंको छोड़ देना योग है। काम्य कर्मोंका बिल्कुल छोड़ देना, अब इसके अन्तर्गत आ जाता है। जो कर्त्तव्य किये जाते हैं, उनके फलोंका एकदम परित्याग करना ही त्याग है। यज्ञ, दान या तपके सम्बन्धके धार्मिक कर्मोंके परिणाम बुरे नहीं होते; इस-लिये ऐसे कर्मोंके करनेका अभ्यास डालना चाहिये। यहाँ पर विश्वास नहीं रहनेके कारण या शारीरिक दुःखके भयसे कर्त्तव्योंका छोड़ना त्याग नहीं कहा गया है। यहाँ की परिभाषाके मुताबिक़ जो संन्यासी और त्यागी हैं, उनके लिये कर्त्तव्य-सम्पादनसे दुःख या सुख कहीं नहीं होता—न इस जगत्में न परजगत्में, न स्वर्गमें न नरकमें। बल्कि, वे मोक्षके सुखको निरन्तर भोगा करते हैं। कर्म और उसके भिन्न-भिन्न रूपके सम्बन्धकी अनेक बातें अर्थात् स्थान, कर्त्ता, साधन, कर्म और देव इत्यादि विषयोंका उल्लेख किया गया है। इनकी अनभिज्ञतासे बुद्धि विकृत हो जाती है; परन्तु जो उन्हें जानता है और यह भी जानता है कि परमात्मा पर और अन्य कारणों पर वह बहुत निर्भर है, वह वासनासे छुटकारा पा सकता है और वह कर्मके बन्धनसे मुक्त होता है।

कर्त्ता कौन है? क्या आत्मा स्वयं कर्त्ता नहीं है? यह बहुत महत्त्वका प्रश्न है—शायद यह ऐसा प्रश्न है, जिसका सन्तोषजनक उत्तर पानेसे लोग बहुधा निराश हो जाते हैं। जो बातें मालूम

हुई हैं, देखें, उनकी सहायतासे इस प्रश्नका उत्तर ढूँढ़ सकते हैं या नहीं। कर्मका प्रश्न उपस्थित होने पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि, (१८) ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीन कर्मके प्रवर्त्तक हैं; और कारण, कर्म और कर्त्ता ये तीन कर्मके आश्रय हैं। इसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता। अब देखना चाहिये कि भाष्यकार क्या लिखते हैं। ज्ञान इत्यादिका अर्थ है:—(१) यह जानना कि कर्म क्या है, उसकी जड़ क्या है (२) उद्देश्य और अनेक गौण घटनाएँ, जो कर्मको उद्देश्य-सिद्धके योग्य और सम्पूर्ण बनाती हैं (३) वह जो जानता है कि, कर्म करनेवाला कौन है और उसका स्वभाव कैसा है, वह पराधीन है या स्वाधीन; यदि पराधीन है, तो किसके अधीन है। कर्मण्यता स्वयं करण अर्थात् इन्द्रियोंसे, कर्मशील कर्त्तासे और कार्यसे निश्चितरूपसे सम्बद्ध है। पहली तीन बातें मानसिक या धार्मिक दृष्टिसे दी गयी हैं। दूसरी तीन बातें शरीर-सम्बन्धिनी हैं। कर्त्ता और कर्मण्यता दोनोंके विषयमें यह पूछा जा सकता है कि वह स्वतन्त्र है या नहीं। साधारणतया लोग यह कहते हैं कि, ये दोनों बाहरी शक्तियोंके अधीन हैं। बहुधा यह भी मालूम पड़ता है कि, इनके उत्तरदायित्वकी बात युक्तियुक्त नहीं। इस जटिल समस्याके विषयमें निम्नलिखित बातें कही गयी हैं—यदि कर्त्ताको स्वतन्त्र कहो तो मतलब यह हुआ कि, वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। यदि वह काम करनेकी स्वतन्त्रता सम्पूर्ण है, तो मानना पड़ेगा कि काम करनेके लिये उसे अधिक क्षमता या साधनका अभाव नहीं। यदि ऐसी बात है, तो उसे किसी प्रकारका उत्तरदायित्व नहीं हो सकता; क्योंकि वह किसीका कुछ नहीं धारता। वह किसी की शक्तिसे नियन्त्रित भी नहीं हो सकता; क्योंकि तब वह स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं रह जाता। तब बात यह ठहरी कि, एकदम स्वतन्त्र कर्त्ता ऐसे कर्मक्षेत्रसे बिल्कुल दूर है, जहाँ उत्तरदायित्वकी पहुँच हो सकती है। उत्तरदायित्वका होना वहीं सम्भव है, जहाँ कोई व्यक्ति स्वभावसे

ही कुछ कार्यशक्ति दिये जानेके योग्य है और शक्तिदाता उस शक्तिको रोक या बढ़ा सकता है; साथ-साथ यह भी होना चाहिये कि, वह व्यक्ति यदि उस शक्तिका दुरुपयोग करे, तो उसे अपने किये के फल भोगने पड़ेंगे। काम करनेके नियम ऐसे ही कर्त्ताके विषयमें उपयोगी हो सकते हैं। ऐसा कर्त्ता समझ लेगा कि, ये नियम शक्ति देनेके साथ ही बनाये गये थे। (१) जड़ वस्तु जिसमें उत्तरदायित्व हो ही नहीं सकता, और (२) वह जो शक्ति देता है और उस पर अपना अख्तियार रखता है, उन दोनोंसे लक्षण और स्वभावमें, इस कर्त्ताको भिन्न समझना चाहिये। उसी मूलभूत शासकका यह सीमावद्ध कर्त्ता उत्तरदायी समझा जाता है। दूसरा मत माननेसे, उत्तरदायित्वके विषयमें जो खयाल है, वह खयाल वैसा नहीं रह सकता। इसीलिये कहा गया है कि, यह अनुभव-सिद्ध बात है कि वस्तु, परमात्मा और मुक्तसे भिन्न, जीवको नियमों का ज्ञान रखना होता है और कार्य कर दिखानेको उसमें प्रवृत्ति है; और हकीकतमें वह काम करता भी रहता है। यद्यपि इन सब बातोंमें जीवको परमात्मापर भरोसा रखना पड़ता है; तथापि एक परतन्त्र कर्त्ता होनेके ही कारण वह नियमोंके अधीन और फलोंका भोक्ता हो जाता है। अब १८ वें श्लोकके पूर्वार्द्ध भाग की यों व्याख्या की जाती है—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीन पदार्थ हैं, जो आत्माको कर्म करनेके लिये उत्तेजना देते हैं। इसलिये आगे (२०) यह उपदेश दिया जाता है कि जान रक्खो कि, वह ज्ञान सात्त्विक है, जिसके द्वारा वह भिन्न-भिन्न जड़ और चेतन वस्तुओंमें एक अविनाशी, अभिन्न और शाश्वत परमात्माको देखता है।

२४—४०,—उक्त ज्ञान, कर्म और कर्त्ताके विषयमें सात्त्विक, राजस और तामसका भेद रहना दिखाया गया है। कहा गया है कि बुद्धि और शक्तियों तथा सुख इत्यादिके विषयमें भी यह भेद वर्त्तमान है। तीनों लोकोंमें ऐसा कोई आत्मा नहीं, जिस पर प्रकृतिके तीन

गुणोंका कुछ प्रभाव न हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र की जो खास-खास कर्त्तव्य करने पड़ते हैं, वे कर्त्तव्य उनकी जातीय प्रकृतिके अनुसार होते हैं। जिन तीन गुणोंसे आत्मा परिवृत रहता है, उन गुणोंका प्रभाव उन लोगों पर भिन्न-भिन्न रूपसे पड़ता है। ४५—४८,—श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो भक्त अपने काममें लगा रहता है, वह परमात्माको पा जाता है, जिसकी सत्तासे वह चेष्टा करता है। श्रीकृष्ण इस बात पर फिर एक बार ज़ोर देते हैं कि, कर्त्तव्य-सम्पादनको संन्याससे पवित्र करे लेना चाहिये; क्योंकि संन्यासके बिना सिद्धि, अर्थात् ब्रह्म तक पहुँचानेवाली पक्की बुद्धि, प्राप्त नहीं हो सकती। इन्द्रियों और मनको वश करने, एकान्तमें रहने तथा ध्यान करनेके अन्य नियम ऊपर कही हुई बातोंके सहायक-मात्र हैं। ५४—५७ भक्तिका तत्कालीन फल यह है कि, वह समझ जाता है कि, परमात्मा कैसे सर्व-व्यापी है, उसका नाम क्या है, वह यथार्थमें क्या है; और इसके बाद वह परमात्मामें प्रवेश कर जाता है। ५८—६२,—श्रीकृष्ण फिर अर्जुनसे कहते हैं कि, यदि तुम सत्यको और मेरी व्याख्याको न समझ सको और इसलिये अपने कर्त्तव्य करनेमें असमर्थ हो जाओ, तोभी तुम यह करनेके लिये बाध्य किये जाओगे। परन्तु उस हालतमें वह अपनी इच्छासे किया हुआ काम नहीं समझा जायगा। उसको परमात्मा तथा उच्च उद्देश्यके निमित्त उसके समर्पण नहीं करनेके कारण अर्जुनको उस हालतमें ईश्वरीय कृपा तथा नित्य सुख नहीं मिल सकता। इस तरह आत्माका उत्तरदायित्व बहुत ज़ोर देकर स्पष्टतया बताया गया है। श्रीकृष्णकी बातें सुनकर हमलोगोंका ध्यान भी उस विषय पर जम जाता है—"कौन्तेय, मोहके वशमें होकर जिस कामके करनेमें तुम अनिच्छा प्रकट कर रहे हो, वही काम एक ऐसी शक्तिके वशमें होकर तुम्हें करना पड़ेगा,जिसपर तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं।" जिस बलवती शक्तिके

वशमें होकर यह काम अनिच्छा रहने पर भी करना पड़ेगा, उस शक्तिका वर्णन यों है—

(६१) हे अर्जुन! ईश्वर सबके हृदयमें निवास करता है। संसाररूपी चक्रपर बैठा हुआ, अपनी मायासे, सब प्राणियोंको घुमाया करता है। इसलिये स्वेच्छापूर्वक अपना कर्त्तव्य करने और ईश्वरकी शरणमें जानेके लिये अर्जुनको उत्तेजना दी गयी है।

६२—कर्म्म करनेके पक्षमें और उसके विरुद्ध युक्तियाँ दी गयी हैं; तोभी श्रीकृष्ण एक बार फिर साफ़-साफ़ दिखा देना चाहते हैं कि, किस तरह आत्मा पर दायित्व-भार रखा हुआ है। वे अर्जुनसे कहते हैं कि, कर्मण्यता और अकर्मण्यतामें जो पसन्द आवे, उसीका आश्रय लो। यथार्थमें वे यह कह देते हैं कि, जो चाहो वही करो। प्रारम्भमें अर्जुनमें इतनी योग्यता नहीं थी कि वे विचार सकें कि, कौन रास्ता ठीक है। वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये थे। उनको सन्देह तथा अज्ञानसे बचाना ज़रूरी था। श्रीकृष्णके वाक्यके उत्तरसे यह बात मालूम हो जायगी कि, इस वार्त्तालापका अर्जुन के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा है। विश्वास दिलानेके लिये श्रीकृष्ण फिर कहते हैं कि, अकेले मेरी शरणमें आओ, मैं तुमको सब पापोंसे बचाऊँगा। जिसको यह लालसा हो सकती है अथवा जिसका ऐसा उद्देश्य हो सकता है। वही आदमी ऐसा दायित्व-भार लेनेके योग्य हो सकता है जैसा श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा है। उनको पानेकी इच्छा और चेष्टा करनेसे ही हमलोगोंके काम पवित्र हो जा सकते हैं; और उसीके द्वारा हमलोग उनकी कृपाके पात्र बन सकते हैं।

श्रीकृष्णका उपदेश निष्फल नहीं हुआ। ७२—अर्जुनने कहा—मेरा मोह दूर हो गया; हे अच्युत! आपकी कृपासे मुझे ज्ञान हो गया है। मैं सन्देहसे मुक्त हो गया। मैं आप की आज्ञा अनुसार काम करूँगा।

हिन्दी भगवद्गीता

पहला अध्याय।

अर्जुनका विषाद।

धृतराष्ट्र उवाच।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्रने कहा :—

हे सञ्जय! मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने, पवित्र भूमि कुरुक्षेत्रमें, युद्धकी इच्छासे जमा होकर, क्या किया?*

राजा धृतराष्ट्र यह बात जानते थे, कि उनके और पाण्डुके पुत्र युद्धकी इच्छासे युद्ध-क्षेत्रमें गये हैं, ऐसी हालतमें उनका सञ्जयसे यह पूछना, कि उन्होंने वहाँ 'क्या किया', ठीक नहीं जान पड़ता। उन्हें

* सञ्जय राजा धृतराष्ट्रका सारथी और व्यासजीका शिष्य था। राजा अन्धे होनेकी वजहसे युद्धक्षेत्रमें नहीं गये थे इससे सञ्जय भी उनके साथ राजधानीमें रह गया था। उस जमानेमें तार या टेलिफोन तो थे नहीं और राजा युद्धका हाल जानना चाहते थे, इसलिये महर्षि व्यासजीने, अपने तपोबलसे, सञ्जयको ऐसी शक्ति प्रदान की, कि वह राजधानीमें बैठा हुआ युद्धका हाल प्रत्यक्ष देखता था और उसे राजाको सुनाता था।

यह पूछना चाहिये था कि 'उन्होंने युद्धमें क्या किया, कैसे लड़ाई आरम्भ हुई' इत्यादि, ऐसे सवाल न करके उन्होंने उल्टी बात पूछी। इससे जान पड़ता है, कि उनके दिमाग़में रागद्वेष चक्कर मार रहे थे। उनकी यह इच्छा थी, कि पाण्डव, धर्मात्मा होनेके कारण, युद्धकी हानियाँ विचारकर न लड़ें और राज्य उनके पुत्रोंके अधिकारमें रहे। साथही उन्हें यह भी सन्देह था, कि धर्मक्षेत्रके प्रभावसे उनके पुत्रोंका अन्तःकरण कहीं शुद्ध न होजाय और वे अपना कपटसे कमाया हुआ राज्य पाण्डवोंको वापिस न करदें। पाण्डवोंका युद्धसे विरक्त हो जाना उन्हें पसन्द था, मगर अपने बेटोंद्वारा राज्यका वापिस दिया जाना पसन्द न था; इसीसे उन्होंने सञ्जयसे ऐसा बेमेल सवाल किया।

यों तो राजा अन्धे थे ही; मगर पुत्र-स्नेहके मारे उनकी ज्ञानकी आँखों पर भी पर्दा पड़ा हुआ था। उनकी तो एकमात्र यही लालसा थी, कि हर तरह राज्य उनके पुत्रोंके ही हाथोंमें रहे और उनके पुत्र पाण्डवोंको उनका राज्य लौटा न दें। सञ्जय बुद्धिमान् था। वह अन्धे राजाके मनकी बात ताड़ गया और उसने निष्पक्ष भावसे युद्धका वृत्तान्त सुनाना आरम्भ किया :—

सञ्जय उवाच।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

सञ्जयने कहा :—

राजा दुर्योधन, पाण्डव सेनाकी व्यूहरचना देखकर, द्रोणाचार्य के पास गये और यह बोले :——*

---

* गुरु द्रोणाचार्य भारद्वाज ऋषिके पुत्र थे। उस समय युद्ध-विद्यामें इनके जोड़के योद्धा इने-गिने थे; इसी कारणसे यह राजकुमारोंको युद्ध-विद्या सिखाते थे। कौरव पाण्डवों तथा और भी अनेक राजकुमारोको इन्होंने युद्ध-विद्या सिखाई; मगर पाण्डवोंसे यह जियादा खुश थे। पाण्डवोंमें भी अर्जुनपर इनकी विशेष कृपा थी; मगर युद्धमें इन्होंने कौरवोंका ही साथ दिया।

राजा दुर्योधन, पाण्डवोंकी सेनाको, युद्धक्षेत्रमें, लड़ाईके क़ायदेसे, मोर्चोंमें अस्त्र-शस्त्रसे डटी हुई देख कर, मनमें घबराया और अपने मनका भाव मनमेंही छिपाकर गुरु के पास गया। उसके मनमें ऐसा सन्देह था, कि कहीं गुरु द्रोणाचार्य, पाण्डवोंके प्रेमके मारे, उनमें न जा मिलें। वह गुरुको अपने पक्षमें मज़बूत करने, पाण्डवों पर उनका क्रोध उत्पन्न करने और उन्हें बहकानेके लिये उनके पास गया। राजा धृतराष्ट्रके विचारानुसार दुर्योधनका अन्तःकरण धर्मक्षेत्रमें भी शुद्ध नहीं हुआ था। उसके दिलमें स्वयं गुरु द्रोण और पितामह भीष्मकी ओरसे खटका था; इसीसे वह राग-द्वेष और छल-कपटसे भरी बातें करने लगा।

दुर्योधन द्रोणाचार्य से कहता है:—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

"गुरुजी महाराज! पाण्डवोंकी इस बड़ी सेनाको देखिये, आपही के शागिर्द, बुद्धिमान, धृष्टद्युम्न ने इसकी व्यूह-रचना (मोर्चे-बन्दी) की है।"*

गुरुजी! ज़रा आँखें खोलकर देखिये तो सही, यह बड़ी भारी फ़ौज जो सामने खड़ी है इसकी व्यूह-रचना, आपके वैरीके पुत्र, आपही के सिखाये हुए बुद्धिमान धृष्टद्युम्नने की है। खेदका विषय है, कि आपही का शिष्य, आपको कुछ न समझ कर, आपका

---

*धृष्टद्युम्न राजा द्रुपदका पुत्र, द्रौपदीका भाई और पाण्डवोंका साला था। किसी समय राजा द्रुपद और गुरु द्रोणमें बड़ा मेल था, परस्पर गाढ़ी मित्रता थी। एक समय गुरु द्रोण राजा द्रुपदके पास गये। द्रुपद ने राज-मदसे अन्धे होकर, इनका अपमान किया। गुरु द्रोण ने राजाको परास्त किया। उस समयसे इनमें वैर होगया। राजाने इनसे बदला लेने की गरज से, बलवान पुत्र के लिये, तप किया। उसीके फल स्वरूप उन्हें द्रोणाचार्य को मारने वाला यह पुत्र मिला। ऊपर के श्लोक में दुर्योधन ने वही पुरानी वैरकी बात द्रोणाचार्य को याद दिलाई है।

सामना करनेको उतारू हुआ है। आपने शत्रुके बेटेको युद्ध-विद्या सिखाई, इसीसे आज आपका अपमान हो रहा है। अगर आप इसे युद्ध-विद्या न सिखाते, तो आज यह नौबत न होती —आप अपमानसे बचते और हम खराबीसे बचते। आपका इसे विद्या सिखाना साँपको दूध पिलानेके समान हुआ। खैर, अब आप अपना पुराना बैर याद करके, ऐसी व्यूह-रचना कीजिये कि, पाण्डवोंकी व्यूह-रचना आपकी व्यूह-रचनाके सामने कोई चीज़ न रहे। मगर इससे पहले एक बार आप शत्रुके शूरवीरोंको एक नज़र देख जाइये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

"इस पाण्डवसेनामें, भीम अर्जुन के समान लड़ने वाले, बड़े बड़े धनुर्धारी शूरवीर महारथी युयुधान†, विराट‡, द्रुपद¶, बलवान*

* महारथी—जो अकेला दस हजार धनुर्धारियोंसे लड़ सके, उसे "महारथी" कहते हैं।

† युयुधान—यह नाम "सात्यकि" का है। जो बहुत जोरसे लड़नेवाला हो, उसे "युयुधान" कहते हैं।

‡ विराट—जो शत्रुओंको खूब चक्कर खिलावे, उसे "विराट" कहते हैं। पाण्डवोंने अपने वनवासका पिछला, अज्ञातवासका वर्ष छिपकर, भेष बदलकर, इन्हींके राज्य में काटा था। शेषमें, कौरवोंसे इनकी गौओंको अर्जुन छुड़ा लाया। राजाने अपनी राजकुमारी—उत्तरा अर्जुनके पुत्र अभिमन्युको ब्याह दी।

¶ द्रुपद —(द्रु =वृक्ष, पद= चिह्न) जिसकी ध्वजा—झण्डे—पर वृक्षका चिह्न हो, उसे "द्रुपद" कहते हैं। यह भी पाण्डवोंके सम्बन्धी थे। द्रौपदी इनकी कन्या थी।

धृष्टकेतु, चेकितान, काशीराज, पुरुषोंमें उत्तम पुरुजित्,† कुन्तिभोज, शैव्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र, जो सभी महारथी हैं, यहाँ मौजूद हैं ।*

गुरुजी महाराज ! इस शत्रु-सेनामें एक धृष्टद्युम्न ही चतुर चालाक योधा नहीं है । इस सेनामें धृष्टद्युम्नके अलावः, युयुधान और विराट आदि सत्रह योधाओंमेंसे प्रत्येक महारथी और भीम अर्जुन के समान लड़नेवाला है । इनके सिवा, घटोत्कच आदि और भी अनेक बलवान योधा मौजूद हैं । पाण्डवोंका नाम लेने की तो ज़रूरत ही नहीं ; क्योंकि वह तो त्रिलोक-प्रसिद्ध हैं । मैंने ये तो ऐसे योधाओंके नाम गिनाये है, जिनमेंसे प्रत्येक अकेला दस-दस हज़ार योधाओंसे लड़ सकता है ; रथी और अर्द्ध-रथियोंकी तो गिन्ती ही नहीं ।

गुरुजी महाराज ! मेरे कहनेकी तो ज़रूरत नहीं, परन्तु मौका देखकर कहनाही पड़ताहै, कि आप इन पराक्रमी शत्रुओंकी उपेक्षा न कीजिये—इनको कम न समझिये । ये बड़े प्रभावशाली शत्रु हैं । आप इनको पराजित करनेकी तदबीरोंमेंसे कोई तदबीर उठा न रखिये ।

एक बात और भी है, कि कहीं आप यह न समझ लें कि, मैं पाण्डव-सेनाके योधाओंको देखकर डर गया हूँ । डरनेकी कोई बात नहीं है । अपनी सेनामें भी बड़े-बड़े बलवान योधा मौजूद हैं । लीजिये, आपकी जानकारीके लिये, अपनी ओरके शूरवीरोंके भी नाम गिनाये देता हूँ :—

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

---

* धृष्टकेतु—जिसकी ध्वजा देखनेसे शत्रु डरे, उसे "धृष्टकेतु" कहते हैं ।

† पुरुजित—(पुरु—बहुत, जित—जीतनेवाला)जो, बहुतोंको जीते, उसे "पुरुजित" कहते हैं ।

हे विप्रवर! अब आप मेरी सेनाके अत्यन्त प्रसिद्ध योद्धाओं, मेरी सेनाके सञ्चालकोंके नाम सुन लीजिये। मैं आपकी जानकारीके लिये उनके नाम आपके सामने कहता हूँ।

हे द्विजोत्तम! आप शत्रु-सेनाके बलवान सेनापतियोंके नाम सुनकर मनमें और बात न समझिये। हमारी ओरके दो एक सेनापति पाण्डवोंसे प्रीति रखते हैं, अगर वे लोग पाण्डवोंमें जा भी मिलें, तोभी मेरी हानि नहीं*। मेरी सेनामें भी अनेक बलवान, युद्ध-विद्या-विशारद, अनुभवी सेनापति और असंख्य योधा हैं। मेरी सेनाका कोई सेनापति और योधा आपसे छिपा नहीं है; तथापि आपका ध्यान विशेष रूपसे दिलानेको, मैं अपने शूर सेनापतियोंमें से चन्द सर्वश्रेष्ठ, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध योधाओंके नाम आपको सुनाता हूँ। सुनिये—

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

मेरी सेनामें, आप हैं, भीष्म हैं, कर्ण हैं, संग्राम-विजयी कृपाचार्य हैं, अश्वत्थामा हैं, विकर्ण हैं और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा है+।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

---

* द्रोण और भीष्म पाण्डवोंको बहुत चाहते थे और अन्दरसे पाण्डवोंकी ही जय चाहते थे; मगर धर्म-वश कौरवोंकी ओरसे लड़नेको तय्यार थे। दुर्योधनके मनमें इन्हींकी ओरसे खटका था। इससे उसने द्रोणको चतुराईसे यह बात सुना दी है, कि अगर आप शत्रु-पक्षमें हो भी जायँ, तोभी मेरी कुछ हानि नहीं हो सकती। दुर्योधनने कुढ़कर ही द्रोणाचार्यको "द्विजोत्तम" कहा है।

+ द्रोणाचार्यको खुश करनेके लिये, दुर्योधनने सबसे पहले द्रोणाचार्यका और अपने भाई विकर्णके पहले उनके पुत्र अश्वत्थामाका नाम लिया है। यह, मतलबकी खुशामद है।

मेरे लिये प्राणोंकी पर्वा न करनेवाले और भी कितने ही शूरवीर हैं, जो नाना प्रकारके शस्त्र चलाते हैं और सबके सभी युद्धविद्या में निपुण हैं ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषाम् बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

"तथापि भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना समर्थ नहीं जान पड़ती और पाण्डवसेना, भीम द्वारा रक्षित होनेसे, समर्थ जान पड़ती है ।

गुरुजी महाराज ! आप यह न समझिये, कि मेरी ओर भीष्म, कर्ण, कृप, विकर्ण और भूरिश्रवा आदि योधा ही हैं । ये तो मैंने मुख्य-मुख्य योधाओंके नाम गिनाये हैं । इनके सिवा, मेरी ओर, और भी शल्य, भगदत्त आदि भयङ्कर कर्म करनेवाले अनेक योधा हैं । इन सबने मेरी जयके लिये अपने जीवनको भी बाज़ी लगा दी है । मेरे सैनिक और सेनापति पाण्डवोंके सैनिक और सेनापतियोंसे किसी बातमें कम नहीं हैं, बल्कि कितनोंही बातोंमें उससे ज़ियादा हैं । सभी मेरे अनन्य भक्त और मेरे लिये जान देनेको तय्यार हैं ।

इसके सिवा, मेरी सेना ग्यारह अक्षौहिणी और शत्रु-सेना सात अक्षौहिणी है । हमारी सेनाके रक्षक प्रधान सेनापति भीष्म पितामह हैं । पितामह वृद्ध, अनुभवी और सुचतुर हैं ; इससे साफ़ ज़ाहिर है, कि हमारी सेना शत्रु-सेनासे बलवान है ; क्योंकि भीमसेन, यद्यपि जवान और बलवान है; तथापि, युद्ध-विद्यामें निरा गँवार है । फिर भी; अगर मुझे कुछ कमज़ोरी जान पड़ती है, तो भीष्मकी ओरसे ही जान पड़ती है ; क्योंकि वह बूढ़े हैं, इसलिये सब ओर अपनी नज़र न रख सकेंगे । ऐसा न हो, कि शत्रु उन्हें धर दबावें और अपना खेल चौपट हो जावे । इसके सिवा भीष्म पाण्डवोंसे आन्तरिक स्नेह भी रखते हैं ; इससे मुझे खटका है, कि वह कहीं मेरी ही सेना को न कटवा दें ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

"इसलिये आप सभी सेनापति, सेनाके अलग अलग विभागोंमें, अपने-अपने मोर्चों पर डटकर, सब ओरसे भीष्मकी ही रक्षा करें।"

गुरुजी महाराज! आप सारेही सेनापति, सैन्य-पंक्तिके जुदे-जुदे हिस्सोंपर जमकर, भीष्मपर नज़र रक्खें; क्योंकि भीष्म बूढ़े हैं और वही प्रधान सेनापति हैं; ऐसा न हो कि शत्रु उन्हें घेर लें अथवा वह अपनी सेनाको जान बूझकर आपही कटवा दें।

भीष्म पितामह दुर्योधनको द्रोणाचार्यसे बातें करते हुए देखकर ताड़ गये, कि राजाके मनमें हमारी ओरसे खटका है; इसलिये उन्होंने विचार कर लिया, कि दुनिया बुरा कहे चाहे भला, हमें दुर्योधनके लिये लड़ना और अपना यह शरीर छोड़ना ही पड़ेगा; इससे अब विलम्ब करना व्यर्थ है।

दोनों तरफकी फौजें लड़नेको तय्यार।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ २१ ॥

दुर्योधन के प्रसन्न करनेके लिये, कुरुवंश के वृद्ध, प्रतापी भीष्म पितामहने, सिंहके समान गरजकर, अपना शंख बजा दिया।*

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

तब शंख, भेरी, मृदंग, नगाड़े, रणसिंघे आदि अनेक प्रकारके बाजे बजनें लगे। इनका भारी कोलाहलकारी शब्द हुआ।

सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा, कि हे राजन्! बूढ़े पितामह भीष्मने, अपने पूर्व निश्चयानुसार, अनिच्छा होते हुए भी, अपना शङ्ख ज़ोर शोर

* जिस तरह आजकल युद्धमें बिगुल (*Bugle*) काममें लाया जाता है; प्राचीनकाल में, यानी अबसे पाँच हजार साल पहलेके जमानेमें, भारतवर्षमें, युद्धमें बिगुलोंकी जगह शङ्ख काममें लाये जाते थे।

से गरजकर बजा दिया। प्रधान सेनापतिका शङ्ख बजते ही, अन्यान्य सेनापतियोंके शङ्ख और सेनाके भेरी, मृदङ्ग, नगाड़े आदि लड़ाईके बाजे बजने लगे।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥ १४॥

*इसके बाद सफेद घोड़ोंके रथ*में बैठे हुए माधव + और पाण्डु-पुत्र‡ने भी अपने-अपने अलौकिक शंख बजाये।*

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥

*हृषीकेश*ने पांचजन्य†, धनञ्जय‡ने देवदत्त§ और भयानक कर्म करनेवाले वृकोदर¶ ने अपना पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया।*

---

* एक बार खाण्डव वनको जलाकर अर्जुनने अग्निदेवको प्रसन्न किया था। उन्होंने अर्जुनको एक सफेद घोड़ोंका रथ दिया था। वह रथ अलौकिक था। उसे शत्रु चलायमान् नहीं कर सकते थे।

+ माधव—कृष्णका नाम है। उन्होंने मधु नामक दैत्यको मारा था।

‡ पाण्डु-पुत्र=पाण्डुका पुत्र। यहाँ यह शब्द अर्जुनके लिये इस्तेमाल हुआ है।

* हृषीकेश= (हृषीक + ईश, हृषीक=इन्द्रियाँ, ईश=स्वामी) जो इन्द्रियोंका स्वामी यानी उनको अपने-अपने कर्ममें लगानेवाला हो, उसे 'हृषीकेश' कहते हैं। जिसमें यह गुण हों, वह अन्तर्यामी ईश्वर है। यह कृष्णका दूसरा नाम है।

+ पांचजन्य—कृष्णके शङ्खका नाम पाँचजन्य था। उन्होंने एक बार पाँचजन नामक बलवान दैत्यको समुद्रमें मारा। उस दैत्यके पेटमेंसे वह शङ्ख निकला; इसवास्ते उसका नाम पाँचजन्य पड़ा।

‡ धनञ्जय—यह अर्जुनका नाम है। अर्जुन जिन जिन देशोंपर चढ़कर गया, उन उन देशोंमें उसीकी जीत हुई। वह सब राजाओंको हराकर, उनका धन जीत लाया, इसीसे अर्जुनका नाम "धनञ्जय" (धन जीतनेवाला) हुआ।

§ देवदत्त—यह नाम अर्जुनके शङ्खका था; क्योंकि वह देवताओंसे अर्जुनको मिला था।

¶ वृकोदर—यह नाम भीमसेनका है। इस नामका अर्थ है बैलकेसे पेटवाला। भीमसेनका यह नाम इसलिये रक्खा गया था, कि वह बैलकी तरह बहुतसा खा और पचा सकते थे और इसीसे वह बहुत बलवान थे।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

*कुन्तीपुत्र राजा*युधिष्ठिरने अनन्तविजय, नकुलने सुघोष और सहदेवने मणिपुष्पक शंख बजाया।*

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

*महाधनुर्धर काशी*के राजा, महारथी शिखण्डी†, धृष्टद्युम्न, विराट, किसीसे भी हार न खानेवाले सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदीके पाँचों बेटों, और हे पृथ्वीनाथ! महाबाहु ‡ अभिमन्यु § इन सबने अपने-अपने शंख बजाये।*

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

---

* जिस समय युद्ध होनेवाला था, उस समय युधिष्ठिरके हाथमें एक गाँव अथवा बीघे-भर जमीन भी न थी; परन्तु वह धर्मात्मा थे, राज्यके सच्चे मालिक थे, उन्होंने सब देशोंको जीतकर राजसूय यज्ञ किया था; इसीसे सञ्जयने उनके लिये 'राजा' शब्द इस्तेमाल किया और अन्धे राजाको यह दिखाया, कि वह धर्मराजके वरदानसे पैदा हुए कुन्तीके प्रभावशाली पुत्र हैं; जय उनके साथ है; राजा पदके सच्चे अधिकारी वही हैं और अन्तमें उन्हींकी जीत होगी।

* काशी—आजकलकी बनारस।

† शिखण्डी—उसे कहते हैं जिसके मुँहपर मूँछें न हों। शिखण्डी पूर्व जन्ममें एक राजकन्या थी। इससे और भीष्म पितामहसे वैर पड़ गया था। अपना बदला लेनेके लिये ही, उस कन्याने राजाके घरमें जन्म लिया। यह पञ्जाबका राजा था।

‡ महाबाहु—जिसकी भुजाएँ घुटनों तक पहुँच जायँ, उसे महाबाहु कहते हैं।

§ अभिमन्यु—श्रीकृष्ण भगवान्‌का भाञ्जा और सुभद्रासे पैदा हुआ अर्जुनका पुत्र था। वह बड़ा बलवान था। अकेला छः छः महारथियों से लड़ा था।

बड़े बड़े शंखोंकी उस आवाज़ने, आकाश और पृथ्वीमें गूँजकर, धृतराष्ट्रके पुत्रोंके कलेजे फाड़ डाले ।

हे राजा धृतराष्ट्र ! जब आपकी सेनाके बाजे बज चुके, तब पाण्डव-सेनाकी ओरसे संसारके हर्त्ता कर्त्ता विधाता, सर्वेश्वर, श्रीकृष्णने अपना शङ्ख बजाया । इसके बाद अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर आदिने अपने-अपने शङ्ख बजाये । आपकी ओरकी शङ्खोंकी आवाज़ सुनकर पाण्डव-सेना जैसी-की-तैसी खड़ी रही ; मगर पाण्डव-सेनापतियोंके शङ्खोंकी आवाज़से आपके पुत्रोंके हृदय फट गये । इससे हे राजन् ! आपकी सेनाकी कमज़ोरी दीखती है ।

हे राजन् ! जिस पाण्डव-सेनामें देश-विदेशको जीतकर धन लानेवाले, अपने युद्धसे महादेवको सन्तुष्ट करनेवाले, अग्निदेवसे मिले हुए सफेद घोड़ोंके रथमें बैठनेवाले, कृष्णके मित्र अर्जुन हैं ; जिस सेनामें भयानक-भयानक कर्म करनेवाले बलवान भीमसेन हैं ; जिस सेनामें जय-रूप फलके भागी, धर्मराजके वरदानसे पैदा हुए, कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर हैं ; जिस सेनामें दस-दस हज़ार योधाओंके साथ लड़नेवाले शिखण्डी और सुचतुर धृष्टद्युम्न हैं;और जिस सेनामें किसीसे भी कभी न हारनेवाले सात्यकि और कृष्ण के भाञ्जे, सुभद्रा और अर्जुनके बेटे, महाबाहु अभिमन्यु हैं ; और सबसे ऊपर, जिस सेनाके रक्षक स्वयं हृषीकेश भगवान् हैं और उन्होंने ही पहले शङ्खका श्रीगणेश किया है, भला उस सेनासे, हे राजा ! तेरे पुत्रोंकी सेना कैसे विजय लाभ करेगी ?

आगे क्या हुआ ? सुनिये महाराज !

अर्जुनका शत्रु-सेनापर नज़र डालना ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

हे पृथ्वीनाथ ! जब अर्जुनने देखा, कि कौरव सब तरहसे लड़नेको तैय्यार खड़े हैं और हथियार चलाना ही चाहते हैं ; तब उसने अपना गाण्डीव धनुष सम्हालकर श्रीकृष्णसे यह कहा:—

अर्जुन उवाच ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अर्जुनने कहा :—

"हे अच्युत ! दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करो । मैं अच्छी तरह देखना चाहता हूँ, कि कौन-कौन मुझसे युद्ध करना चाहते हैं और किन-किनके साथ मुझे युद्ध करना उचित है ।

"मैं उन्हें अच्छी तरह देखना चाहता हूँ, जो धृतराष्ट्रके कुबुद्धि पुत्र दुर्योधनकी भलाई की इच्छासे, युद्ध करनेके लिये, इस समरक्षेत्रमें आये हैं ।"

हे धृतराष्ट्र ! अर्जुन कृष्णसे कहता है, कि हे अविनाशी ! हे निर्विकार ! आप मेरे रथको ऐसे स्थानपर, दोनों सेनाओंके बीचमें, खड़ा कीजिये जहाँसे मैं अच्छी तरह देख सकूँ, कि कौन-कौन लड़ने आये हैं और मुझे किन-किनसे लड़ना चाहिये । यह सब देखा-भाली करनेकी ज़रूरत इसलिये हुई कि, यह लड़ाई सम्बन्धी-सम्बन्धियोंकी है । इसमें कोई हमारा मामा है, कोई चाचा है, कोई गुरु है, कोई भाई है और कोई मित्र है । अगर यह लड़ाई आपसवालोंकी न होती, तो मैं आपसे ऐसा न कहता और मुझे वहाँ चलकर देखना ही क्या था ? मुझे शत्रुसे लड़ना ही था ; मगर यहाँ तो बात और ही है । मुझे उम्मेद नहीं

है, कि जिन्होंने कमअक्ल दुर्योधनका साथ दिया है,. जो दुर्योधनको जितानेकी इच्छासे ही लड़नेको आये हैं और इसीमें दुर्योधनकी भलाई समझते हैं, आपसमें मेल करा देंगे। मैं तो सिर्फ लड़नेवालोंको एक नज़र देखना चहता हूँ। रही यह बात, कि वह स्थान जहाँ मैं आपसे रथ ले चलनेको कहता हूँ, निस्सन्देह बड़ी जोखिम का स्थान है; मगर आपके लिये कहीं जोखिम नहीं है, आपको कहीं भय नहीं है,क्योंकि आप अविनाशी हैं। इस भूमण्डल ही पर क्या त्रिलोकीमें भी कोई आपका सामना करनेवाला नहीं है। हाँ, एक बात और है, कि मैंने दास होकर जो स्वामीकी भाँति आपको आज्ञा-सी दी है, उसके लिये आप मुझे क्षमा करेंगे। मैं जानता हूँ, कि आप अच्युत—निर्विकार—हैं। क्रोध आदि विकार आपसे कोसों दूर भागते हैं।

सञ्जय उवाच।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

सञ्जयनेकहा :—

*हे भारत! गुड़ाकेश*के ऐसा कहनेपर, कृष्ण भगवान्‌ने उस उत्तम रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करके, भीष्म, द्रोण और समस्त राजाओंके सामने अर्जुनसे कहा,—"हे पार्थ! इन कौरवोंके जमघटको देख ले।"*

सर्वेश्वर कृष्ण, अर्जुनकी स्वामीके समान आज्ञा सुनकर, ज़रा भी नाराज़ न हुए; क्योंकि वह तो सदासे भक्तोंके अधीन हैं।

---

* गुड़ाकेश—(गुड़ाका+ईश, गुड़ाका=नींद, ईश=स्वामी) जो नींदका स्वामी हो अथवा जिसने नींद जीत ली हो, उसे गुड़ाकेश कहते हैं। अर्जुनने नींद काबमें कर रक्खी थी, इसीसे उसे गुड़ाकेश भी कहते थे।

उन्होंने शीघ्र ही रथ ले जाकर वहाँ खड़ा कर दिया, जहाँ स्वयं भीष्म, द्रोण और अन्यान्य राजा-महाराजा मौजूद थे। उन्हें किसका भय था, ? जो अलौकिक रथ स्वयं अग्निदेवने अर्जुनको दिया था, जिस रथकी ध्वजापर हनुमानजी विराजमान रहते थे, जिस रथमें बैठनेवाले त्रैलोक्य-विजयी महा धनुर्धर अर्जुन थे और जिस रथके हाँकनेवाले सर्वशक्तिमान कृष्ण भगवान् थे, उस रथकी गतिको कौन रोक सकता था ?

जब रथ भीष्म, द्रोण तथा अन्यान्य राजाओंके सामने खड़ा हो गया; तब कृष्ण भगवान्ने, अर्जुनके मनको ताड़कर उसको हँसी करके कहा—"हे शोक मोहमें सदा डूबी रहनेवाली माता पृथा—कुन्ती—के पुत्र! तेरे ढँगसे जान पड़ता है, कि तुझे शोक और मोहने घर दबाया है। अब तू लड़ना नहीं चाहता। मेरी समझमें नहीं आता, कि तू यहाँ क्यों आया है। खैर, अब आ तो गया ही, ले देखले, कौरव लोग किस तरह लड़नेको इकट्ठे हुए हैं।"

अर्जुनने क्या देखा ?

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

यहाँ अर्जुनने चाचा, दादा, गुरु, मामा, भाईबन्धु, पुत्र, पौत्र, सखा, सुसर और मित्र ही दोनों सेनाओंमें देखे।

कृष्णके यह कहनेपर कि—"हे अर्जुन! इन कौरवोंके जमघट को देखले", अर्जुनने शत्रु-सेनापर नज़र दौड़ाई, तो उसे हर तरफ भूरिश्रवा आदि चाचा, भीष्म आदि दादा, शल्य शकुनि आदि मामा, दुर्योधन, दुःशासन आदि भाई तथा अश्वत्थामा आदि मित्र और पुत्र-पौत्र दिखाई दिये। अपनी सेनामें भी उसे भाई, साले, ससुरे, बेटे, पोते आदि ही नज़र आये।

उनको देखकर अर्जुनकी क्या हालत हुई ?

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥

उन सब सम्बन्धियोंको खड़े हुए देखकर, अर्जुनके जी में बड़ी गहरी दया उत्पन्न होगयी और वह दुःखित होकर यह कहने लगा—

अर्जुनके नैराश्य-पूर्ण शब्द ।

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

अर्जुनने कहा :—

"हे कृष्ण ! युद्ध करनेकी इच्छासे तय्यार खड़े हुए इन अपने भाईबन्दोंको देखकर, मेरे अंग-प्रत्यंग ढीले पड़े जाते हैं—मेरा मुँह सूखा जाता है, मेरा शरीर काँपता है और मेरे रोएँ खड़े हो गये हैं ।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

"गाण्डीव धनुष हाथसे गिरा चाहता है, मेरा सारा शरीर जला जाता है, मुझमें खड़े रहनेकी शक्ति नहीं है, मेरा मन चक्कर खा रहा है ।*

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

"हे †केशव ! शकुन भी मुझे बहुत बुरे दिखाई देते हैं । लड़ाई में अपने ही भाईबन्दोंके मारने में, मुझे तो कुछ लाभ नहीं दीखता ।

---

* गाण्डीव—'गाण्डि' गाँठको कहते हैं । उस धनुषमें गाँठ थी, इससे वह गाण्डीव कहलाता था । वह धनुष पहले प्रजापति और वरुण आदिके पास था ।

† केशव—(क=ब्रह्मा, ईश=रुद्र) यह दोनों ब्रह्मा और रुद्र प्रलयके समय, उपाधि भेदको छोड़कर, एक आत्म-स्वरूपमें रहते हैं, तब उन्हें "केशव" कहते हैं । जो जलपर सोता है, उसे भी 'केशव' कहते हैं । आत्मस्वरूप होनेसे भगवान्‌का नाम भी "केशव" पड़गया है । जिसके बाल खूब सुन्दर हों, वह भी "केशव" कहलाता है ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

मुझे जयकी ज़रूरत नहीं । हे कृष्ण ! मुझे राज्यकी दरकार नहीं । मुझे सुख भोगनेकी इच्छा नहीं । हे गोविन्द ! * *राज्य, सुखभोग और जीवनसे क्या लाभ होगा ?*

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं,—वे तो धन और प्राणकी बाजी लगाकर यहाँ मरने-मारनेको खड़े हैं ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

ये हमारे गरु, पिता, पुत्र, दादा, मामा, सुसर, पोते, साले, और सम्बन्धी हैं

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे मधुसुदन ! ये चाहे मुझे मार डालें पर मैं तो इन्हें तीन लोकके राज्यके लिये भी नहीं मारना चाहता, फिर इस पृथिवीका राज्य क्या चीज़ है ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन§ ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या सुख मिलेगा ? इन महा अधर्म्मियोंके मारनेसे हमें पाप ही लगेगा ।

---

* गोविन्द—कृष्णका नाम है । वह गो अर्थात् इन्द्रियोंके प्रेरक हैं, इससे, उनका यह नाम हुआ । वेदान्तसूत्रों या उपनिषदोंसे जिसका ज्ञान हो, उसे भी "गोविन्द" कहते हैं ।

§ जनार्दन—यह भी कृष्णका नाम है । संसारको ब्रह्मरूपसे उत्पन्न करनेसे यह नाम पड़ा । जो जनों—मनुष्यों—को पुरुषार्थ और मुक्ति दे, वही जनार्दन कहाता है ।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

"इसवास्ते अपने भाईबन्द, धृतराष्ट्रके पुत्रोंका मारना हमें उचित नहीं । हे माधव ! भला, अपने ही आदमियोंको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?"

अपने सम्बन्धियोंको देखकर, अर्जुनके दिलमें दया उमड़ आई । उसे यह ख्याल होगया, कि मेरे गुरु, भाईबन्द आदि वृथा मारे जायँगे । उस समय वह, शरीरको आत्मा समझकर और आत्माका सच्चा स्वरूप न जानकर, शोक- मोहमें ग़ोते खाने लगा ।

वह भीष्म, द्रोण तथा पुत्र पौत्र, साले ससुरों एवं अन्यान्य सम्बन्धियोंको युद्धके लिये कमर कसे देखकर बेचैन होगया । शोकके मारे उसका मुंह सूखने लगा । उसके सारे बदनमें आग सी लग गयी । वह इतना अधीर होगया, कि उसके हाथसे उसका गाण्डीव धनुष भी गिरने लगा । वह खड़े रहने और अपना शरीर सम्हालनेमें भी असमर्थ होगया ।

उसने खूब सोच- विचारकर कृष्णसे कहा—"हे कृष्ण ! ग़ैरोंके मारनेसे भी पाप लगता है, तब अपनेही आदमियोंके मारनेसे सिवा पापके क्या भलाई होगी ? अपने ही भाईबन्धोंके मारने से मुझे इस लोक और परलोक दोनोंमें कुछ लाभ नज़र नहीं आता । अगर यह मान लिया जाय कि, परलोककी बात तो कौन जानता है, इस दुनियामें तो इनके मारनेसे राज्य मिलेगा, सुख-भोग प्राप्त होंगे तथा विजय होगी ; लेकिन हे कृष्ण ! न मुझे विजयकी दरकार है, न सुख भोग और राज्य की । जब मुझे किसी चीज़की इच्छा ही नहीं है, तब क्यों लड़कर इन अपने ही आदमियोंको मारूँ और पापकी गठरी अपने सिरपर धरूँ ?"

हाँ, मनु महाराजके इस वचनानुसार "वृद्धौ च माता पितरौ भार्या साध्वी सुतः शिशुः । अप्यकार्य शतं कृत्वा भर्तव्यामनुरब्रवीत"

अर्थात् अपने बुढ़े माँ-बाप, पतिव्रता स्त्री, छोटे-छोटे पुत्रोंके लिये; न करने योग्य सैकड़ों काम करके भी पालन पोषण करना चाहिये, मैं सब कुछ करनेको तय्यार हूँ। परन्तु जिनके लिये मैं यह पापकर्म भी करूँ, वह सब तो धन और प्राणकी आशा त्यागकर लड़ने-मरनेको इस युद्ध-क्षेत्रमें डट रहे हैं, फिर कहिये किसके लिये पाप बटोरूँ। देखिये न, सभी तो हमारे सम्बन्धी हैं; कोई गुरु है; कोई दादा है; कोई मामा है; कोई ससुरा है और कोई पोता या साला है।

अगर यह कहा जाय, कि मेरे न लड़नेपर भी तो ये मुझे मार ही डालेंगे; तोभी हे कृष्ण! मैं तो इन पर हथियार न चलाऊँगा; मैं तो इन्हें त्रैलोक्यका राज मिलता देखकर भी न मारूँगा फिर इस पृथिवीके राज्यके लिये मैं इन्हें कब मारने चला? ये चाहे तो मुझे खुशीसे मार डालें। गुरु वगैरः के अलावः, धृतराष्ट्रके पुत्रोंके महा अधर्मी होने पर भी मैं इन्हे मारना पसन्द नहीं करता। इनके मारनेसे भी सिवा पाप बटोरनेके लाभ नहीं है। मुझे तो इस युद्धसे अनेक प्रकारकी हानियाँ और बुराइयाँ ही दिखाई देती हैं।

युद्ध की बुराइयोंसे अर्जुन को दुःख।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥

यद्यपि राज्यके लोभसे इनकी मति मारी गयी है, इन्हें कुलके नाशमें पाप और मित्रोंसे शत्रुता करनेमें पातक नहीं दिखाई देता, तथापि हे जनार्दन! हमें तो कुलके नाशमें बुराइयाँ दीखती हैं; तब हम इस पापसे बचनेका उपाय क्यों न करें?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।

धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुलके नाश होनेसे सनातन कुलधर्म नाश हो जाता है। धर्मके नाश होनेसे सारे कुलमें अधर्म छा जाता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥

अधर्मके फैल जानेसे, हे कृष्ण! कुलस्त्रियाँ खराब हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय! स्त्रियोंके खराब हो जानेसे वर्णसंकर†होता है।*

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

संकर, कुलके नाश करनेवालों और कुलको नरकमें पहुँचाता है; क्योंकि उनके पितर पिण्ड और जल न मिलने से नरक में गिर जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

कुलके नाश करनेवालोंके इन वर्णसंकर फैलानेवाले दोषोंसे जाति और कुलके सनातन धर्मका नाश हो जाता है।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।

नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

---

* वार्ष्णेय—कृष्ण वृष्णि:कुलमें पैदा हुए थे; इससे उनका नाम "वार्ष्णेय" पड़ा। जो ब्रह्मानन्द रूप अमृतको बरसाता है अथवा जिससे पूर्णज्ञान जाना जाता है उसे "वार्ष्णेय" कहते हैं।

† वर्णसङ्कर—दुराचारी (बदचलन) स्त्रियोंकी सन्तानको "वर्णसङ्कर" कहते हैं। जब नीच जातिकी स्त्रीका ऊँच जातिके पुरुषके साथ, या ऊँच जातिकी स्त्रीके साथ नीच जातिके पुरुषका संसर्ग होता है और उससे जो सन्तान पैदा होती है, वह "वर्णसङ्कर" कहलाती है। जब ऐसा ऊँच नीचका संसर्ग होता है, तब वर्ण या जाति नहीं रहती, सब गड़बड़गड़ड़ हो जाता है।

हे जनार्दन! जिन लोगोंके कुलधर्म नाश हो जाते हैं, वे सदा नरक में पड़े रहते हैं; ऐसा हमने सुना है।

हे कृष्ण! दुर्योधन आदि कौरव युद्ध-की हानियोंपर ज़रा भी विचार नहीं करते। लोभने इनकी मति हर ली है। लोभके मारे इन्हें भलाई बुराईका ज्ञान नहीं है। लोभके मारे इन्हें इतना भी नहीं सूझता, कि कुलके नाश होनेसे क्या-क्या बुराइयाँ होंगी; किन्तु हमें तो आपकी दयासे कुछ ज्ञान है, फिर हम जान बूझकर पाप क्यों बटोरें? जिन्हें लोभ हो, वही पापकी गठरी बाँधे।

हे कृष्ण! जब कुलके बड़े बूढ़े मर जाते हैं, तब कुलके अग्नि-होत्र आदि कर्म बन्द हो जाते हैं। घरमें कोई धर्मकी राहपर चलानेवाला नहीं रहता; तब बालक और स्त्रियां, अधर्मसे घिरकर, पाप मार्गपर चलने लगते हैं। सिरपर किसीके न रहनेसे, स्त्रियाँ पातिव्रत धर्मको भूलकर व्यभिचारिणी होजाती हैं। उस समय स्त्रियाँ ऊँच जाति, नीच जाति अथवा जाति कुजातिका ख्याल न करके जिस तिसके संसर्गसे सन्तान पैदा करती हैं; तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब एक होजाते हैं। उस समय वह वर्णसङ्कर सन्तान कुलके नाश करनेवालोंको तथा कुल पितरोंको नरकमें ले जा पहुचाता है; क्योंकि इस तरहके पैदाहुए पुत्र से स्त्री का असली पति पिण्ड जल आदिका अधिकारी नहीं रहता; तब उसके बाप दादे किस तरह अधिकारी हो सकते हैं? ऐसी हालतमें उन पितरों को स्वर्गसे उलटा नरकमें आना पड़ता है। वर्णसङ्कर पैदा होनेसे जाति नष्ट होजाती है और साथही कुल-धर्म्म नाश होजाते हैं; फिर बेचारे पितरोंको सदा नरकमें ही रहना पड़ता है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हंन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

हाय ! बड़े दुःखकी बात है, जो राज्यके लोभसे हम लोग भारी पाप करनेको तय्यार हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

धृतराष्ट्रके पुत्र, हाथोंमें हथियार लेकर, मुझे ऐसी असहाय अवस्थामें जबकि मेरे हाथमें हथियार न हों और मैं उनका सामना भी न करूँ, मुझे मारडालें तो यह कहीं उससे अच्छा होगा।

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

युद्धक्षेत्रमें, इस प्रकारकी बातें कहकर, धनुषबाणको एक ओर फेंककर, शोकसे दुःखी होकर, अर्जुन रथमें पीछेकी ओर सरककर बैठ गया।

हे कृष्ण ! अहिंसाको सबसे बड़ा धर्म है। लोगोंको राज्य-लोभ से मारना, कुल धर्म नाश करना, वर्णसङ्कर पैदा करना, इस लोकमें बदनामी और पर लोकमें नरककी निशानी समझता हूं। मुझे तो इससे कोई लाभ नहीं जान पड़ता। अगर कौरव लोग इन हानियोंको न समझकर युद्ध करना चाहें तो करें; मैं तो हाथमें हथियार न रक्खूंगा और अगर वह लोग हथियार लेकर मुझ निःशस्त्रको मारने आवेंगे, तो मैं आत्मरक्षाके लिये भी उन्हें हथियार चलानेसे न रोकूंगा। इन सबके साथ लड़कर, अनेक अनर्थोंका बीज बोकर, राज्य हासिल करनेसे मेरा मरना बहुत अच्छा है। ऐसा कहकर, धनुष फेंककर, अर्जुन रथमें पीछेकी ओर तकियेके सहारे बैठ गया और उसने लड़नेका इरादा बिल्कुल छोड़ दिया।
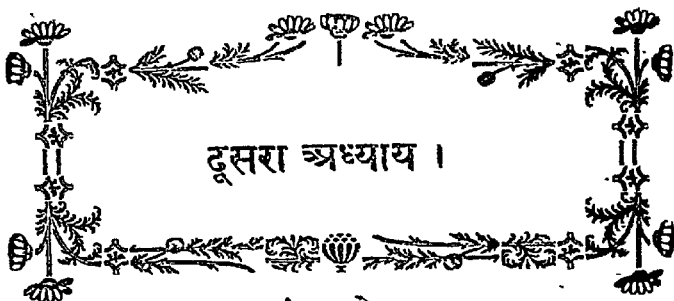
दूसरा अध्याय ।

सांख्य योग ।

जब धृतराष्ट्र ने यह सुना, कि अर्जुनको मारकाट पसन्द नहीं है, वह प्राणी-हत्या को महापाप समझता है ; हत्या करके राज्य पाने से भीख माँग कर गुजारा करना कहीं अच्छा समझता है ; तब वह, यह समझकर कि अब अर्जुन लड़ेगा तो नहीं और राज्य मेरे पुत्रों के क़ब्ज़े में बना रहेगा, बहुत खुश हुए । उन्होंने उसके आगेका हाल जानना चाहा । तब सञ्जय कहने लगा—

भगवान् द्वारा अर्जुनकी कायरताकी निन्दा ।

सञ्जय उवाच ।

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

सञ्जयने कहा :—

*इस भाँति दयासे परिपूर्ण, आँखों में आँसू भरे हुए, उदास, अर्जुनसे मधुसूदन*भगवान यहकहने लगे:—*

अपने भाईबन्द भीष्म दुर्योधन आदिको लड़ाईके मैदानमें मरने-मारनेको तय्यार देखकर, अर्जुनका हृदय मोहके मारे दयासे भर

*मधुसूदन—कृष्णने मधु नामक दैत्यको मारा, तबसे उनका नाम मधुसूदन पड़ा । सञ्जयने, इस मौके पर, कृष्णके स्थानमें मधुसूदन नाम लेकर, धृतराष्ट्र को यह दिखाया है, कि जिनका स्वभाव दुष्टोंके नाश करनेका है वह अर्जुनको तुम्हारे पुत्रोंके नाश करनेकी ही सलाह देंगे अथवा अर्जुनको निमित्त बनाकर स्वयँ उनका नाश करेंगे । ऐसी हालतमें, जब कि कृष्ण अर्जुनके मित्र और सारथी हैं, तुम्हें अपने पुत्रोंकी जीतकी आशा हरगिज़ न करनी चाहिये ।

गया। उनके नाश होनेके खयालने, वह अत्यन्त दुःखी हुआ। यह समझकर, कि मैं अपनी आंखोंसे आगे होनेवाले भयानक काण्ड, अपने भाई-बन्धुओंके मरणको कैसे देखूंगा, उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और उसके नेत्रोंसे एक प्रकारका घबराहट—नैराश्य—झलकने लगा। जिस समय अर्जुनकी ऐसी हालत हो रही थी, तब स्वभावसे ही दैत्योंके नाश करनेवाले, मधुसूदन भगवान्, अर्जुनसे तर्क-वितर्क और युक्तियोंके साथ यह कहने लगे—

* श्रीभगवानुवाच।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

हे अर्जुन! इस रणक्षेत्रमें, तुझमें यह कायरता कहाँ से आई? इस प्रकार लड़ाईसे मुँह मोड़ना आर्योंको नहीं सोहता। इससे न स्वर्ग मिलता है और न कीर्ति फैलती है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

हे पृथापुत्र! ऐसे कायर मत बनो। यह कायरता तुम्हारे योग्य नहीं है। हे शत्रुसूदन! अपने मनकी इस तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर, युद्धके लिए खड़े हो जाओ।

हे अर्जुन! अपने भाई-बन्दोंको अपना और अपने तईं उनका समझकर तू मोह और शोकमें डूब गया है। आँखोंमें आँसू भरकर जो कमज़ोरी—कायरता तैंने इस कुसमयमें दिखाई है, यह तुझमें कहाँसे आयी? लड़ाई से मुंह मोड़ना अनार्यों—नीचों—को शोभा देता है। तुझ जैसे श्रेष्ठ पुरुषोंको वह नहीं सोहता क्या तू समझता है, कि इस लड़ाई में नलड़नेसे मेरी मोक्ष हो

* सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य, और ज्ञान, इन छहों को 'भग' कहते हैं। जिसमें यह छहों हो, उन्हें 'भगवान' कहते हैं।

जायगी अथवा मुझे स्वर्ग मिलजगाया या मेरी नेकनामी होगी ? अगर तेरा ऐसा ख्याल है, तो तू गलती पर है। इस कायरपनसे न तेरी मोक्ष होगी, न स्वर्ग मिलेगा और न तेरा यश ही फैलेगा। हे अर्जुन ! तू इन्द्रके वरदानसे पैदा होनेके कारण जन्मसे ही बलवान है। तैंने एक समय साक्षात् शिवजीसे युद्ध करके अपने को जगत् प्रसिद्ध किया है। तेरा प्रभाव तीन लोकमें प्रकट है। तेरा नाम ही शत्रुसूदन है। तू अपने हृदयकी दुर्बलताको त्याग और अपने नामके अनुरूप काम कर। अगर तू मोक्ष, स्वर्ग या कीर्ति इनमें से किसी एकको भी चाहता है, तो पहले अपने क्षत्रियत्वके कर्त्तव्यको पालन कर। संसारके बन्धन शोक-मोहसे किनारा खींच और लड़नेके लिये तय्यार हो जा।

अर्जुन भगवान्से शिक्षा देनेकी प्रार्थना करता है।

अर्जुन उवाच।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा :—

हे मधुसूदन ! भीष्म और द्रोण मेरे पूज्य हैं, युद्ध में उनपर बाण कैसे चलाऊँ ?

हे कृष्ण ! मैं शोक और मोहके कारण युद्धसे मुँह नहीं मोड़ता। मेरा इस युद्धसे किनारा करना इस गरज़से है, कि इस युद्धमें सिवा अधर्मके धर्म नहीं दीखता। भीष्म द्रोण हमारे बड़े और गुरु हैं। आपही कहिये, इन पूज्य लोगोंका हमें खूब सम्मान करना चाहिये या इन पर बाणों की वर्षा करनी चाहिये ? इनसे लड़ना, इन पर बाण-वर्षा करना तो दूरकी बात है, मैं तो इनसे मनमें भी द्रोह-भाव रखना महापाप समझता हूं।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

इन महानुभाव गुरुओंको मारनेकी अपेक्षा भीख मांगकर ज़िन्दगी बसर करना अच्छा है। लोभी गुरुओंको अगर मैं मारूँ, तो इस लोकमें ही, मैं खूनसे सने हुए भोगोको भोगूँगा।

हे कृष्ण! यद्यपि ये गुरुजन लोभके वशीभूत हैं; लोभके मारे इन्होंने धर्माधर्म का भी खयाल नहीं किया है; धनके लोभसे ही इन्होंने हम प्यारे शिष्योंका साथ छोड़ दिया है; धनके लोभसे ही इन्होंने कौरवोंका साथ दिया है; तथापि ये बड़े प्रभावशाली हैं। भीष्मने अपने पिताके लिये अपना सारा संसार-सुख छोड़ दिया और कामदेवको जीतकर ब्रह्मचर्य्य पालन किया है। द्रोणाचार्य बड़े तपस्वी और अध्ययनशील हैं। इनके अनेकानेक गुणोंके सामने इनका यह ज़रासा दोष कुछ भी नहीं है। इनके ज़रासे दोषके कारण इनसे लड़ना मुझे पसन्द नहीं। इनके मार डालने से, अगर मैं जीत गया तो मुझे राज्य धन एवं सुख भोग अवश्य मिलेंगे; परन्तु इस तरह राज्य और सुख-भोगों के हासिल करने से मेरी इस लोकमें निन्दा होगी और परलोकमें वे मेरा साथ न देंगे। फिर ऐसे, सदा स्थिर न रहने वाले, राज्य और सुख-भोगोंसे क्या लाभ?

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६॥

हे कृष्ण! मैं नहीं जानता कि भीख माँगना और युद्ध करना, इनमेंसे कौन हमारे लिये अच्छा है। मैं यह भी नहीं जानता, कि हम कौरवों को जीतेंगे अथवा वे हमें जीतेंगे। जिन्हें मारकर हम जीना नहीं चाहते, वे कौरव ही हमारे मुक़ाबलेको खड़े हुए हैं।

हे कृष्ण! मैं जानता हूँ, कि क्षत्रियके लिये भीख माँगकर कालक्षेप करना अनुचित और युद्ध करना उचित है; परन्तु इस

मौकेपर मेरी समझमें नहीं आता, दूसरोंको न मारकर भीख माँगना अच्छा है या अपने क्षत्रिय-धर्म-अनुसार शत्रुओं से लड़ना। अगर अपने धर्मानुसार, मैं लड़नेको ही अच्छा समझ लूँ तो यह भी तो नहीं मालूम होता, कि हम जीतेंगे या हमारे विपक्षी जीतेंगे। मान लो, कि वही जीत गये और हम युद्धमें मारे न गये तो हमें अन्तमें भिक्षा माँगकर गुज़र करनी होगी। अगर आपकी कृपासे हम ही जीत गये तो क्या होगा? ऐसी जयको भी हम अपनी पराजयही समझेंगे; क्योंकि जिन्हें मार कर हम जीना ही नहीं चाहते, वे ही तो हमसे लड़नेको खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढ़चेताः।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितंब्रुहि तन्मे शिष्यस्तेऽहंशाधि मांत्वां प्रपन्नम्॥७॥

अज्ञानसे मेरी बुद्धि मारी गयी है। मेरा क्या धर्म है, इस विषयमें मुझे सन्देह हो रहा है। इसलिये जो धर्म हो—ऐसे समयपर कर्त्तव्य हो—वह करनेकी इच्छासे, मैं आपसे पूछता हूँ कि जो बिल्कुल ठीक हो, जिससे मेरी भलाई हो, वही मुझे बताइये। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण आया हूँ, मुझे उपदेश कीजिये।

हे कृष्ण! यद्यपि मैं सब धर्म-कर्म जानता हूँ; तथापि अभीतक तत्वज्ञान न जाननेसे अज्ञानी ही हूँ। इस अज्ञानकी वजह से ही शोक-मोह मेरे पीछे लगे हैं। भीष्म, द्रोण आदिमें मेरी ममता उत्पन्न हो गयी है। इनके मरणका ख़याल आनेसे मुझे दुःख होता है; इसीसे मेरा क्षत्रिय-स्वभाव, इस समय, नष्ट हो गया है।

धर्म क्या है, अधर्म क्या है, यह मेरी समझमें नहीं आता। भीष्म, द्रोण आदिको मारना अथवा उनका पालन-पोषण करना, राज्य करके पृथिवी पालन करना अथवा वनमें रहकर भिक्षा माँगना, इनमेंसे कौनसा धर्म-कार्य है, यह मेरी समझमें नहीं आता।

हे कृष्ण ! आप बड़े हैं, आप ज्ञानी हैं, मैं तो आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण आया हूँ, आपका अनन्य भक्त हूँ, इसलिये दया करके मुझे ऐसी कोई बात बताइये, जिससे मुझे नित्य सुख मिले और मेरा शोक दूर हो जाय।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्—
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं—
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अगर मैं शत्रुहीन धनधान्यपूर्ण सारी पृथिवी का अकेला राजा हो जाऊँ अथवा स्वर्गका राज्य भी मेरे ही हाथ में आजाय, तोभी मुझे नहीं दीखता, कि मेरी इन्द्रियोंका जलाने वाला शोक दूर हो जायगा।

हे कृष्ण ! शोकके मारे मेरी इन्द्रियाँ जली जाती हैं। यह शोक मुझे बहुत दुःख दे रहा है। अगर आप कहें, कि ममता छोड़कर युद्ध क्यों नहीं करते, जिससे राज्य और सब प्रकारके सुख-भोग मिलें; क्योंकि राज्य हाथमें आनेपर तुम्हें शोक न रहेगा। लेकिन कृष्ण ! यदि मैं सारी दुनियाका अकेला राजा हो जाऊँ; दुनियामें मेरा सामना करनेवाला कोई न रहे, मेरे राज्यमें धन-धान्य आदि पदार्थोंकी कमी न रहे, स्वर्गका राज्य भी मेरेही हाथमें आजाय, इन्द्र आदि देवताओं पर भी मैं ही शासन करने लगूँ; तोभी मुझे उम्मेद नहीं, कि इतना वैभव होनेपर भी मेरा शोक दूर हो।

इस लोक और स्वर्गके सुख-भोग मुझे नित्य रहनेवाले नहीं जान पड़ते। एक दिन न एक दिन, उनसे मुझे अलग होना पड़ेगा। जबतक भोग नहीं मिलते, तबतक मनुष्य उनके पानेके लिये शोक करता रहता है, और जब मिल जाते हैं, तब उनके नाश

हो जानेके खटकेसे शोक बना रहता है और जब वे नाश हो जाते हैं, तब उनकी जुदाईसे शोक होता है। इस दुनिया और स्वर्गके पदार्थ अनित्य हैं, नाशवान् हैं, इसलिये उनसे सदा शोकही होता है। मान लीजिये, कि इस युद्धमें हमारी ही जय हो, हम ही सारी पृथिवीके राजा हो जायँ, तो क्या हमारा यह राज्य सदा बना रहेगा? अगर नहीं, तो फिर ऐसे राज्यके लिये लड़नेसे क्या लाभ, जो हमारा होकर भी हमारे पास न रहेगा और अन्तमें शोक ही पैदा करेगा?

सञ्जय उवाच।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तुष्णीं बभूव ह॥ ९॥

सञ्जयने कहा:—

हे धृतराष्ट्र! शत्रुओंको सन्ताप देनेवाला, निद्राको जीतनेवाला अर्जुन, गोविन्द से ऐसा कहकर, कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, चुप हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

हे भारत! दोनों सेनाओंके बीचमें, दुःखी अर्जुनसे भगवान् कृष्ण ने हँसते हुए यह कहा—

एकमात्र आत्मज्ञान से ही दुःख नाश होता है।

गुरू, दादा, चाचा, भाई, मित्र, साले, ससुरे और अन्यान्य सम्बन्धियोंको देखकर अर्जुनके मनमें मोह पैदा हो गया। उसने सोचा—"मैं इनका हूँ और ये मेरे हैं। हाय! इन सबसे मुझे अलग होना पड़ेगा।" जिस समय अर्जुनपर शोक और मोह

ने अपनी छाप नहीं जमाई थी, वह अपने क्षत्रिय-धर्म अनुसार लड़-नेको तय्यार था, लेकिन ज्योंही शोक और मोहने उसपर अधिकार जमा लिया, वह लड़नेसे इँकार कर गया। उस समय उसने अपना क्षत्रिय-धर्म त्यागकर भिक्षुक-जीवन पर ज़िन्दगी बसर करना अच्छा समझा। उसने शोक-मोहसे पराजित होकर, इस बात पर ज़रा भी विचार न किया, कि भिक्षुक-वृत्तिसे जीवन निर्वाह करना ब्राह्मण-जातिका धर्म है; क्षत्रिय-जातिका धर्म लड़कर ज़िन्दगी बिताना है ; श्रुति स्मृतिकी आज्ञानुसार अपना धर्म त्यागकर परधर्म ग्रहण करना अच्छा नहीं है।

अर्जुन की तरह, अनेक लोग, जबकि उनकी बुद्धि शोक और मोहसे मारी जाती है, अपना असली धर्म त्यागकर, ऐसे धर्म पर चलनेके लिये उतारू हो जाते हैं, जो उनके लिये धर्मशास्त्रसे मना है। बहुतसे लोग ऐसे हैं, जो अपने धर्ममें लगे तो रहते हैं, मगर उनके प्रत्येक विचार, प्रत्येक काम, प्रत्येक बात में "अहंभाव" पाया जाता है; यानी मैं यह काम करता हूँ इत्यादि। इसके सिवा, वे अपने प्रत्येक कामके लिये पुरस्कारकी इच्छा रखते हैं। इस भाँति के विचारों से वे धर्म-अधर्मकी गठरी बाँधते हैं। धर्म-अधर्मके जमा होनेसे उन्हें बारम्बार बुरी-भली योनियों में जन्म लेना पड़ता है और सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। उनका संसार-बन्धनसे कभी पीछा नहीं छूटता। यह मेरा है, मैं इसका हूँ, इसके करनेसे पाप होगा, इसके करने से पुण्य होगा, ऐसे विचारोंसे शोक और मोह पैदा होते हैं। शोक-मोह ही संसारके कारण हैं। शोक-मोहके नाश होने से ही संसार से पीछा छूटता है, जन्म-मरण आदि दुःखों से निजात मिलती है ; किन्तु शोक-मोह का नाश, बिना आत्मज्ञान और कर्मों के त्यागके, नहीं हो सकता ; इसलिये भगवान्, सारे संसारके फ़ायदेके लिये, अर्जुनको, इस दूसरे अध्यायके ११ वें श्लोक से "आत्मज्ञान" का उपदेश देते हैं।

ज्ञान और कर्मोंका संयोग होना चाहिये।

कुछ लोगोंका मत इसके विपरीत है। वे कहते हैं—अगर सब कर्म पहलेसे ही त्याग दिये जायँ, तो केवल आत्मज्ञान-निष्ठासेही मोक्ष नहीं हो सकती। तब किससे मोक्ष हो सकती है? निश्चित मोक्ष ज्ञान और कर्मोंके संयोगसे ही सकती है। श्रुति-स्मृतियोंमें जो अग्निहोत्र वगैरः की आज्ञा है, वह उचित है। इस मत को पुष्टिमें वे गीताके दूसरे अध्याय का ३३ वाँ, ४७ वाँ और चौथे अध्यायका १५ वाँ श्लोक बतौर प्रमाण के पेश करते हैं—

"हे अर्जुन! अगर तू इस मौके पर भी, अपने क्षत्रिय-धर्म- अनुसार लड़ाई न करेगा, तो तेरा धर्म नष्ट हो जायगा, कीर्ति जाती रहेगी और तुझे पाप लगेगा।" (अ० २ श्लोक ३३)

"हे अर्जुन! कर्म में ही तेरा अधिकार है, फलमें हरगिज अधिकार नहीं। जो कर्म तू करे उसके हेतु या उसके फलका भोगनेवाला मत हो। तैंने कहा—"मैं युद्ध नहीं करूँगा ऐसे अकर्म में तेरी निष्ठा न हो।" (अ० २ श्लोक ४७)

'पहले जनकादिक मोक्ष चाहनेवालोंने भी ऊपर कही हुई सारी बातें समझकर कर्म किया था; इससे अब तुम भी वही कर्म करो, जो पूर्वपुरुषोंने पहले किया था। (अ० ४ श्लोक १५)

यह हरगिज़ न समझना चाहिये, कि वेदमें लिखी हुई कर्म-पद्धति पर चलने से, वेद की आज्ञानुसार कर्म करने से, निष्ठुरता होती है, अतः वह दूषित है। क्योंकि हमारे भगवान् कहते हैं, कि 'युद्ध करना' क्षत्रियका मुख्य धर्म है। यद्यपि लड़ने से गुरुजन, भाईबन्द आदि पर निष्ठुरता होती है और यह बीभत्स कर्म है; तथापि इससे पाप नहीं लगता। अपने जाति-धर्म त्यागनेके सम्बन्ध में भगवान्ने और भी कहा है—"अपना धर्म और कीर्त्ति त्यागने से तुझे पाप लगेगा।" (अ० २ श्लोक ३३) इन सब बातोंसे

साफ़ ज़ाहिर है, कि यद्यपि वेदकी आज्ञानुसार कर्म करनेसे भूतोंपर निष्ठुरता होती है; तथापि उनके करनेसे पाप नहीं लगता।

सांख्य और योगमें भेद।

ज्ञान और कर्मों के संयोग से निश्चित मोक्ष होती है, यह उपदेश ठीक नहीं है। भगवान्‌ने ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठाको अलग-अलग माना है, क्योंकि इन दोनों की बुनियाद जुदे-जुदे उसूलों पर क़ायम है। भगवान्‌ने इस दूसरे अध्याय के ११ वें से ३० वें श्लोक तक जो आत्माका वास्तविक स्वरूप वर्णन किया है, उसे 'सांख्य' कहते हैं। इतने अंशपर विचार करनेसे यह विश्वास होता है, कि "आत्मामें जन्म वगैरः तब्दीलियाँ न होने से आत्मा किसी कामका कर्त्ता नहीं है," इसे 'सांख्य बुद्धि' कहते हैं। और जो लोग इस मत पर चलते हैं, उन्हें सांख्य कहते हैं।

योग में, इस ख़्यालके उठनेसे पहले कि "आत्मा जन्म-मरण आदि विकारोंसे रहित होनेके कारण, किसी कर्मका कर्त्ता नहीं है," कर्म करने होते हैं और कर्मोंको मोक्षका ज़रिया समझना होता है। आत्मा शरीरसे अलग है, वही कर्म करनेवाला और भोगनेवाला है, यह समझकर धर्म-अधर्मका ज्ञान रखना होता है। यही 'योग-बुद्धि' है। जो इस मत पर चलकर कर्म करते हैं, वे 'योगी' हैं।

इसी मतके अनुसार भगवान्‌ने इसी अध्यायके ३९ वें श्लोक और तीसरे अध्यायके ३ रे श्लोकमें कहा है—

"यह मैंने तुझे आत्म-ज्ञान बताया; अब कर्म-योग को छुन, जिससे ज्ञान प्राप्त होकर तेरे कर्म-बन्धन छूट जायँगे।" (अ० २ श्लोक ३९)

"हे अर्जुन! मैं पहले कह चुका हूँ कि इस जगत्‌में दो प्रकारकी राहें हैं:— सांख्यवालोंको ज्ञान योग की और योगियोंके लिये कर्मयोगकी।" (अ० ३ श्लो०३)

तात्पर्य्य यह है, कि भगवान्‌ने एक ही मनुष्यमें, एक ही समय, ज्ञान और कर्मके संयोगकी असम्भवता देखकर, सांख्य और योगके सम्बन्धमें दो रास्ते बताये, जिनमेंसे एककी बुनियाद तो इस पर है कि "आत्मा अकर्त्ता और एक है और दूसरेकी बुनियाद इस पर है कि आत्मा कर्त्ता है और वह बहुत हैं। इससे प्रगट है, कि वेद की आज्ञानुससार कर्म करना उसे उचित है, जिसके मनमें इच्छा है और जिसे आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहीं है; लेकिन जो इच्छा नहीं रखता और केवल आत्म-लोककी खोजमें है, उसे कर्मोंके करनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि यह मान लिया जाय, कि भगवान्‌का मतलब, एक ही समयमें, ज्ञान और कर्मके संयोगसे है, तो दो प्रकारके जुदे-जुदे लोगोंके लिये उनका दो राहें बताना अनुचित होगा।

ज्ञान और कर्मका संयोग उत्तर भागके विपरीत है।

एक ही समयमें, एकही मनुष्यका 'ज्ञान-योग' और 'कर्म-योग' पर चलना असम्भव है। अगर भगवान् ऐसा उपदेश देते, तो अर्जुन भगवान्‌से, तीसरे अध्यायके प्रथम श्लोकमें, यह प्रश्न न करता—

'हे कृष्ण! अगर आप कर्मयोगसे ज्ञान योग को अच्छा समझते हैं, तो मुझे आप इस भयानक काममें क्यों लगाते हैं?'

अगर ज्ञान और कर्मका संयोग सबके लिये होता, तो वह अर्जुनके लिये भी होता। अगर यह बात होती, तो अर्जुन दो मेंसे सिर्फ़ एकके विषयमें न पूछता—

"हे कृष्ण! आप कर्मोंके छोड़नेको अच्छा कहते हैं, फिर कर्मोंके करनेको अच्छा कहते हैं। मुझे निश्चय करके बताइये कि, इन दोनोंमें से कौन अच्छा है।"

यदि कोई वैद्य किसी शख्‌सको पित्तसे उत्पन्न गरमीको

शान्तिके लिये ऐसी दवा तजवीज करे, जिसमें एक मीठी और दूसरी शीतल ऐसी दो चीज़ें शामिल हों, तो उस समय ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता कि, इन दोनों चीज़ोंमेंसे किस एक ही चीज़से गरमीकी शान्ति हो सकती है?

अगर यों कहें, कि अर्जुनने भगवान्‌के उपदेशको भली भाँति न समझ सकनेके कारण ऐसा सवाल किया; तो उस हालतमें, भगवान्‌को, अर्जुनके सवालके मुआफ़िक़, यह उत्तर देना चाहिये था— "मेरा मतलब ज्ञान और कर्मके संयोगसे था; तुझे क्यों भ्रम हो गया है?" मगर भगवान्‌ने ऐसा उत्तर न देकर, यह उत्तर दिया— "मैं पहले कह चुका हूँ कि इस जगत्‌में दो प्रकार की राहें हैं— सांख्यवालोंको 'ज्ञान-योग' की और योगियोंके लिये 'कर्म-योग' की।" इससे साफ़ ज़ाहिर है, कि भगवान्‌का मतलब ज्ञान और कर्मके संयोगसे नहीं है। अगर ऐसा होता, तो वे दो प्रकारके मनुष्योंको दो प्रकारकी राहें न बताते।

अगर यह कहें, कि ज्ञानका संयोग सिर्फ़ ऐसे कामोंसे हो सकता है, जिसकी स्मृतियोंमें आज्ञा है; यानी एकही शख़्स 'ज्ञान-योग' और 'कर्मयोग' दोनोंका एक ही समयमें साधन कर सकता है; मगर 'ज्ञानयोग' के साथ उन्हीं कर्मोंको कर सकता है, जिन्हें धर्मशास्त्रने करना उचित बताया है। ऐसी दशामें, भगवान् सांख्यलोगोंको 'ज्ञान-योग' और योगियोंको 'कर्मयोग' की दो अलग-अलग राहें न बताते। अगर भगवानका मनूशा यही होता कि, अर्जुन 'ज्ञानयोग' भी साधन करे और धर्मशास्त्रकी आज्ञानुसार अपने क्षत्रिय-धर्मके काम भी करे; तो अर्जुन तीसरे अध्यायके आरम्भमें ऐसा सवाल न करता— "मुझे आप इस भयानक काममें क्यों लगाते हैं?" क्योंकि वह स्वयं जानता था, कि क्षत्रियका काम धर्मशास्त्रानुसार "लड़ना" है।

इन सब दलीलोंसे साबित होगया, कि ज्ञानके साथ ऐसे कर्मोंका भी संयोग नहीं हो सकता, जिनकी कि धर्मशास्त्रमें आज्ञा है; यानी

एकही आदमी, एकही समयमें, 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' दोनोंका साधन नहीं कर सकता; बल्कि, 'ज्ञान-निष्ठा' के साथ उन कर्मोंको भी नहीं कर सकता, जिनकी धर्मशास्त्रमें आज्ञा है। एकही समयमें, एक आदमी 'ज्ञानयोग' का साधन कर सकता है, तो उसी समयमें दूसरा 'कर्म-योगका' का। हाँ, ऐसा हो सकता है, कि एक आदमी पहले 'कर्मयोग' का साधन करे और जब उसे इस योगमें सिद्धि मिल जाय, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, तो दूसरे समयमें इसके बाद 'ज्ञानयोग' का साधन कर सकता है। असल तत्व 'ज्ञानयोग' ही है, उसीसे मोक्ष मिलती है। मगर बिना 'कर्मयोग'के 'ज्ञानयोग' साधन नहीं हो सकता; क्योंकि पहले 'कर्मयोग'से जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब मनुष्य 'ज्ञानयोग' के लायक होता है। इसे उसी तरह समझिये, कि जबतक विद्यार्थी मैट्रीक्युलेशन परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हो लेता, एफ० ए०, बी० ए० में पढ़ने योग्य नहीं होता।

प्रत्यक्ष संयोगके कुछ उदाहरण।

अगर कोई शख़्स जो अज्ञानता, संसारी मोह तथा बुरे स्वभावके कारण पहले कर्मोंमें लगा रहे और पीछे यज्ञ-सम्बन्धी कर्म दान तप वगैरः से अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके, इस ध्रुव सत्य पर पहुँच जाय—"यह सब एक पूर्ण ब्रह्म है और यह कुछ नहीं करता।" इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर, अगर वह दूसरोंको उदाहरण दिखानेको कर्म करता रहे, तो कर्म और उनके फल उसे अपनी ओर न खींच सकेंगे। जो ध्रुव सत्यको जान जाता है, वह ऐसा नहीं ख़याल करता—"मैं काम करता हूँ" और न वह फलों की इच्छा करता है। ऐसी अवस्थामें, कर्म मनुष्यको संसार-बन्धनमें नहीं बाँध सकते।

दूसरा उदाहरण लीजिये,—मान लो, कि कोई शख़्स, स्वर्ग या दूसरे पदार्थों के प्राप्त करने की इच्छा से, अग्निहोत्र आदि यज्ञकर्म

करता है, तो ऐसे कर्मको 'काम्य कर्म' कहते हैं। जब कि यज्ञ आधा पूरा हो, उसी समय यज्ञ-कर्त्ताके मनमें स्वर्ग वगैरः की इच्छा न रहे; लेकिन वह अपना यज्ञ उसी रीतिसे (बिना किसी इच्छा के) करता रहे तो उसे 'काम्यकर्म' नहीं कहते। ऐसी हालतमें, कर्म करता हुआ भी मनुष्य कर्म—बन्धनोंमें नहीं बँधता; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

"जो कर्मयोगी है, जिसका चित्त बिलकुल शुद्ध है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, जो अपने आत्माके समस्त प्राणियोंके आत्मा से अलग नहीं मानता, वह कर्म करता हुआ भी कर्म-बंधनोंसे अलग रहता है।" (अ० ५ श्लोक ७)

"आत्मा न कर्म करता है और न कर्म-फलमें लिप्त होता है।" अ० १३ श्लो० ३२

भगवान्‌ने गीताके चौथे अध्याय में और तीसरे अध्यायमें निम्न-लिखित वचन कहे हैं—

"हे अर्जुन! पहलेके मोक्ष चाहने वालोंने कर्म किये, इसलिये तुम भी कर्म करो।" (अ० ४ श्लोक १५)

"जनक वगैरः ज्ञानी लोग कम करते-करते ही परमपद पा गये, इसलिये तुझे भी, संसारकी भलाईपर नज़र रखकर, काम करना चाहिये॥" (अ० ३ श्लोक २०)

भगवान्‌के उपरोक्त वचनोंसे हम दो अर्थ निकालते हैं:—(१) मान लो कि, जनक वगैरः मोक्ष चाहने वाले ध्रुव सत्य को जानकर भी कर्ममें लगे रहे। उन्होंने कर्म इस ग़रज़ से किये, कि लोग हमें देखकर कर्म करते रहें और भटकते-भटकते विपथगामी न हो जाँय। जिस समय वे लोग कर्म करते थे, उन्हें इस बातका निश्चय था, कि इन्द्रियाँ ही विषयोंमें लगी हुई हैं, लेकिन आत्मा का उनसे कुछ भी सरोकार नहीं है: क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

"जो शख्स सत्व आदि गुण और उनके कर्मोंके विभागको जानता है, वह यही समझता है कि, सत्व आदि गुण स्वयं काम कर रहे हैं और इसीलिये वह उनमें आसक्त नहीं होता।" (अ० ३ श्लोक २८)

पहलेके मोक्ष चाहने वाले कर्म करते थे, मगर उन्हें गुणों द्वारा

किया हुआ समझते थे। आत्मासे उनका कुछ सम्बन्ध न समझते थे और इसीसे कर्मोंमें आसक्त न होते थे। बस, इस तरह कर्म करनेसे केवल ज्ञानके द्वारा वे मोक्ष पा गये। यद्यपि वे कर्मोंके त्याग की अवस्थाको पहुँच गये थे; मगर उन्होंने विधि सहित कर्म त्यागे बिना भी मुक्ति पा ली।

(२) अगर हम यह मानलें, कि जनक वगैरः पहले मोक्ष चाहनेवाले ध्रुव सत्यको न जानते थे। तब हमें उपरोक्त वचनोंको यों समझना चाहिये, कि वे लोग कर्म करते थे, मगर उन्हें ईश्वरको अर्पण कर देते थे; इसीसे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया अथवा उनके हृदय में सत्यज्ञान का उदय हो गया। इसीके सम्बन्धमें भगवान्ने कहा है—

"शरीरसे, मनसे और केवल इन्द्रियोंसे योगी लोग, कर्मफलकी इच्छा छोड़कर, आत्माकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।" (अ० ५ श्लोक ११)

"जिस अन्तर्यामी परमात्मासे भूतोंकी प्रवृत्ति होती है; यानी जिसकी सत्तासे सब जगत् चेष्टा करता है, जिससे यह जगत् व्याप्त हो रहा है, उस परमात्माको जो अपने उचित कर्मोंसे पूजता है, उसे सिद्धि मिलती है।।" (अ० १८ श्लोक ४६)

"सिद्धिको पाकर मनुष्य किस तरह ब्रह्मके पास पहुँचता है, तू मुझसे सुन।" (अ० १८ श्लोक ५०)

इतनी सब बहस-तक़रीरका यह नतीजा निकला, कि कर्म केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये किये जाते हैं। अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर, मनुष्यके हृदय में ज्ञानका उदय होता है और एकमात्र ज्ञानसे ही मनुष्य को मोक्ष मिलती है। ज्ञान और कर्मोंके संयोग से मोक्ष नहीं मिलती। यही सारे गीता का सार है; यही गीताका उपदेश है, जो आगेके अध्यायों में उलट-पुलट कर समझाया जायगा।

———

आत्मा अविनाशी है।

शोकके महा समुद्रमें डूबते हुए, अपने कर्त्तव्य कर्मसे पीछे हटे हुए, अर्जुनको ठीक राहपर लाने और उसका उद्धार करनेकी ग़रज़से, भगवान्‌ने, उसकी भलाईके लिये, आत्मज्ञानसे बढ़कर और उपाय न देखकर, उसे निम्नलिखित शब्दोंमें आत्म-ज्ञानका उपदेश देना आरम्भ किया:—

श्रीभगवानुवाच।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्चभाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

भगवान् ने कहा:—

तुम तो ऐसे लोगोंकी चिन्ता कर रहे हो, जिनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इसपर पण्डितोंकी सी बातें छाँटते हो, परन्तु पण्डित लोग जीते हुए और मरे हुओंके लिये शोक नहीं करते।

हे अर्जुन! जिन भीष्म, द्रोणका आचरण नितान्त शुद्ध है, जो असलमें स्वभाव से ही अमर, अविनाशी, नित्य, सदाजीवी और अनन्तकाल-स्थायी हैं, उनके लिये तू वृथा शोक करता है। यह कह कर कि, "मैं उनकी मृत्युका कारण हूँ, उनके न रहने पर, उनके बिना मुझे राज्य और सुख-भोगोंसे क्या लाभ?" तू उनके लिये शोक करता है और साथ ही पण्डितोंकी सी लम्बी-चौड़ी बातें भी बनाता है। इन बातोंसे यही जान पड़ता है, कि असलमें तू ज्ञानको ज़रा भी नहीं समझता, क्योंकि ज्ञानी—आत्मा को जाननेवाले—तो जीते हुए और मरे हुओंका शोक कभी नहीं करते। जो आत्माको नहीं जानते, वे ज्ञानी नहीं कहलाते; जो आत्माको जानते हैं, वे ही ज्ञानी कहलाते हैं। सारांश यह, कि तू ऐसे लोगोंके लिये शोक करता है, जो अविनाशी और अनन्तकाल-स्थायी हैं और जिनके लिये शोक करना अनुचित है; इसलिये तू मूर्ख है।

(प्रश्न) उनके लिये शोक करना अनुचित क्यों है ?

(उत्तर) क्योंकि वे अविनाशी और अनन्तकाल-स्थाई हैं।

(प्रश्न) अविनाशी और अनन्तकाल-स्थायी किस तरह हैं ?

(उत्तर) भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२ ॥

मैं, तुम और ये राजा-महाराजा पहले कभी नहीं थे सो नहीं ; और उसी तरह इस देहके छूटने पर हम सब लोग न रहेंगे, सो भी नहीं।*

क्या मैं पहले कभी नहीं था, या तू नहीं था, या ये सब राजा महाराजा नहीं थे ? अथवा, आगे आनेवाले समय में, इस देह को छोड़कर, हम सब फिर न होंगे ? तात्पर्य्य यह है कि मैं, तू और ये राजा महाराजा पहले भी थे, अब हैं ही, और आगे भो इसी भाँति होंगे। अनन्तकालसे हम जन्म लेते और मरते चले आरहे हैं। हमने हज़ारों बार देह छोड़ी; पर हम कभी न मरे, इस बार देह छोड़ कर भी हम फिर इसी तरह दूसरी देहमें पैदा होंगे। आत्मा नित्य, अमर और अविनाशी है। भूत, भविष्यत, वर्तमान इन तीनों कालों में उसका नाश नहीं है।†

(प्रश्न) जीव को हम रोज़ जन्मते और मरते देखते हैं; फिर उसे अमर, अविनाशी कैसे कह सकते हैं।

(उत्तर) आगे की व्याख्या देखिये:—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

---

* यहाँ "हम" शब्द जुदे-जुदे शरीरोंके लिये इस्ते माल किया गया है। इससे यह न समझना चाहिये, कि आत्मा एकसे अधिक हैं। वास्तवमें, जीव—आत्मा—एक ही है।

† मनुष्यकी देह ही मनुष्य नहीं है। प्रत्युत उस देहको धारण करता हुआ, हृदयके अन्दर जो एक सूक्ष्मतम पदार्थ है वही मनुष्य कहलाता है ; वहीं जीवात्मा है, उसे "देही" भी कहते हैं।

जिस तरह देहमें रहने वाले—देही—का एक ही शरीरमें बचपन, जवानी और बुढ़ापा होता है, उसी तरह उसका एक देह छोड़कर दूसरी देह बदलना है। धीर पुरुष इस बातमें मोह नहीं करते।

हम देखते हैं, कि देहमें रहनेवाले—देही—की वर्त्तमान देह में, बिना किसी तब्दीलीके, बचपन, जवानी और बुढ़ापा तीन तरह की अवस्थाएँ हो जाती हैं। शरीरकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, मगर शरीरके अन्दर रहनेवाला जीवात्मा जैसा-का-तैसा बना रहता है है; यानी शरीरकी अवस्था बदलनेपर उसकी अवस्थामें कुछ भी फेरफार नहीं होता। बचपनकी अवस्थाके अन्तमें, वह मर नहीं जाता और जवानीकी अवस्थाके शुरूमें, वह जन्म नहीं लेता। वह, बिना किसी तब्दीलीके, बचपनसे जवानी और जवानीसे बुढ़ापेके शरीरमें चला जाता है। इस समय, मनुष्य यह समझकर, कि हमारा वर्त्तमान शरीर तो बना ही हुआ है, केवल शरीरकी अवस्थाएँ बदल गई हैं, रञ्ज नहीं करता: लेकिन वर्त्तमान देहके एकदम छोड़नेके समय उसे, मोहके कारण, शोक होता है; लेकिन ऐसा शोक केवल अज्ञानियोंको ही होता है। शोक करनेकी ज़रूरत ही क्या है? पुराने, सड़े, गले, रोगपूर्ण शरीरके छोड़ते ही दूसरा नया ताज़ा शरीर, निश्चय ही, मिलता है; फिर इसमें शोककी कौनसी बात है, समझमें नहीं आता।

जब कि हम जवानीके सुन्दर, हृष्ट, पुष्ट, बलवान् शरीरको खोकर बुढ़ापेका कुरूप, निर्बल और रोगपूर्ण शरीर पाते हैं, तो इस सड़े-गले शरीरसे ही परम सन्तुष्ट रहते हैं। जब हम जवानीका अच्छा शरीर खोकर शोक नहीं करते, तब हमारा बुढ़ापेके बिल्कुल खराब शरीरके लिये शोक करना महज़-नादानी है; बल्कि हमें ऐसे मौक़ेपर तो खूब खुश होना चाहिये; क्योंकि पुरानेके बदलेमें नया शरीर मिलेगा। शरीरके अन्दर रहनेवाला आत्मा मुसाफ़िर है और शरीर, जिसमें वह रहता है, सरायके समान है। क्या मुसाफ़िर एक

सराय छोड़कर दूसरीमें जानेके समय रञ्ज करता है ? हरगिज़ रञ्ज नहीं करता। उसी तरह एक शरीरको छोड़कर दूसरेमें जानेके समय रञ्ज न करना चाहिये। मान लो, मोहन नामक मनुष्य एक ऐसे मकानमें रहता है जो एकदम मैला है, जिसमें जगह-जगह पानी चूता है और जिसमें सिवा दुःखके ज़रा भी आराम नहीं है। अगर उसके लिये उसका बाप एक बहुत ही सुन्दर नया मकान बनवादे और उससे कहे कि, तुम उस पुराने सड़े-गले मकानको छोड़कर नयेमें चले जाओ, तो क्या मोहन उस समय दुःखी होगा ? हर्गिज़ नहीं। अगर वह अक़्लमन्द है तो खूब खुश होगा। बस, इन्हीं सब बातोंको विचारकर, बुद्धिमान् लोग, एक शरीर छोड़कर दूसरेमें जानेके समय, मुतलक़ रञ्ज नहीं करते।

(प्रश्न) अगर हम कहें कि, इस शरीरके सिवाय और आत्मा है ही नहीं; तो आप क्या कहेंगे ?

(उत्तर) अगर देहके सिवाय देहमें रहनेवाला और कोई आत्मा न होता, तो ऐसा अनुभव न होता—मैं जो पहले बचपनके छोटेसे शरीरमें था, इस समय जवानीके शरीर में हूँ। मैं जो पहले जवानीके शरीरमें था, अब बूढ़े और बिगड़े हुए शरीरमें हूँ। जिसे ऐसा अनुभव होता है, वही शरीरमें रहनेवाला है ; उसे ही बचपन, जवानी, बुढ़ाई आदि अवस्थाओंका अनुभव होता है। जिसे ऐसा ज्ञान और अनुभव है, वह कोई चैतन्य वस्तु है और वह शरीरसे जुदी है; क्योंकि शरीर अचेतन है और उसे ऐसी अवस्थाओंकी तब्दीली आदिका ज्ञान नहीं हो सकता। बालक माँके पेटसे बाहर आते ही, भूख आदिकी शान्तिके लिये चेष्टा करता है। उसको पैदा होते ही, अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करते देखकर अनुमान होता है कि, शरीरमें एक चैतन्य वस्तु है और वही अपने पूर्व जन्मके संस्कारोंके कारण काम कर रही है। क्योंकि शरीर जो अचेतन है, ऐसी चेष्टाएँ नहीं कर सकता। शरीरका अर्थ यहाँपर स्थूल, ढाँचे,

इन्द्रियों तथा मनसे है। अब बचपन है, अब जवानी है, अब बुढ़ापा है,—यह ज्ञान शरीर, इन्द्रियों तथा मनको नहीं होता, किन्तु इस ज्ञानका अनुभव एक और ही चीज़को होता है और जिसे यह ज्ञान—अनुभव होता है वह चैतन्य है और वही आत्मा है। उसका कभी नाश नहीं होता।

(प्रश्न) बचपन, जवानी, बुढ़ापे, इन अवस्थाओंमें तो बेशक यह ज्ञान होता है, कि मैं वही हूँ; मैं जो बचपनके शरीरमें था, वही जवानी और बुढ़ापेके शरीरमें हूँ; मगर मरने पर, दूसरे शरीरमें तो यह ज्ञान नहीं रहता, कि फलाँ-फलाँ शरीरोंमें रहनेवाला, वही मैं इस शरीरमें हूँ; इससे जान पड़ता है, कि शरीर के साथ कोई आत्मा या चैतन्य वस्तु पैदा तो होती है; मगर शरीरके नाश होनेके साथ वह भी नाश हो जाती है। इसके जवाबमें आप क्या कहते हैं?

(उत्तर) माँ के पेटसे निकलते ही बालकको हर्ष, शोक, भय आदि होने लगते हैं। इस संसारका तो उस तत्कालके पैदा हुए बच्चेको ज़रा भी अनुभव नहीं होता, फिर वह क्यों हँसता है, रोता है और डरता है? हँसने और रोने प्रभृति कामोंसे मालूम होता है, कि वह अपनी पहली देह छोड़कर इस नये शरीरमें आया है। उसे अपने पहले जन्मकी हर्ष, शोक, भय पैदा करनेवाली बातें याद हैं; इसीसे वह हँसता, डरता और रोता है। अगर हालका पैदा हुआ बच्चा बिल्कुल नया जन्म लेता; यानी उसका पूर्वजन्म न हुआ होता अर्थात् उसने पहले जन्म न लिया होता; तो वह, पैदा होते ही, अपनी भूख बुझानेको माँके स्तनोंसे न लग जाता। क़ायदा है, कि चेतन प्राणी जो करते हैं, अपनी भलाई-बुराई विचारकर करते हैं। बच्चेने पहले अनेक बार जन्म लिये हैं। उसने प्रत्येक बार, जन्म लेनेके समय, अपनी शरीर-पुष्टिके लिये, माताओंके स्तन पान किये हैं। इस बार भी उसे अपने पहले जन्मकी बात याद है, उसे स्तनों द्वारा दूध पीनेका

अनुभव है। उसे दूध पीनेसे जो लाभ होगा उसका ज्ञान है, इसी-से वह इस जन्ममें, पैदा होते ही, बिना किसीके सिखाये, बिना अनुभव किये ही, स्तन पीने लगता है। इससे साफ ज़ाहिर है कि, इस हालके पैदा हुए बच्चेके अन्दर चैतन्य वस्तु—आत्मा—है और वह पहले जन्ममें भी था। उसी आत्माने अपना पहला शरीर त्यागकर, नये शरीरमें प्रवेश किया है। शरीरके साथ चैतन्य वस्तु—आत्मा—नाश नहीं हो जाता। वह पुराने शरीरोंको छोड़कर नये-नये शरीर धारण करता है। आत्मा तो वही एक है, मगर शरीर बहुतसे हैं। शरीर नाश होते जाते हैं; मगर आत्मा कभी नाश नहीं होता।

सहनशीलता ज्ञानकी एक अवस्था है।

इतना समझाने पर भी, अर्जुनके मनमें ऐसी-ऐसी शंकाएँ उठती हैं—(१) हे कृष्ण! आपने जो कुछ कहा है, वह बिल्कुल सच है। आपके समझानेसे मैं समझ गया कि, आत्मा अविनाशी है और शरीरके नाश होनेसे जो हानि होती है, वह कुछ भी हानि नहीं है; क्योंकि एक शरीरके नाश होने पर दूसरा अच्छा शरीर मिल जाता है; इसलिये भीष्म, द्रोण आदिके लिये शोक करना वृथा है; क्योंकि अगर उनका यह शरीर नाश हो जायगा, तो वे स्वयं नाश नहीं हो जायँगे। उनके रहनेके लिये वर्त्तमान शरीरसे अच्छा, ताज़ा शरीर मिल जायगा। मगर एक बातका दुःख ज़रूर मुझे होगा, कि मैं उन्हें देख न सकूँगा, उन्हें आलिङ्गन न कर सकूँगा और उनसे बात-चीत न कर सकूँगा; क्योंकि उन्हें देखने, उनसे मिलने-जुलने और बातचीत करनेसे मुझे सुख होता है। उनके न रहनेसे, मेरा वह सुख भी नाश हो जायगा और साथ ही उनका कटा-फटा, अङ्गहीन शरीर देखकर मुझे दुःख होगा। (२) आपके समझानेसे मुझे

इस बातका तो निश्चय होगया कि, इस शरीरके छोड़नेपर दूसरा, इससे अच्छा, शरीर मिलेगा ; किन्तु यह सन्देह है, कि वह दूसरा शरीर अच्छा मिले या बुरा मिले; उसमें गरमी-सरदीका आराम हो या न हो, ऐसे-ऐसे उत्तम पदार्थ फिर उस देहमें मिलें या न मिलें। इसी कारण मुझे प्यारे पदार्थोंकी जुदाईके खयालसे दुःख होता है; क्योंकि ये सब तो इस देहके नाश होते ही मुझसे छूट जायँगे। (३) हे कृष्ण ! आत्मा अविनाशी है , वह अनेक शरीर धारण करता है,—इस विषयमें मुझे शङ्का नहीं है; किन्तु सारे शरीरोंमें एकही आत्मा है, यह समझमें नहीं आता। अगर सारे शरीरोंमें एकही आत्मा होता, तो एक शरीरमें सुख होनेसे सारेही शरीरोंमें सुख होता और एक में दुःख होनेसे सबमें दुःख होता। लेकिन जो आँखोंसे देखते हैं, वह इसके विपरीत है। एक शरीरमें सुख होने से सबमें सुख नहीं होता और एक में दुःख होनेसे सबमें दुःख नहीं होता; इससे साफ तौरपर मालूम होता है कि, शरीर-शरीरमें अलग-अलग आत्मा हैं ; सब शरीरोंमें एक ही आत्मा नहीं है।

अर्जुनकी उपरोक्त शङ्काएँ क़रीब-क़रीब एकहीसी हैं। भगवान् उसका सन्देह नाश करनेके लिये यह कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संयोग होनेसे ही गरमी-सरदी और सुख-दुःख होते हैं। वे सदा कायम नहीं रहते ; आते हैं और जाते हैं। हे भारत ! तू उनको सह।

इन्द्रियाँ जब शब्द आदि विषयोंका अनुभव करती हैं (यानी जब कानसे शब्द सुनाई देता है, आँखसे कोई चीज़ दिखाई देती है, हाथ या और किसी भागके चमड़ेको बाहरी वस्तु छू जाती है, जीभ किसी चीज़को चखती है या नाक किसी चीज़को सूँघती है)

तभी सुख-दुःख या खुशी-रञ्ज अथवा सरदी-गरमी मालूम हुआ करती हैं; परन्तु यह जो इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध है, सदा नहीं रहता। गरमी, सरदी, सुख और दुःख आया और जाया करते हैं। आज हैं तो कल नहीं—ऐसी इनकी हालत है, इसलिये तुम इनको धीरतासे सहो।

आँख, कान, नाक, जीभ तथा चमड़ा—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं तथा रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श—ये पाँच विषय हैं। जब इन इन्द्रियों और इन विषयोंका संयोग होता है; तब मनुष्योंको सुख, दुःख, गर्मी, सरदी मालूम होती है। जब आँख किसी रूपवती चीज़को देखती है, तब सुख मालूम होता है; लेकिन जब वही आँख किसी कुरूप, घृणा करने योग्य चीज़को देखती है, तब दुःख मालूम होता है। इसी भाँति जब हम कानसे कोई अच्छा गाना सुनते हैं तब सुख होता है; किन्तु गाली-गलौज या और कोई बुरी बात सुननेसे दुःख होता है। इसी तरह नाक, जीभ और चमड़ेके विषयमें समझिये। अगर हम आँखें बन्द रखें और कोई सुन्दर-असुन्दर, बुरी-भली चीज़ न देखें; कानसे कैसी भी अच्छी-बुरी आवाज़ न सुनें; तब हमें सुख-दुःख क्यों होने लगा? मगर संसारमें ऐसा होना कठिन है। आँखके सामने जब कोई अच्छी रूपवती वस्तु आवेगी, उससे अवश्य सुख होगा; लेकिन जब वही चीज़ आँखकी ओट हो जायगी, तब दुःख होगा। अथवा आँखके सामने अच्छी चीज़ आनेसे सुख होगा; मगर बुरी चीज़ आनेसे दुःख होगा। इसी तरह शेष इन्द्रियों और उनके साथ विषयोंके सम्बन्धको समझो। अब यह साफ तौर पर मालूम होगया, कि जब इन्द्रियों और उनके विषयोंका सम्बन्ध होता है, तभी सुख-दुःख, गरमी-सरदी जान पड़ती है।

अब यह सवाल पैदा होता है, कि केवल इन्द्रियाँ और उनके विषय और उनका ज्ञान ही, चाहे वे अच्छे हों या बुरे, क्या सुख-

दुःख पैदा कर सकते हैं? नहीं; अकेले उनसे ही यह काम नहीं हो सकता। उनके साथ अगर "अभिमान" और मिला दिया जाय, तभी सुख-दुःख आदि हो सकते हैं। यह अभिमान तीन तरीकों में पैदा हो सकता है:—(१) प्राणी पदार्थों को अच्छा समझे और इसी कारणसे उनसे प्रेम करे। (२) वह उन्हें बुरा समझे और उनसे घृणा करे। (३) प्राणी ऐसा मूर्ख हो जावे कि वह शरीर, मन और इन्द्रियोंका आत्मासे चिरस्थायी सम्बन्ध समझे। ऐसी दशामें, उसे अपने आत्मा और नाशमान् चीज़ोंमें भेद न मालूम होगा। मतलब यह है, कि इन्द्रियों, उनके विषयों तथा अभिमान का जब साथ होता है; तभी सुख, दुःख आदि मालूम होते हैं।

क्या इस प्रकारसे पैदा हुए सुख-दुःख आदि आत्मापर अपना असर करते हैं? नहीं, आत्मासे सुख-दुःख आदिका कोई सम्बन्ध नहीं है। इनका सम्बन्ध अन्तःकरणसे है। गरमी-सरदी आत्मा को नहीं मालूम होती, किन्तु अन्तःकरणको मालूम होती है। सुख-दुःख आदि पैदा होते हैं और नाश हो जाते हैं। अन्तःकरण भी पैदा होता और नाश होजाता है; इसलिये सुख-दुःख आदि अन्तःकरणको ही होते हैं, क्योंकि दोनों ही उत्पत्ति और विनाश में समान हैं। आत्मा, इनके विपरीत, नित्य और आदि-अन्त-रहित है। उसका सम्बन्ध अनित्य तथा पैदा होनेवाले और नाश होने-वाले सुख-दुःखोंसे हरगिज़ नहीं हो सकता। क़ायदा है, कि जिन दो वस्तुओंमें भेद न होगा, वही दो आपसमें मिलेंगी। श्रुतिमें भी कहा है—"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" यानी यह आत्मा सबका साक्षी, चैतन्य, अद्वितीय तथा निर्गुण है। जो आत्मा निर्गुण, निराकार, तथा विकार-रहित और नित्य है, उसे अनित्य सुख-दुःख नहीं घेर सकते। वे जैसे आप अनित्य हैं, वैसे ही अनित्य अन्तःकरणको घेरते हैं। अब साफ तौरपर समझमें आ जायगा, कि सुख-दुःख आदि धर्मोंका आश्रय अन्तः—

कारण है। आत्मासे उनका भी कुछ सरोकार नहीं। आत्माको कभी कोई दुःख नहीं होता। इन्द्रिय और मनरूपी उपाधियोंसे युक्त होकर, आत्मा कर्ता और भोक्ता मालूम होता है; परन्तु ये सब धर्म "अभिमान" या अहङ्कारके हैं। कार्य और कारणके भेद न होनेसे बुद्धि-धर्म ही अहङ्कार धर्म होते हैं। उपाधि-धर्म मिथ्या होनेसे न वह कर्त्ता है न भोक्ता है। अज्ञानसे आत्माका बन्धन मालूम होता है, यह खाली भ्रम है; यह भ्रम ज्ञानसे नाश होता है। सारांश यह कि "अभिमान" के कारण या विषयों और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे सुख, दुःख आदि पैदा होते हैं और वह अन्तःकरणको मालूम होते हैं। आत्माका उनसे ज़रा भी सरोकार नहीं।

यह ऊपर दिखा आये हैं, कि सुख-दुःख आदि धर्मोंका सम्बन्ध अन्तःकरणसे है; किन्तु आत्मा से नहीं। सब अलग-अलग शरीरोंमें आत्मा तो एक ही है; मगर अन्तःकरण अलग-अलग हैं। इसी कारणसे, एकको सुख होनेसे सबको सुख और एकको दुःख होनेसे सबको दुःख नहीं होता। "एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः" इत्यादि श्रुतियोंसे साफ़ मालूम होता है कि, आत्मा सारे शरीरोंमें एक है। इच्छा, संकल्प, संशय, लज्जा, भय आदि मनसे सम्बन्ध रखते हैं। जो ऐसा समझते हैं, कि आत्माको सुख होता है, आत्माको दुःख होता है, तथा शरीर-शरीरमें अलग-अलग आत्मा हैं, वे भूल करते हैं।

भगवान् कह चुके हैं, कि सुखःदुख आदि अनित्य हैं; यानी हमेशा नहीं रहते; आते हैं और जाते हैं; पैदा होते हैं और नाश हो जाते हैं; इसलिये मनुष्यको इनकी वजहसे खुशी और रञ्ज न करना चाहिये। सुख-दुःख आदिको स्वप्नवत् समझ कर बरदाश्त करना ही बुद्धिमानी है।

(प्रश्न) जो गरमी-सरदी और सुख-दुःखोंको सहन करता है, उसे क्या लाभ होता है?

(उत्तर) सुनो—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

*हे पुरुषोत्तम ! जिस ज्ञानी पुरुष*को ये तकलीफ नहीं पहुँचाते, जो सुख और दुःख को समान समझता है, वह मोक्ष पाने लायक़ हो जाता है ।*

वह शख़्स जिसे सुख और दुःख समान हैं,—जो सुखकी अवस्था में आनन्दसे फूल नहीं जाता और दुःखकी अवस्थामें उदास नहीं होता ; जो गरमी-सरदी आदिसे अपने आत्माको बिल्कुल अलग समझता है ; जो अपने आत्माके नित्य होनेका दृढ़ निश्चय करके शान्तिसे गरमी-सरदी आदिको सहता है, वह मोक्ष पानेका अधिकारी हो जाता है । तात्पर्य्य यह है, कि जो मान-अपमान, दुःख-सुख आदिको पहले किये हुए कर्मोंका भोग समझकर शान्तिसे सहता है और उनसे अपने आत्माकी हानि नहीं समझता, वह ज्ञानी है और वही मोक्षका अधिकारी है ।

सत् और असत् ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

असत् की सत्ता नहीं है और सत् की असत्ता नहीं है । तत्त्वज्ञानियोंने इन दोनोंकी मर्यादा देख ली है ।

तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने अच्छी तरह विचार कर देख लिया है कि, जो चीज़ असत् है—यथार्थ में नहीं है—वह नहीं है और जो सत्

* यहाँ "पुरुष" शब्द दो अर्थ प्रगट करनेको इस्तेमाल किया गया है:—(१) शरीरका यथार्थ ज्ञान रखनेवाला (२) पूर्ण ब्रह्मको जाननेवाला । जो शरीका यथार्थ ज्ञान रखता है और जो ब्रह्मज्ञानी है, वही सुख-दुःख, मान-अपमान को समान समझ सकता है ।

है—यथार्थमें है—उसका कभी नाश नहीं होता; यानी जो चीज़ सचमुच है, वह सदा रहेगी और जो चीज़ वास्तवमें नहीं है, वह नहीं ही है। जो चीज़ असत् है—असलमें नहीं है—वह नाशमान् है; लेकिन जो सत् है—असलमें है—उसका कभी नाश नहीं हो सकता।

यह शरीर असत् है—यथार्थमें नहीं है—इसीसे यह नाशमान् है; किन्तु आत्मा सत् है—यथार्थमें है—इसीसे उसका कभी नाश नहीं होता। भ्रमसे यह देह ऐसी मालूम होती है, परन्तु वास्तवमें—असलमें—यह नहीं है; क्योंकि अगर यह असलमें ऐसी होती, तो यह सदा रहती। इसी भाँति गरमी-सरदी और उनके कारण भी असत् हैं। उनका भाव, उनकी सत्ता या उनका अस्तित्व नहीं है। यह गरमी-सरदी वगैर: जो इन्द्रियों द्वारा मालूम होती हैं, बिल्कुल सत्य नहीं हैं; क्योंकि ये गुण, रूपान्तर या विकार हैं और प्रत्येक विकार अचिरस्थायी हैं; अतः ये असत् वस्तु हैं, इनके मुक़ाबलेमें आत्मा सत् वस्तु है; क्योंकि उसका रूपान्तर नहीं होता। मालूम हुआ, कि आत्मा सत्—यथार्थ—वस्तु है और गरमी-सरदी आदि असत्—अयथार्थ—वस्तु हैं। सत् वस्तुका नाश नहीं है, किन्तु असत् वस्तुओंकी सत्ता—अस्तित्व—ही नहीं है।

सारांश यह है, कि केवल आत्माही सत् है, उसका ही नाश नहीं है। बाक़ी जो कुछ है, वह असत् है, और वह सभी नाशमान् हैं। आत्माके सिवा, संसारमें जो सुख-दुःख आदि तथा शरीर वगैर: दिखाई देते हैं, वास्तवमें वे कुछ नहीं हैं। रेतीले जङ्गलमें जल न होनेपर भी जलकी शकल जिस तरह दीखती है; उसी तरह असल में ये कुछ न होने पर भी भ्रान्ति या भ्रमसे असली चीज़ोंकी तरह दिखाई देते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी हैं, जो सदा एकमात्र सत्यके पीछे लगे रहते हैं, वे रात-दिन आत्मा, अनात्मा, सत्, असत्के ध्यानमें मशगूल रहते हैं। उनके ध्यानमें यह सिद्धान्त, कि सत् वस्तु हमेशा रहती है और असत् कुछ है ही नहीं; हमेशा बना रहता है। ऐसे

ही तत्वज्ञानियोंने इस सत्-असत्‌का पता ख़ूब अच्छी तरह लगा लिया है। हे अर्जुन! तू इन तत्वज्ञानियोंके मत पर चल, शोक-मोह से अलग हो और शान्तिसे गरमी-सरदी आदि द्वन्द्वों को सहन कर।

वह क्या चीज़ है जो सदा सत् है ? सुन—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

हे अर्जुन! जिससे यह सारा जगत् व्याप्त होरहा है, उसे तू अविनाशी समझ। उस अविनाशीका कोई नाश नहीं कर सकता।

हे अर्जुन! जो इस तमाम दुनिया और आकाशमें छा रहा है, वह आत्म-स्वरूप ब्रह्म है। वह ब्रह्म सत्—अविनाशी—है। वह अक्षय है, क्योंकि वह घटता-बढ़ता नहीं। किसी चीज़की कमी हो जानेसे वह कम नहीं होता; क्योंकि उसकी—आत्माकी—अपनी कोई चीज़ ही नहीं है। उस अक्षय—अविनाशी—ब्रह्मका कोई भी नाश नहीं कर सकता। मनुष्यकी तो बात ही क्या है, स्वयं ईश्वर, परम परमात्मा, भी आत्माका नाश नहीं कर सकता; क्योंकि आत्मा ही स्वयं ब्रह्म है। कोई भी अपना ही नाश आप नहीं कर सकता।

जबकि आत्म-स्वरूप ब्रह्म सत्—अविनाशी—है, तब असत्—नाशमान्—क्या है ? सुन—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

शरीरमें रहनेवाला आत्मा नित्य, अविनाशी और अप्रमेय है; किन्तु ये शरीर, जिनमें वह रहता है, नाशमान् हैं; इसलिये हे भारत! तू युद्ध कर।

आत्मा शरीरमें रहने वाला है। शरीर उसके रहनेका स्थान है। शरीर में रहनेवाला—आत्मा—निराकार, निर्विकार है। आत्माका कोई आकार नहीं है। उसमें किसी प्रकारका रूपान्तर भी नहीं होता। वह सदा एकसा रहता है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होनेके कारण बुद्धि वग़ैरः से जाना भी नहीं जा सकता। वह नाश-रहित, नित्य, अविनाशी है; किन्तु शरीर साकार है। उसकी घटती-बढ़ती होती रहती है, उसमें रूपान्तर भी होता है; अतः वह नाशमान् है। मतलब यह है, कि शरीरमें रहनेवाले—आत्मा—का कभी भी नाश नहीं होता; किन्तु उसके रहनेके स्थान—शरीर—का नाश हो जाता है।

जबकि असल चीज़, शरीरमें रहनेवाले—आत्मा—का नाश कभी होता ही नहीं; किन्तु उस रहनेवालेके मकान—शरीर—का नाश हो जाता है, तब इसमें दुःखकी क्या बात है? पुराना मकान जब टूट-फूट कर गिर जायगा, तो मकानमें रहनेवाला नये मकानमें जा रहेगा। यह तो उल्टी ख़ुशीकी बात है कि, पुरानी चीज़के बदलेमें नयी मिल जायगी। इसलिये हे अर्जुन! तुझे जो शोक-मोह दुःख दे रहे हैं, वह तेरी नासमझी है। तू असल और नक़ल, नाशरहित और नाशमान्को नहीं समझता। अब तो तू सब कुछ समझ गया होगा। अब तुझे आत्माके नित्य और अविनाशी होने में सन्देह न रहा होगा। शरीर वास्तवमें कुछ नहीं है; धोखेकी टट्टी है। इसे तू स्वप्नकी सी माया या बाज़ीगरकी करामात समझ। असल चीज़ आत्माको समझ, जो सदा रहेगा, जिसका कोई भी नाश नहीं कर सकता। अब सब भ्रम त्यागकर, खड़ा हो और युद्ध कर।

आत्माका किसी कामसे तअल्लुक नहीं है।

भगवान् कहते हैं कि, हे अर्जुन! तू अपने मनमें यह समझता है—"भीष्म आदि मेरे द्वारा युद्धमें मारे जायँगे; मैं उनका मारने-

वाला हूँगा तथा उनके मारनेका पाप तो मुझे ज़रूर ही लगेगा,"—
तेरा यह ख़ुयाल झूँठा है।—किस तरह ?

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १८ ॥

जो यह समझता है, कि आत्मा मारनेवाला है और जो यह समझता है कि आत्मा मारा जाता है, वे दोनो मूर्ख हैं। आत्मा न तो किसीको मारता है और न आप मारा जाता है।

जो यह समझता है कि, यह आत्मा उस आत्माको मारनेवाला है और जो यह समझता है कि, यह आत्मा उस आत्मासे मारा गया है, वे दोनोंही अज्ञानी हैं। उन्हें आत्माके नित्य, अविनाशी होनेमें विश्वास नहीं है। अथवा जो समझता है—"मैं मारता हूँ" या देहके नाश होनेपर समझता है "मैं मारा गया हूँ" वे अहङ्कारी हैं। वे आत्माके वास्तविक स्वरूपको ठीक तौर पर नहीं जानते। वे, ग़लतीपर होनेसे, आत्माको देहसे अलग नहीं जानते और आत्माके नित्य, अविनाशी होनेकी बात भूलकर, मूर्खतासे ऊटपटाङ्ग बकते हैं। आत्मा न किसीको मारता है और न आप किसीसे मारा जाता है। आत्मा कर्त्ता-कर्मभावसे रहित है। उसका किसी कामसे सम्बन्ध नहीं है। जो ऐसा समझते हैं, उनसे पुण्य-पाप हज़ारों कोस दूर भागते हैं। असलमें आत्मा कुछ नहीं करता; इसीसे हे अर्जुन ! तू आत्माको अकर्त्ता समझ कर, पाप-पुण्यका ख़याल छोड़ दे और युद्ध कर।

आत्मा अपरिवर्त्तनीय है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

आत्मा कभी न जन्म लेता है और न कभी मरता है । उसी प्रकार ऐसा भी कभी नहीं होता, कि वह पहले न हो और बादको हो या पहले हो और बादको न हो । उसका जन्म ही नही होता, वह सदा रहता है ; उसमें कमी नही होती और अधिकता भी नही होती । वह नया नहीं हुआ है, बल्कि प्राचीन है; शरीर के नाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता ।

भगवान्ने यहाँ यह दिखाया है कि, न आत्मा पैदा होता है और न मरता है ; उसकी अवस्थामें कोई फेरफार नहीं होता। मामूली बोलचालमें "मरा हुआ" उसे कहते हैं, जो एक बार होकर फिर नहीं होता ; लेकिन आत्मा एक बार होकर फिर होता है ; इसलिये उसे मरा नहीं कह सकते । जो पहले न होकर पीछे होता है, उसे "पैदा हुआ" कहते हैं ; लेकिन आत्मा ऐसा नहीं है, वह शरीरकी भाँति, पहले न होकर, नहीं होता ; इसीसे उसे "अजन्मा" कहते हैं; क्योंकि वह मरता नहीं है, इसलिये उसे "नित्य" कहते हैं। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग नहीं है, इसलिये वह बढ़ता-घटता नहीं। आत्मा जैसा प्राचीन कालमें था, वैसा ही अब है और आगे भी वैसा ही रहेगा। वह सदा एकसा रहता है। शरीरके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। शरीरके रूपान्तर होनेपर, उसका रूपान्तर नहीं होता।

पैदा होना, अस्तित्व, बढ़ना, रूपान्तर होना, घटना और नाश होना, ये छः "भाव विकार" कहलाते हैं। यह छः देहके धर्म हैं; यानी शरीर पैदा होता है, बढ़ता है, घटता है, उसमें फेरफार होता है तथा उसका नाश होता है। शरीर की छः अवस्थाएँ होती हैं ; किन्तु आत्मा जैसा है वैसाही रहता है—उसमें कुछ भी फेरबदल नहीं होता। सारी दुनिया इन छः भाव-विकारोंके अधीन है।

लेकिन आत्मा इन सब विकारों—तब्दीलियों—से कुछ तअल्लुक नहीं रखता। यही बात भगवान्ने इस जगह दिखाई है।

ज्ञानीको कर्म छोड़ने पड़ते हैं।

भगवान्ने इसी अध्यायके १८ वें श्लोकमें कहा है कि, आत्मा न मारनेकी क्रियाका कर्त्ता है और न कर्म है और अगले श्लोकमें अपने कथनका कारण यह बताया है, कि वह विकारोंसे रहित है। अब वह यह सिद्धान्त निकालते हैं—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

हे अर्जुन! जो उस आत्माको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और विकाररहित जानता है, वह किसीको कैसे मार या मरवा सकता है?

जो समझता है, कि आत्मा अन्तिम विकार—मृत्यु—से रहित, अविनाशी है; जो समझता है कि वह रूपान्तर-रहित, सनातन है; जो समझता है कि वह, जन्म और क्षयसे रहित, अजन्मा और अक्षय है; भला ऐसा ज्ञानी किस तरह मारता और अथवा दूसरेसे मरवाता है? ऐसा ज्ञानी न किसीको मारता है न किसीको मरवाता है। भगवान्ने जो कहा है कि, "आत्माको अविनाशी, सनातन, अजन्मा और अक्षय समझनेवाला ज्ञानी न किसीको मारता है और न किसीको मरवाता है," इससे यह मतलब निकलता है, कि जिस तरह ज्ञानी मारने अथवा मरानेका काम नहीं करता; उसी तरह वह कोई भी काम नहीं करता। इस जगह "न तो किसीको मारता है और न किसीको मरवाता है,"—इससे यह न समझना चाहिये कि, वह ख़ाली मारने, मरवानेका ही काम नहीं

करता, किन्तु और सब काम करता है। भगवान्ने न मारने और मरवानेकी बात केवल उदाहरणके तौर पर कही है। असलमें, उनके कहनेका यह मतलब है कि, आत्माके विकार-रहित होनेके कारणसे ज्ञानी कोई काम नहीं करता; यानी सभी कामों से दूर रहता है।

शङ्का—भगवान् यों कह करके, "कैसे ऐसा आदमी मार सकता है" ज्ञानीमें कर्मका अभाव बताते हैं; यानी कहते हैं कि, ज्ञानी जिस तरह मारने या मरवानेका काम नहीं करता, उसी तरह वह कोई भी काम नहीं करता। यह बात तो समझमें आगयी; मगर हमें इसका कोई विशेष कारण न मालूम हुआ।

उत्तर—अभी कह आये हैं कि, आत्मा विकार रहित है। उसके विकार-रहित होनेके कारण ही वह सब कामोंसे अलग है, क्रिया-रहित है।

शङ्का—ठीक है। यह बात अभी कही जाचुकी है; लेकिन यह कोई यथेष्ट कारण नहीं है; क्योंकि ज्ञानी पुरुष और है और विकार-रहित आत्मा और है; यानी विकार-रहित आत्मासे ज्ञानी पुरुष जुदा है। कोई नहीं कह सकता कि, जो आदमी किसी अचल खम्भेको जान जाता है, वह कोई काम नहीं करता।

उत्तर—यह शङ्का अनुचित है। ज्ञानी पुरुष आत्मासे अभिन्न है; यानी ज्ञानी पुरुष और आत्मा एक ही हैं—उनमें अलहदगी नहीं। विद्वत्ता शरीर आदिके समुदायसे सम्बन्ध नहीं रखती; इसवास्ते जबकि हम इस बातको स्वीकार करते हैं, तब हमें मानना चाहिये कि, ज्ञानी पुरुष और आत्मा एक ही है। वह शरीर-समुदायके अन्तर्गत नहीं है और वह निर्विकार एवं स्थिर है। आत्माके अविक्रियतत्व रूप होनेके कारण, भगवान् ख़ाली मारनेकी क्रियाका ही निषेध नहीं करते, लेकिन और-और सभी कामोंका निषेध करते हैं; यानी ज्ञानीके पक्षमें कोई भी काम सम्भव नहीं ठहराते।

उनका कहना है कि, ज्ञानी खाली मारने ही का काम नहीं करता, बल्कि और भी कोई काम नहीं करता ; अर्थात् न वह मारनेका काम करता है और न कोई दूसरा काम करता है। वह सब कामों से अलग है। वह एकदम क्रिया-रहित है। ज्ञानीके लिये कोई काम नहीं है।

बारम्बार कह चुके हैं कि, आत्मा विकार-रहित है, अचल है। विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ और बुद्धि वग़ैरः हैं ; लेकिन लोग आत्माको, बुद्धि-वृत्तिसे अलग न करके, अज्ञानसे, विषयोंका ग्रहण करनेवाला समझते हैं। इसी भाँति आत्मामें किसी भी प्रकारका रूपान्तर—फेरफार—न होनेपर भी, लोग अविद्याही के कारण से उसे ज्ञानी समझते हैं। वास्तवमें वह एकरस है। उसमें कोई विकार—रद्दबदल—नहीं होता। इसलिये भगवान्ने कहा है कि, आत्मा न किसी क्रियाका साक्षात् कर्त्ता है और न प्रयोजक कर्त्ता है। वह आकाशकी भाँति अचल, अटल है और किसी भी कामका करनेवाला नहीं है। इसी कारणसे ज्ञानीके लिये भगवान् सब कामोंसे अलग कहते हैं और शास्त्रमें जिन कामोंके करनेकी आज्ञा है ; उन्हें अज्ञानीके लिये ठहराते हैं। तात्पर्य्य यह है कि, ज्ञानियोंके लिये कोई काम नहीं है ; सारे काम अज्ञानियोंके लिये हैं।

कर्म अज्ञानियोंके लिये हैं।

शङ्का—जिस भाँति कर्म अज्ञानियोंके लिये हैं, उसी भाँति ज्ञान भी ज्ञानियोंके लिये है। जिस तरह पिसेको पीसना व्यर्थ है; उसी तरह ज्ञानवान्को ज्ञान देना व्यर्थ है। इससे जान पड़ता है, कि काम अज्ञानियोंके लिये है अथवा ज्ञानियोंके लिये, यह भेद बताना कठिन है।

उत्तर यह शङ्का ठीक नहीं है ; किसकी करनेको कुछ है और

जिसके करनेको कुछ नहीं है, इन दो बातोंसे अलग-अलग भेद मालूम हो जाता है। जैसे; अज्ञानीको शास्त्रकी आज्ञाओंके अर्थ समझकर अग्निहोत्र वगैर: कर्म करनेके लिये हैं। वह समझता है कि, मुझे अग्निहोत्र वगैर: यज्ञ-सम्बन्धी कर्म करने हैं, अत: उनके विषयकी ज़रूरी बातें मुझे जाननी चाहियें। इसके भी आगे वह कहता है—"मैं कर्त्ता हूँ, मेरा यह धर्म है।" इसके विपरीत इसी अध्यायके बीसवें श्लोक और उसके आगेके श्लोकोंमें, आत्माके वास्तविक स्वरूपके विषयमें जैसी उपदेशपूर्ण बातें कही गयी हैं, उनको पूर्णतया जान लेने और समझ लेनेपर कुछ भी काम करने को बाकी नहीं रहता ; यानी जो आत्माके वास्तविक—यथार्थ—स्वरूपको जान जाता है; यानी उसकी असली सूरतको पहचान लेता है और उसे अविनाशी, नित्य, सनातन, पुराण, निर्विकार आदि समझता है, समझता ही नहीं, बल्कि इसपर दृढ़ विश्वास कर लेता है, उसे कोई काम करनेको नहीं रह जाता। उस समय इसके सिवा कोई बात दिलमें नहीं उठती कि, आत्मा एक है और वह अकर्त्ता है। अब जिस भेदके समझानेकी बात कही गयी थी, वह सुखसे समझमें आ सकता है।

अब रही उसकी बात, जो आत्माको कामोंका कर्त्ता समझता है। जो ऐसा समझता है, उसके दिलमें ज़रूर यह खयाल पैदा होगा कि, मुझे यह करना है, मुझे वह काम करना है। जिस मनुष्यकी ऐसी समझ है, वही कर्म करने योग्य है। शास्त्रोंमें उसीके लिये काम करनेकी आज्ञा है। ऐसा आदमी, जो आत्माको कामोंका कर्त्ता समझता है, अज्ञानी है। भगवान्‌ने इसी अध्याय के १९ वें श्लोक में कहा है—"जो यह समझता है कि, आत्मा मारनेवाला है और जो यह समझता है कि आत्मा मारा जाता है, वे दोनों मूर्ख हैं। आत्मा न तो किसीको मारता है और न आप मारा जाता है।" इसी अध्यायके २१ वें श्लोकमें ज्ञानीकी बात विशेष रूपसे कही गयी है और उसके लिये, "ऐसा आदमी कैसे मार

सकता है ?"—इन शब्दोंमें कामोंका निषेध किया गया है। इस-वास्ते उस ज्ञानी पुरुषको जिसने निर्विकार—ग़ैर-मुतग़ैय्यर—आत्माको जान लिया है, और पुरुषको जो एकमात्र मोक्ष—मुक्ति—चाहता है, सिर्फ़ कामोंका त्याग करना होता है।* इसलिये भगवान् ज्ञानी—सांख्यों और अज्ञानी--कर्म करनेवालोंको दो फ़िरक़ोंमें बाँटते हैं और दोनोंके लिये दो अलग-अलग राहें बताते हैं। इसी गीताके तीसरे अध्यायके ३ रे श्लोकमें भगवान् सांख्यवालोंको ज्ञान-योगकी और योगियोंको कर्म-योगकी राह बताते हैं। इसी प्रकार व्यासजी अपने पुत्रसे कहते हैं—"अब दो राहें हैं,—पहली कर्म करनेकी राह है और दूसरी इसके पीछे काम त्यागनेकी राह है।" भगवान् इसी भेदको बारम्बार इस गीता-शास्त्रमें समझावेंगे। (देखो तीसरे अध्यायके २७ वें और २८ वें श्लोक तथा पाँचवेंके १३ वें इत्यादि)।

निर्विकार आत्माका ज्ञान होना सम्भव है।

(शङ्का) इसके सम्बन्धमें कुछ घमण्डी विद्याभिमानी यों कहते हैं—किसीके दिलमें यह विश्वास नहीं पैदा हो सकता है, "मैं अधि-कारी आत्मा हूँ, अद्वितीय हूँ, अकर्त्ता हूँ, जिन जन्म-मृत्यु वग़ैरः के भाव-विकारोंके अधीन सारा संसार है, उनके अधीन मैं नहीं हूँ" ; और ऐसा विश्वास पैदा होनेपर ही सब कर्मोंके त्यागकी आज्ञा है।

(उत्तर) इस मौक़ेपर यह शङ्का ठीक नहीं है। अगर यही बात हो, तो शास्त्रका उपदेश वृथा होगा। "आत्मा न जन्म लेता है और न मरता है" इत्यादि,—गीताके ऐसे-ऐसे उपदेश बेकार

* जो मोक्ष चाहता है, अगर उसमें अभीतक आत्मज्ञानका अभाव है, तो उसे शास्त्रकी आज्ञानुसार कर्म, निस्सन्देह, करने चाहिये। इस प्रकार शास्त्रकी आज्ञा-नुसार कर्म करने से उसके "ज्ञान योगमें" में बाधा नहीं पड़ेगी।

रहेंगे। उन शङ्का करनेवालोंसे पूछना चाहिये, कि धर्म-शास्त्रमें धर्म-अधर्मके अस्तित्वका ज्ञान और धर्म या अधर्म करनेवालेके मर-कर जन्म लेनेकी बात जिस तरह कही गयी; उसी तरह आत्माके अविकार्य्य, अकर्त्तापन, एकता वगैरः की बातें क्यों नहीं कही गयीं?

(विपक्षी) क्योंकि आत्मा तक इन्द्रियोंमेंसे किसी भी इन्द्रियकी पहुँच नहीं हो सकती।

(उत्तर) यह बात नहीं है। धर्मशास्त्र तो कहता है कि, "वह (आत्मा) केवल मनसे जाना जा सकता है।" मन, शम और दमसे निर्मल होना चाहिये। जिस समय मन निर्मल होजाता है या जिस समय आदमी शरीर, मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है और गुरु तथा धर्मशास्त्रके उपदेशोंसे सज-सजाकर तय्यार हो जाता है, उस समय वह आत्माको देखने लगता है। शास्त्र और अनुमानसे जब हम आत्माकी निर्विकारताका उपदेश पाते हैं, तब यह कहना, कि ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता, आत्माकी निर्विकारता-का ज्ञान होना असम्भव है, निरा अविचार या दुःसाहस है।

विद्वान्को ज्ञान-योगका आश्रय लेना चाहिये।

यह मानना ही होगा, कि इस प्रकार जो ज्ञान पैदा होता है, वह अज्ञानका नाश अवश्य करता है। इस अज्ञानके विषयमें भग-वान् इसी अध्यायके १९ वें श्लोकमें कह चुके हैं। वहाँ यह उपदेश दिया गया है कि, आत्माको मारनेकी क्रियाका कर्त्ता या कर्म कहना अज्ञानताका फल है। यह बात मारनेकी क्रियाके अलावः और जितनी क्रियायें हैं, सभीके सम्बन्धमें कही हैं; क्योंकि आत्मा अविकार्य्य है। इसलिये विद्वान् या ज्ञानी किसी भी क्रियाका साक्षात् या प्रयोजक कर्त्ता नहीं है। तात्पर्य्य यह है, कि ज्ञानी या विद्वान्का किसी भी कामसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। उसके करने को कोई काम नहीं है।

(प्रश्न) तब उसे क्या करना चाहिये ?

(उत्तर) इसका जवाब भगवान्‌ने तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोक में दिया है, कि सांख्योंको ज्ञान-योगका आश्रय लेना चाहिये। कामोंके त्यागके विषयमें भगवान्‌ने पाँचवें अध्यायके १३ वें श्लोकमें कहा है—"शुद्ध अन्तःकरणवाला देहका मालिक—जीव—मनसे सारे कर्मोंको त्यागकर, न तो कुछ करता हुआ और न कुछ कराता हुआ, नौ द्वारके नगर—शरीर—में सुखसे रहता है।"

(शङ्का) इस जगह शब्द "मन" से यह प्रकट होता है कि, शरीर और वाणीके कामोंका त्याग न करना चाहिये।

(उत्तर) नहीं, उस जगह "सारे कर्मों" के त्यागकी बात साफ़-साफ़ कही है।

(शङ्का) "सारे" शब्दसे सारे मानसिक कामोंसे मतलब मालूम होता है।

(उत्तर) नहीं। शरीर और वाणीके सारे कामोंके पहले 'मन' काम करता है। मनके पहले काम न करनेकी हालतमें शरीर और वाणीके कामोंका अस्तित्व ही नहीं होता।

(शङ्का) तब उसे अन्यान्य सारे मानसिक—मन-सम्बन्धी—कामोंका त्याग कर देना चाहिये। केवल उनका त्याग न करना चाहिये, जिनकी शास्त्राज्ञानुसार शरीर और वाणीके कामोंके करने के लिये ज़रूरत है।

(उत्तर) नहीं, उस जगह यह कहा है—"न तो कुछ करता हुआ और न कुछ कराता हुआ।"

(शङ्का) तब तो यह मालूम होता है, कि भगवान्‌ने जो सारे कामोंका त्याग कहा है, वह मरते हुए मनुष्यके लिये कहा है, जीते हुए के लिये नहीं।

(उत्तर) नहीं, यह बात नहीं है ; अगर यही बात होती, तो ऐसा न कहा जाता—"नौ द्वारके नगर—शरीर—में रहता है।" इस

अवस्थामें, इस वाक्यसे कुछ मतलब नहीं निकलता। कोई आदमी मरता हुआ, सारी चेष्टाएँ त्याग देनेपर, शरीरमें रहता हुआ नहीं कहा जा सकता।

सिद्धान्त यह निकलता है, कि जिसे आत्मज्ञान हो जाय, केवल उसे त्यागका आश्रय लेना चाहिये। ऐसे आत्मविद्या सीख लेनेवालेको कामोंकी ओर झुकनेकी आवश्यकता नहीं। इस गीताके आगेके अध्यायोंमें जहाँ आत्माका ज़िक्र होगा, वहाँ यही बातें समझायी जायँगी।

आत्मा निर्विकार किस तरह है ?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने कपड़े फेंककर नये कपड़े पहनता है; उसी प्रकार शरीरके अन्दर रहनेवाला—आत्मा—फटी-पुरानी देहोंको फेंककर दूसरी नवीन देहोंको धारण करता है।

जिस भाँति मनुष्य, इस जगत्‌में, पुराने और फटे हुए कपड़ोंको उतार कर अलग फेंक देता है और उनकी जगह दूसरे नये कपड़े पहन लेता है; उसी तरह, संसारी आदमीके माफ़िक़, शरीरके अन्दर रहनेवाला—आत्मा—पुराने शरीरोंको छोड़कर, बिना किसी प्रकारके रूपान्तरके, दूसरे नये शरीरोंमें घुस जाता है।

कपड़े ही पुराने होते हैं, फटते-कटते हैं और मैले होते हैं; उनके रूप, रंग आदिमें फेरफार—तब्दीली होती है; किन्तु उन कपड़ोंके पहननेवालेमें कुछ भी तब्दीली नहीं होती; उसी तरह शरीर ही पैदा होता है, शरीर ही घटता-बढ़ता है, शरीर ही पुराना और दुर्बल होता है और उसका ही विनाश होता है; किन्तु शरीररूपी कपड़ेके पहननेवाले आत्मामें कोई विकार-तब्दीली—नहीं होती। इससे साफ़ तौरपर समझमें आता है, कि शरीर और

इन्द्रिय आदिसे आत्मा जुदा है। वह नित्य है और सब विकारोंसे रहित निर्विकार है।

हे अर्जुन! अब तो तुझे आत्माके अविनाशी और निर्विकार होनेमें कोई सन्देह न रहा होगा। यह भी तैंने खूब अच्छी तरह समझ लिया होगा कि, आत्मा न किसी क्रियाका कर्त्ता है, न प्रेरक है और न किसी क्रियाका कर्म है। आत्माको न कोई घटा सकता है और न कोई उसे मार ही सकता है। अब क्या तुझे आत्मासे शरीरके अलग हो जानेका शोच है? अथवा यह सोच है कि, न जाने आगेवाला, दूसरा शरीर, इस वर्त्तमान शरीरसे अच्छा मिलेगा या बुरा। अगर तेरे दिलमें यह चिन्ता अभीतक लटकही रही है, तो इस चिन्ताको भी छोड़। ऐसी बातोंकी चिन्ता पापियोंको होनी चाहिये। धर्मात्माओंको ऐसे सोच-फिक्रकी ज़रूरत नहीं; क्योंकि धर्मात्माओंको उनके पुण्यके फल-स्वरूप अच्छे-अच्छे देवताओंके से शरीर मिलते हैं। उन्हें देवलोकमें, इस संसारसे भी बढ़िया-बढ़िया सुख-भोगके सामान मिलते हैं। जो लोग पाप और पुण्य दोनों करते हैं, उन्हें इसी लोकमें मनुष्य-शरीर मिलते हैं। लेकिन पाप-ही-पाप करनेवालोंको, उनके पापके अनुसार, नारकीय शरीर मिलते हैं। पापियोंको ही साँप बिच्छू, मगर, मच्छ अथवा मलके कीड़े आदिके शरीर मिलते हैं। जो ब्रह्मविद्या नहीं जानते और उत्तम-उत्तम सुख-भोगोंकी अभिलाषा रखते हैं और उनको प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके धर्म-पुण्य आदि करते हैं, उन्हें उनके पुण्यके हिसाबसे देव-शरीर मिलते हैं। यदि वे एक ओर पुण्य करते हैं और साथ ही पाप भी करते हैं, तो उन्हें मनुष्य-शरीर मिलता है। मतलब यह है कि, पापी और पुण्यात्मा सबको एक शरीरके बाद दूसरा शरीर अवश्य मिलता है; इसलिये शरीरके लिये अथवा अच्छे-बुरे शरीरके लिये, सोच करना मनुष्यकी नादानी है। ज्ञानी लोग तो मनुष्य-शरीर तो मनुष्य-शरीर, देव-शरीरको भी पसन्द

नहीं करते। शरीर न मिले, इसके लिये ब्रह्मविद्या सीखते हैं; रात-दिन ब्रह्ममें लीन रहते हैं। ब्रह्मविद्यामें पारङ्गत होनेवाले ज्ञानियोंको शरीर-बन्धनसे छुटकारा मिल जाता है। उन्हें परमपद—मोक्ष—मिल जाती है।

हे अर्जुन! भीष्म-द्रोण बड़े महापुरुष हैं। इन्होंने सब अच्छे-ही-अच्छे पुण्य-कर्म किये हैं। भीष्मने, अपने पिताके सुखके लिये, जीवनभर कामदेवको अपने अधीन रखा। द्रोणाचार्यने भी खूब तप करके अपने शरीरको दुर्बल कर डाला। ऐसे महापुरुषों को निस्सन्देह उत्तम शरीर मिलेंगे। मगर जब तक वे लोग इस देहको न छोड़ेंगे, तबतक उन्हें उनके अच्छे कामोंका फल न मिलेगा; इसलिये उनके इन शरीरोंका नाश होना ज़रूरी है। उनके ये वर्त्तमान शरीर उनके स्वर्ग-सुख-भोगमें रुकावट पैदा करते हैं; अतः हे अर्जुन! तू उनकी सच्ची भलाईपर नज़र रखकर, उनके शरीरोंका नाश कर डाल; ताकि वे आगे जाकर अच्छे-अच्छे शरीर पावें और अलौकिक सुख भोगें।

किन कारणोंसे आत्मा सर्वथा निर्विकार है?

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

इसे शस्त्र छेद नहीं सकते; इसे अग्नि जला नहीं सकती; इसे पानी गला नहीं सकता और इसे हवा सुखा नहीं सकती।

इस आत्माके अङ्ग-प्रत्यङ्ग नहीं हैं, इसलिये तलवार वगैरः हथियार इसे काटकर टुकड़े-टुकड़े नहीं कर सकते। इसी भाँति आग भी इसे जलाकर राख नहीं कर सकती। पानी भी इसे गला नहीं सकता। जो चीज़ कितनेही हिस्सोंके जोड़नेसे बनती है, पानी अपने

ज़ोरसे गला-गलाकर उन हिस्सोंको अलग-अलग कर देता है; लेकिन आत्मा भाग-रहित है; अतः पानीका भी इसपर कुछ क़ाबू नहीं चलता। हवा जिस चीज़में नमी होती है, उसे सुखाकर नाश कर डालती है; लेकिन इसमें वह बात नहीं है; इसलिये हवा भी इसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती; अतः आत्मा सर्वथा निर्विकार है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

यह न तो काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न भिगोया जा सकता है और न सोखा जा सकता है। यह नित्य, सर्वव्यापक, अटल, अचल और सनातन है।

इस आत्माको तलवार वगैरः हथियार काट नहीं सकते, इसलिये यह नित्य है। यह नित्य है, इसलिये सर्वव्यापक है। यह सर्वव्यापक है, इसलिये खम्भेकी भाँति अटल है। यह अटल है; इसलिये अचल है। यह किसी कारणसे पैदा नहीं हुआ है, नया नहीं है, इसलिये यह सनातन है; यानी इसका शुरू और अख़ीर नहीं है।

भगवान्‌ने इस अध्यायके २० वें श्लोकमें आत्माको सनातन और निर्विकार आदि कहा था। उसके बाद इन चार श्लोकोंमें भी यही बात घुमा-फिराकर समझायी है, नयी बात कुछ नहीं कही है; इससे पुनरुक्ति-दोष मालूम होता है। असलमें, इसे दोष न समझना चाहिये। आत्माका स्वरूप बड़ी कठिनतासे समझमें आता है। आत्माको जानना सहज नहीं है, इसलिये भगवान् एक ही बातको बारम्बार दूसरे-दूसरे शब्दोंमें कहते हैं, कि जिससे संसारी लोग किसी न किसी तरह तत्त्व की बात समझ जायँ और उनका संसार-बन्धन से पीछा छूट जाय।

शोकको स्थान नहीं है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

कहते हैं, कि आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य है; इसलिये उसे ऐसा समझकर, तुझे शोक न करना चाहिये।

आत्मा अव्यक्त—अप्रकट—मूर्तिरहित है; यानी ज़ाहिर नहीं है और वह मूर्त्तिमान भी नहीं है; अतः उसे आँखसे देख नहीं सकते। आँखही क्या, किसी भी इन्द्रियसे उसे हम नहीं जान सकते। वह अचिन्त्य है; इसलिये उसकी सूरत भी ध्यान में नहीं आती। जो चीज़ इन्द्रियों से जानी जाती है, उसीका मनुष्य ध्यान अथवा ख़याल कर सकता है; लेकिन आत्मा सभी इन्द्रियोंकी पहुँचसे बाहर है; अतः वह, निस्सन्देह, अचिन्त्य है। वह अविकार्य है, उसमें विकार या फेरफार नहीं होता। वह कोई दूध जैसी चीज़ नहीं है, कि उसमें ज़रासा दही मिलानेसे उसकी शकल बदल जाय। वह इस कारणसे भी अविकार्य है कि, उसके भाग नहीं हैं। जिस चीज़के भाग नहीं हैं, उसकी तब्दीली हो ही नहीं सकती; क्योंकि आत्मा विकार-रहित हैं, अतः उसमें फेरफार—तब्दीली हो ही नहीं सकती। आत्माको नित्य, सर्वव्यापक, अटल, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकार्य समझकर तू शोक को छोड़ दे और यह भी मत समझ, कि तू उनका मारनेवाला है और वे तेरे द्वारा मारे गये हैं।

आत्मज्ञान ऐसा कठिन विषय है कि, भगवान्‌के इतना समझानेपर भी अर्जुन अपने मनमें सोचता है कि, आत्मा है तो नित्य, अविनाशी; मगर उसे यह चोला छोड़ने और नया धारण करनेके समय

दुःख तो जरूर ही होता होगा। इस युद्धक्षेत्रमें मृत्यु तो निश्चित है। अगर युद्धमें मेरे भाईबन्द मारे गये, तो वे निश्चय ही दुःखी होंगे और इसीसे मेरा शोक दूर नहीं होता। भगवान् अर्जुनके मनकी ताड़ गये; इसलिये वह अब आत्माको नित्य न मानकर, अर्जुनको समझाते हैं :—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अगर तू इस आत्माको सदा जन्म लेनेवाला और सदा मरनेवाला मानता है, तोभी, हे महाबाहो अर्जुन! तुझे शोक न करना चाहिये।

हे अर्जुन! अगर तू, साधारण लोगोंकी तरह, आत्माको देहके साथ बारम्बार जन्मा हुआ और देहके नाशके साथ बारम्बार मरा हुआ समझता है; यानी यह समझता है कि, देहके तय्यार होते ही उसके साथ ही आत्मा पैदा हो जाता है और देहके नाश होनेपर आत्मा भी नाश हो जाता है; अर्थात् शरीरकी पैदायशके साथ आत्मा पैदा होता है और शरीरके नाशके साथ उसका नाश हो जाता है; किन्तु उसके मरने और जन्म लेनेका क्रम बराबर जारी रहता है;— अगर तेरा ऐसा खयाल है, तोभी तुझे शोक न करना चाहिये; क्योंकि जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अटल है और जो मर गया है, उसका जन्म लेना अटल है।

अगर तू इस स्थूल शरीरको ही आत्मा मानता है और समझता है कि, यह शरीर बारम्बार मरता और पैदा होता है; तो इस अवस्थामें भी तुझे शोक न करना चाहिये; क्योंकि तेरे इस खयालसे ही साफ़ ज़ाहिर है कि, मरकर अवश्य ही जन्म लेना पड़ता है और पैदा होकर अवश्य ही मरना पड़ता है। इस हालतमें भी मौत-ज़िन्दगी अटल हैं; मरना और जन्म लेना अवश्यभावी हैं। जो

बात किसी तरह टल नहीं सकती, उसके लिये शोक करनेकी ज़रूरत ही क्या है ?

तेरा यह ख़याल कि, एक बार मरकर हमेशाको मर जाता है, ठीक नहीं है ; क्योंकि मनुष्य पहले जन्ममें जो बुरे-भले कर्म करता है, उनके फल भोगनेको जन्म लेता है और जो कर्म इस जन्ममें करता है, उनके फल भोगनेको उसे अवश्य ही मरकर फिर जन्म लेना होता है। बिना कर्म-फल भोगे पीछा नहीं छूटता। जिसे ज्ञान हो जाता है, जो आत्माको कर्त्ता न मानकर कर्म करता हुआ देह छोड़ता है, वही एक बार मरकर सदाको मर जाता है ; यानी फिर जन्म नहीं लेता। तात्पर्य्य यह है, कि जबतक मुक्ति नहीं हो जाती, उसे बारम्बार जन्म लेना और मरना ही पड़ता है। यही भगवान् कहते हैं—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

जो पैदा हुआ है, वह अवश्यही मरेगा और जो मर गया है, वह अवश्य ही पैदा होगा ; इसलिये तुझे इस अटल—अवश्यम्भावी बातपर सोच न करना चाहिये ।

हे अर्जुन ! जिसने जन्म लिया है, उसकी मौत अवश्य होगी और जो मर गया है, उसका जन्म ज़रूर होगा। जन्म लेनेवालोंको हम अपनी आँखोंसे मरते देखते हैं; अतः इस विषयमें तो प्रमाण की ज़रूरत ही नहीं है। अब रही यह बात कि, जो मर गये हैं या मरेंगे, वे जन्म लेंगे या न लेंगे। जो मर गये हैं या मरेंगे, उन्हें अवश्य दूसरा जन्म लेना होगा; क्योंकि उन्होंने अपने पहले जन्मके कर्मोंके भोगनेके लिये यह वर्तमान जन्म लिया था। जब उनके पहले जन्मके कर्मोंका नाश हो गया, तब वे मर गये। अब इस जन्ममें जो उन्होंने कर्म किये हैं, उनको वे बिना फिर जन्म लिये न

भोग सकेंगी। बिना कर्मोंके फल भोग किये पिण्ड नहीं छूटता; अतः जो मर गये हैं और मरेंगे, उन्हें निश्चय ही जन्म लेना होगा और अपने इस वर्त्तमान जन्मके कर्मोंके फल भोगने होंगे। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि, जबतक जीव कर्म-बन्धनमें बँधा रहता है, जबतक उसको मोक्ष नहीं हो जाती, तबतक उसे बारम्बार पैदा होना और मरना होता है। जन्म और मरण, अवश्यम्भावी हैं। इन्हें कोई टाल नहीं सकता। इनका कुछ भी इलाज नहीं है। जिसका इलाज नहीं है, जो अटल है, उसका सोच मूर्खताके सिवाय और क्या है? अगर तू इन भीष्म आदिसे नहीं लड़ेगा, तोभी ये तो अपने पूर्व जन्मके कर्मोंके पूरे हो जानेके कारण अवश्य ही मरेंगे। इनको अपनी इन देहोंसे ज़रूर ही अलग होना पड़ेगा; क्योंकि जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्य ही होगी। जब जन्म लेनेवालेकी मृत्यु अटल है, उसे कोई बचा नहीं सकता, तब फिर शोक करनेकी ज़रूरत ही क्या है?

भगवान्‌के इतना समझाने-बुझानेपर अर्जुन मनमें कहने लगा, अब मैं खूब अच्छी तरह समझ गया कि, आत्मा—शरीरमें रहनेवाला—नित्य है। उसका नाश हो ही नहीं सकता; अतः मैं अब आत्माके लिये शोक न करूँगा; मगर मुझे इन पृथिवी, जल, अग्नि, आदिसे बने हुए शरीरोंका शोक तो अवश्य ही सताता रहेगा। भगवान् अर्जुनके मनको जानकर आगे समझाते हैं कि, शरीर और आत्माको तो तू अलग-अलग समझता है। यह भी जानता है कि, सब शरीरोंमें एक ही आत्मा है। आत्माका न नाम है और न रूप है। जब आत्मा शरीरमें आता है तब शरीरका नाम और रूप होता है। शरीरको ही चाचा, भाई, साला आदि नामोंसे तथा अर्जुन, युधिष्ठिर आदि नामोंसे पुकारते हैं। इन शरीरोंके लिये तू शोक मत कर; क्योंकि—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

शरीरोंका आदि अव्यक्त है, मध्य व्यक्त है और उनका अन्त फिर अव्यक्त है। फिर उनके विषयमें शोक करनेकी कौन बात है? यानी ये शरीर आरम्भमें नहीं दीखते, बीचमें दीखते हैं और अन्तमें, मरने बाद, फिर नहीं दीखते, फिर उनके लिये शोक क्यों करें?

अथवा

प्राणी आरम्भमें अव्यक्त—अप्रकट—ही रहते हैं अर्थात् वे किसीको दिखाई नहीं देते, बीचमें दिखाई देते हैं (अर्थात् जब शरीर धारण करते या जन्म लेते हैं) और मरनेपर फिर गुम होजाते हैं; इसमें शोक करनेकी क्या बात है?

अथवा

हे अर्जुन! पैदा होनेके पहले भीष्म द्रोण आदिका नाम, रूप कुछ भी नहीं था और मृत्युके बाद भी कुछ न रहेगा; सिर्फ अब बीचकी हालतमें, नाम, रूप आदि दिखाई देते हैं। ऐसोंके लिये शोक करनेकी क्या जरूरत है?

हे अर्जुन! जिनको तू भीष्म, द्रोण, दादा, चाचा, बेटा, पोता कहता है, ये स्थूल शरीर हैं। ये सब पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और आकाश—इन पाँच तत्वोंके योगसे बने हैं। पैदा होनेके पहले ये हमें नहीं दीखते थे; पैदा होनेके बाद, अब, हमें दीखते हैं; इसी तरह नाश होनेके बाद, हमें फिर न दीखेंगे। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि, ये आरम्भमें नहीं दीखते, बीचमें दीखते हैं और मरनेके पीछे, अन्तमें, फिर ग़ायब हो जाते हैं। जो चीज़ शुरू और आख़ीरमें न

दीखे, खाली बीचमें दीखे, उसे कुछ न समझना चाहिये। स्वप्नमें जो चीज़ दिखाई देती है वह, स्वप्नके पहले और स्वप्नके बाद, जागने पर, नहीं दिखाई देती। स्वप्नकी चीज़ आदिकाल और अन्तकाल में नहीं दीखती, सिर्फ मध्यकाल—स्वप्नावस्था—में दीखती है; इसी भाँति ये प्राणी आदिकाल और अन्तकालमें नहीं दीखते, केवल मध्यकालमें, जब पैदा होते हैं, दीखते हैं। अब हर कोई अच्छी तरह समझ सकता है, कि स्त्री, पुत्र, बाप, दादा, साले, सुसरे और बेटे-पोते आदि स्वप्नकीसी चीज़ें हैं। जो बात सुपनेकी चीज़ोंमें है, वही इनमें भी है। सुपनेकी चीज़ोंके लिये मूर्ख भी शोक नहीं करता; तब जो चीज़ें स्वप्नकी चीज़ोंके समान हैं, उनके लिये कौन शोक करेगा?

स्वप्नमें जो हम देखते हैं, वह स्वप्नमें ही दिखाई देता है। स्वप्नके पहलेकी अवस्था और स्वप्नके बादकी अवस्था—जाग्रत अवस्थामें, वह हमें नहीं दीखता। स्वप्नमें हमने अपूर्व सौन्दर्य्य और लावण्य-पूर्ण एक स्वर्गीय अप्सरा देखी थी। वैसी सुन्दरी और वही स्त्री हमने स्वप्नके पहले नहीं देखी थी और अब हम जाग गये,—हमारी आँख खुल गयी है, तो हमें इस समय वह नहीं दीखती; अतः, हमें उस सुन्दरीके लिये कुछ शोक न करना चाहिये। अगर वह वास्तवमें कुछ चीज़ होती, तो हमें स्वप्नसे पहले भी दीखती और अब आँख खुलनेपर भी दीखती। वह पहले नहीं थी, अब नहीं है, सिर्फ़ बीचमें दीख गयी; इसलिये वह भ्रमके सिवा कुछ नहीं है। इसी तरह ये दादा, गुरु, साले, सुसरे पहले तैंने नहीं देखे, इस समय तू इनको देख रहा है, नाश होने या मरने बाद तू इन्हें फिर न देख सकेगा। ये स्वप्नकी चीज़ोंकी तरह हैं। ये अनित्य और नाशमान् हैं।

यह शरीर मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और आकाश,—इन पाँच तत्वोंके योगसे बना है; नाश होने—मरने पर उन्हींमें मिल जायगा।

ये पृथिवी (मिट्टी), जल, अग्नि वगैरः पाँच तत्व भी जिस अव्यक्त चैतन्यसे पैदा हुए हैं, प्रलयकालमें, उसीमें मिल जायँगे। वृहदारण्यकके चौथे ब्राह्मणमें लिखा है कि, "यह जगत् अपनी पैदायशके पहले नहीं दीखता था; यानी आदिकालमें अप्रकट था। सृष्टिरचना के समय, यह नाम और रूपसे प्रकट हुआ, जो अपने मध्य समयमें सबको दीख रहा है। पीछे जिससे पैदा हुआ है, उसीमें मिल जायगा।" जब इस पृथिवी वगैरः की ही कोई गिन्ती नहीं है, तब इन तुच्छ शरीरोंकी क्या बात है? खूब याद रख, संसार स्वप्नकीसी माया है। असलमें यह कुछ नहीं है। भ्रमसे ऐसा दीखता है। तू इसे ठीक सीपीकी चाँदी अथवा रस्सीके साँपके समान झूँठा समझ और इस झूँठे संसारके लिये हरगिज़ रञ्ज न कर।

महाभारतके स्त्रीपर्व (२-१३) में भी ऐसीही बात लिखी है:—

"वह अव्यक्तसे आया और उसी अव्यक्तमें फिर चला गया। वह न तेरा है और न तू उसका है। यह वृथाका शोक क्यों करता है?"

जो चीज़ें बाज़ीगरकी मायाके समान पहले दिखाई नहीं देतीं, बीचमें दिखाई देती हैं और अन्तमें फिर नज़रसे गायब होजाती हैं, उनके लिये दुःख करनेकी कौनसी ज़रूरत है?

आत्माका समझना बड़ा कठिन काम है। यह कोई संसारी चीज़की तरह नहीं है, जो शीघ्र ही समझमें आजाय। आत्मा जल्दी समझमें क्यों नहीं आता?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

इस आत्माको कोई आश्चर्यजनक चीज़की भाँति देखता है; कोई इसे आश्चर्यजनक चीज़की तरह बताता है; कोई इसे आश्चर्यजनक चीज़की तरह सुनता है; सुनकर भी कोई इसे सचमुच नहीं समझता।

अथवा

कोई आत्माको इस तरह देखता है मानो यह कोई आश्चर्य पैदा करनेवाली चीज़ है, कोई इसके विषयमें आश्चर्य पैदा करनेवाली चीज़ की सी बातें करता है, कोई इसके विषयमें सुनकर इसे आश्चर्य पैदा करनेवाली चीज़की तरह समझता है ; पर देखकर, कहकर, सुनकर, भी इसे कोई ठीक-ठीक नहीं समझता ।

एक, आत्माको आश्चर्यजनक चीज़की तरह—अद्भुत अजीब चीज़की भाँति—यकायक देखी हुई चीज़के माफ़िक़, अनदेखी हुई चीज़की तरह, देखता है। दूसरा, उसके विषयमें ऐसी बातें कहता है, मानों वह कोई विस्मय-कारक चीज़ है। कोई उसके विषयमें इस तरह सुनता है, मानों वह कोई अद्भुत चमत्कारक चीज़ है ; पर उसे देखकर, सुनकर और कहकर भी उसे कोई भी बिल्कुल ही नहीं समझता। वह कोई लौकिक पदार्थ नहीं है, जो सहजमें समझमें आजाय। वह असलमें अलौकिक और आश्चर्य पैदा करनेवाली चीज़ है। वह अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य्य है; इसलिये वह इन्द्रियों तथा अन्तःकरणकी पहुँचके बाहर है। उसका देखना, सुनना, कहना, जानना और अनुभव करना बड़ा कठिन काम है।

जो आत्माको आश्चर्य जैसी चीज़की तरह देखता है, उसके विषयमें कहता और सुनता है, ऐसा आदमी हज़ारोंमें एक पाया जाता है ; इससे मालूम होता है कि, आत्माका समझना बड़ा कठिन काम है।

माधवाचार्यकृत भाष्यमें लिखा है—"जो इस आत्माको अज और अविनाशी परमात्माकी प्रतिमूर्ति जानता है, और इसको निश्चित रूपसे उसी परमात्माके अधीन समझता है, ऐसा आदमी ही सचमुच आश्चर्य है ; यानी ऐसे आदमीका होना ही आश्चर्यकी

बात है। इसी भाँति ऐसा आदमी, जो उस (आत्मा) की चर्चा करता है अथवा उसके बारेमें सुनता है, निश्चय ही बड़ी कठिनतासे कहीं मिलता है।

"यों तो हर शख्स, जब वह अपनेही आत्माके विषयमें सोचता और कहता है—'मैं', तब आत्माको समझता हुआ मालूम होता है। इस अवस्थामें, हम किस तरह कह सकते हैं कि, आत्माको जानने और समझनेवाला बड़ी कठिनाईसे मिलता है ? मामूली तौरपर आत्माके विषयकी बातें कोई सुन सकता है, उसे देख सकता है और उसकी चर्चा भी कर सकता है; लेकिन आत्माका यथार्थ स्वरूप ठीक तरहपर और पूरी तरहसे समझने और जाननेवाला सच-मुच ही बड़ी कठिनतासे मिलता है। जो जीव ईश्वरकी प्रतिमूर्ति है, उसका रूप है, उसका प्रतिविम्ब है, उस जीवको समझनेवाला ही मुश्किलसे मिलता है, तब उस महामहिमावान् प्रतापी ईश्वर और उसकी शक्तियोंको समझने और जाननेवाला कोई शायद ही मिले।"

भगवान्‌ने इस अध्यायके ११ वें श्लोकसे आत्मा और अनात्माका विषय उठाया था, अब वह इसे यहाँ ३० वें श्लोकमें इस भाँति खतम करते हैं:—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

प्रत्येक प्राणीके शरीरमें रहनेवाला आत्मा सदा अवध्य है; इसलिये, हे भारत ! तुझे किसी प्राणीके लिये शोक न करना चाहिये।

चाहें किसी भी प्राणीका शरीर नाश क्यों न हो जाय; किन्तु आत्माका नाश कभी नहीं हो सकता। तब तुझे किसी प्राणीके लिये, चाहें वह भीष्म हो या और कोई, शोक न करना चाहिये। तात्पर्य्य यह है, कि आत्मा तो अविनाशी है, उसका नाश कभी हो ही नहीं सकता; इसलिये आत्माके लिये शोक करनेकी आवश्यकता

नहीं। रही शरीरकी बात, सो यह तो नाशमान् है ही, एक-न-एक दिन ज़रूर नाश होगा, इसका नाश अटल है; फिर इसके लिये भी शोक करनेकी क्या ज़रूरत है ?

क्षत्रियको युद्ध करना उचित है।

भगवान्ने यह बात तो साबित कर ही दी है कि, आत्मा और शरीरके लिये शोक-मोह करना वृथा है। अब वह यह दिखाते हैं कि, क्षत्रिय-धर्मके अनुसार क्षत्रियको युद्ध करनेसे पाप नहीं लगता; बल्कि, युद्ध करना क्षत्रियका मुख्य धर्म—कर्त्तव्य—है। युद्ध, क्षत्रिय के लिये, स्वर्गका खुला हुआ द्वार है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

अपने क्षत्रिय धर्मका खयाल न करके भी, तुझे युद्धसे न हिचकना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर कोई उत्तम काम नहीं है।

आत्मा अविनाशी है; उसका नाश कभी नहीं हो सकता; शरीरका नाश अवश्यम्भावी है; इन बातोंको विचारकर ही तुझे शोक-मोहसे अलग न होना चाहिये; बल्कि, युद्धको क्षत्रियका मुख्य धर्म समझकर भी तुझे शोक-मोहसे रहित होना चाहिये। युद्धसे मुँह न मोड़ना, लड़ाईमें पीठ न दिखाना, यह क्षत्रियोंका ख़ास धर्म है। युद्धको अधर्म समझकर, उसमें अधर्मकी झूँठी कल्पना करके, तुझे युद्धसे पराङ्मुख न होना चाहिये।

तूने कहा है कि, "अपने ही भाई-बन्धुओं तथा रिश्तेदारोंके मारनेसे मुझे सुख न होगा। भीष्म, द्रोण वगैरःको मैं त्रिलोकीके राज्यके लिये भी नहीं मार सकता। इनके मारनेसे भीख माँगकर रहना अच्छा है" इत्यादि। तेरी इन बातोंसे जान पड़ता है कि, तूने

शास्त्रकी बातोंपर ज़रा भी विचार नहीं किया। अगर तू शास्त्रपर ख़याल रखकर कुछ कहता, तो वह इस भाँति बेहूदा न होता। तेरी पिछली बातोंसे यही साबित होता है, कि तुझे शास्त्रका भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है। मनुने अपनी संहिताके सातवें अध्यायमें यही बात कही है :—

> समोत्तमाधमैराज्ञाचाहूतः पालयन प्रजाः।
> न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मृतम्॥
> संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
> शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्॥ ८८॥

प्रजाओंको पालन करनेवाले राजाको अगर समान बलवाले, अधिक बलवाले या कम बलवाले लड़नेको ललकारें; तो उसे अपने क्षत्रिय-धर्मको याद रखकर लड़ाईसे मुँह न मोड़ना चाहिये। युद्धसे पीछे न हटना, प्रजाका पालन करना और ब्राह्मणोंकी सेवा करना, ये तीनों काम राजाकी बहुत ही भलाई करनेवाले हैं।

हे अर्जुन! हर तरह विचारनेपर यही नतीजा निकलता है, कि तू अपने क्षत्रिय-धर्मको विचारकर युद्धसे मुँह मत मोड़; क्योंकि युद्ध ही तेरा सर्वोपरि धर्म है। इसमें डरने, घबराने और काँपनेकी कोई बात नहीं है। क्षत्रियके लिये धर्म-युद्धसे बढ़कर और उत्तम कोई काम नहीं है।

इस युद्धमें लड़नेसे क्या लाभ है? भगवान् कहते हैं :—

> यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
> सुखिनः क्षत्रियः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

हे पार्थ! बिना कोशिशके, अपने-आप मिला हुआ, युद्ध करनेका ऐसा मौका खुला हुआ स्वर्गका दरवाज़ा है। ऐसा मौका भाग्यवान् क्षत्रियोंके ही हाथ लगता है।

हे अर्जुन! बिना तेरी किसी प्रकारकी चेष्टाके, दैवयोगसे, ऐसा युद्धका मौका तुझे मिला है। अगर इस युद्धमें तू जीतेगा, तो तुझे सारी पृथिवीका राज्य और यश मिलेगा। अगर तू लड़ता हुआ मर गया, तो बिना रोक-टोक स्वर्गमें जायगा। तू पुण्यवान् है, इसीसे तुझे ऐसा मौका मिला है। ऐसा मौका हाथसे न गँवा।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

लेकिन अगर तू इस धर्मयुद्धमें नहीं लड़ेगा, तो स्वधर्म और कीर्तिसे हाथ धोकर पापका भागी बनेगा।

हे अर्जुन! तू क्षत्रिय है। क्षत्रियका मुख्य धर्म लड़ना है। युद्धका मौका भी तेरे हाथ खूब आया है। ऐसा मौका भाग्यवान् क्षत्रियोंको ही मिलता है। अगर इस मौकेपर तू न लड़ेगा, तो तेरा क्षत्रिय-धर्म नाश हो जायगा। साथही तैंने जो देश-देशान्तरके महाबली महीपालोंको पराजित करके तथा साक्षात् ईश्वर, किरात-रूपी महादेवजीसे युद्ध करके जो अचल कीर्त्ति प्राप्त की है, वह मिट्टीमें मिल जायगी। इसके सिवा सब कुछ गँवाकर भी, तुझे उल्टा पापका भागी बनना होगा। तेरे लड़ने न लड़नेपर ही युद्धका दारमदार नहीं है। तेरे न लड़नेसे युद्ध रुक न जायगा। दुर्योधन वग़ैरः तो बिना लड़े न मानेंगे। वह लोग तेरे मार डालनेमें कोई बात उठा न रखेंगे। अगर तुझे वे लोग मार डालेंगे, तो सारी पृथिवीका बेखटके राज्य करेंगे और साथही तेरे किये हुए पुण्योंके भागी होंगे। तू अपना धर्म, अपनी कीर्त्ति, खोकर उनके किये हुए पापोंका भागी होगा। मनुने अपनी संहिताके सातवें अध्यायमें कहा है:—

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तस्य हतस्य तु ॥ ९५ ॥

लड़ाईके मैदानसे डरकर भागा हुआ पुरुष अगर शत्रुओं द्वारा मारा जाता है; तो वह मारनेवालेके सब पापोंका भागी बनता है। लड़ाईसे भागे हुए और मारे जानेवाले पुरुषने स्वर्ग वग़ैरः पानेकी कामनासे जो पुण्य-कर्म किये थे, उनका मालिक मारनेवाला होता है।

इन सब बातोंपर ग़ौर करके, तू युद्धसे मुँह न मोड़। युद्धसे विमुख होनेपर, तू अपने धर्म और अपनी सञ्चित कीर्त्तिसे ही हाथ न धोयेगा, इसके अलावा और भी कितनीही बुराइयाँ होंगी।

अकीर्त्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

मनुष्य सदा ही तेरी निन्दा किया करेंगे। भले आदमीको तो निन्दा मरणसे भी अधिक दुःखदायी है।

अगर तू नहीं लड़ेगा, तो दुनियाके लोग हमेशा तेरी बदनामी करेंगे। लोग कहेंगे कि, अर्जुन कायर था, इसीसे लड़ाईके मैदानसे प्राण लेकर भाग गया। जो दुनियामें अद्वितीय वीर, धर्मात्मा और अनेक उत्तम-उत्तम गुणोंवाला समझा जाता है, और जिसकी तमाम दुनिया इज्ज़त करती है,—ऐसे शख्सके लिये बदनामी उठानेसे मरना कहीं अच्छा है।

इसके सिवा—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

महारथी लोग समझेंगे कि, अर्जुन डरकर रणसे भाग गया। जो लोग तुझे आज मानते हैं, उन्हींकी नज़रोंमें तू गिर जायगा

अर्जुन! अगर तू युद्ध न करेगा, तो दुर्योधन आदि महारथी समझेंगे कि अर्जुन, दयाके मारे नहीं, किन्तु कर्ण वग़ैरःके भयसे युद्धसे मुँह मोड़ गया। जो ऐसा समझेंगे, वे कौन हैं?—ये वही

शत्रु स हैं, जो आज तुझे अनेक उत्तमोत्तम गुणोंसे युक्त समझते हैं; जिनको तेरी याद आनेसे रातको सुखसे नींद नहीं आती ; जिनकी नज़रोंमें आज तू इतना ऊँचा चढ़ा हुआ है, उन्हींकी नज़रोंमें तू नीचा हो जायगा।

इसके सिवा—

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

तुम्हारे शत्रु तुम्हारी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुमपर गालियोंकी बौछार करेंगे, ताना मारेंगे और तरह-तरहकी बातें सुनावेंगे ; इससे बढ़कर और क्या दुःख होगा ?

दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, जयद्रथ आदि शत्रु तेरे पराक्रमकी हँसी उड़ावेंगे और कहेंगे कि, अर्जुनकी क्या ताक़त जो हमलोगोंका सामना करे ? वह नीच है, नामर्द है, इसीसे युद्ध-भूमिसे मुँह मोड़कर भाग गया। भीष्म, द्रोण आदिके मारनेसे जो दुःख होगा, वह सब बदनामीके दुःखके सामने कोई चीज़ नहीं है। शत्रु जिस प्रतिष्ठितकी हँसी करें, ताने मारें और तरह-तरहकी भद्दी बातें कहें, उसके लिये तो जीनेसे मरना हज़ार दर्जा भला है ; क्योंकि इस तरहसे हुई बदनामीके दुःखसे बढ़कर और दुःख हो नहीं है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय॥ ३७॥

यदि तू युद्धमें मारा गया तो तुझे स्वर्ग मिलेगा ; यदि जीत जायगा तो तुझे पृथिवीका राज्य-भोग मिलेगा ; इसलिये, हे अर्जुन ! युद्धके लिये पक्का विचार करके उठ।

हे अर्जुन ! इस युद्धमें तेरे दोनों हाथ लड्डू हैं। हारमें भी तेरी भलाई है और जीतमें भी तेरी भलाई है। अगर तू इस युद्धमें

मारा जायगा, तो स्वर्गके सुख भोग भोगेगा। यदि कर्ण वग़ैरः महा रथियोंको इस युद्धमें परास्त करके मार डालेगा, तो निष्कण्टक होकर इस सारी पृथिवीका राज्य भोगेगा और सुख-चैन करेगा। जय और पराजय दोनोंमें तेरा लाभ है; इसलिये अब यह विचार करके कि, "मैं या तो शत्रुको जीतूँगा या मर जाऊँगा", लड़नेके लिये तैयार हो जा।

अगर तेरे मनमें अब भी गुरु-ब्राह्मणोंके मारनेसे पापका भय है, तो मैं तुझे जो सलाह देता हूँ, उसे ध्यान देकर सुन;—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि और हार-जीतको समान समझकर युद्धकी तैयारी कर; इस तरह युद्ध करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा।

हे अर्जुन! सब दुःखोंका कारण नफ़ा-नुक़सान है और नफ़ा-नुक़सानका कारण हार-जीत है; तू इन सुख-दुःखोंको समान समझ। सुखकी चाह मत रख और दुःखसे नफ़रत मत कर। इस तरह अपना मन साधकर और लड़नेको अपना धर्म समझकर, बिना किसी प्रकारकी कामनाके, लड़। इस तरह राग-द्वेष-रहित होकर, युद्ध करनेसे तू पाप-भागी नहीं होगा।

अर्जुनके मनमें इस उपदेशको सुनकर शङ्का होती है, कि पहले तो भगवान्‌ने ज्ञानी—विद्वान्—के लिये सब प्रकारके कर्मोंकी मनाही की और इस जगह कहते हैं, कि तू अपनेको किसी भी कर्मका न करनेवाला और उसके फलको न भोगनेवाला समझकर, बिना किसी प्रकारकी कामनाके, युद्ध कर। कहीं कहते हैं कि, काम करना अनुचित है और कहीं कहते हैं कि, कर्म करना उचित है। एकही आदमी कर्म न करनेवाला और करनेवाला कैसे हो सकता है? एकही आदमीमें, एकही समयमें, दोनों प्रकारका ज्ञान

असम्भव है। रात और दिन क्या एक साथ हो सकते हैं ? जिस तरह अँधेरा और उजेला एक साथ नहीं हो सकता, उसी तरह कर्म्म करना और कर्मोंका त्यागना एकही आदमीमें, एकही समयमें, नहीं हो सकता। भगवान् अर्जुनके मनकी शङ्का समझकर, यह दिखलाते हैं कि, एकही पुरुषको विद्वत्ता और मूर्खताके भेदसे दोनों प्रकारके उपदेश एकही समयमें दिये जा सकते हैं।

योग।

इस अध्यायके दसवें श्लोक तक तो अर्जुन और भगवान्‌का कथोपकथन है। इन श्लोकोंमें अर्जुनने शोक-मोहके अधीन होकर, राज-पाटसे नफ़रत दिखाई है और इसी वजहसे लड़नेसे इन्कार किया है। भगवान्‌ने उसका शोक-मोह दूर करनेके लिये ११ वें से ३० वें श्लोक तक आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया; क्योंकि वह ज्ञानरूप बुद्धि जन्म-मरण आदि सब अनर्थोंसे बचाती है। ३० वें से ३८ वें श्लोक तक भगवान्‌ने उसे दुनयवी विचारोंसे समझाया है। लेकिन इस मौक़े तक, दोनों तरह समझानेपर भी, अर्जुनका मन शुद्ध नहीं हुआ। उसके मनका वहम न मिटा। शङ्काओंने उसका पिण्ड नहीं छोड़ा। इसलिये उन्होंने समझ लिया कि, अर्जुनका मन मलिन है। अभी वह आत्मज्ञानको नहीं समझ सकता। पहले उसका अन्तःकरण निर्म्मल होना ज़रूरी है। क्योंकि कोई भी नीचेकी सीढ़ियोंको छोड़कर एकदम ऊपरकी सीढ़ीपर चढ़ नहीं सकता (जिस तरह आजकलके विद्यार्थी बिना एन्ट्रेन्स पास किये एफ़० ए० बी० ए० के कोर्स पढ़ने योग्य नहीं होते)। इसलिये वे पहले अर्जुनका चित्त शुद्ध करनेके लिये, अब ४० श्लोकसे कर्म्मयोगका उपदेश करते हैं। कर्म्मयोगके उपदेशसे अर्जुनका अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, तब वह ब्रह्मज्ञानको समझने लगेगा। क्योंकि कर्म्मयोगके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता और बिना

चित्त शुद्ध हुए आत्मज्ञानका उपदेश असर नहीं करता । अतः पहले अज्ञानीको कर्म्मयोगका उपदेश करना ही उचित है। यहाँ यह बात भी सिद्ध होती है, कि भगवान् विद्वानोंको, जिनका चित्त शुद्ध है और जिन्हें ब्रह्मज्ञान हो गया है, कामोंके करनेसे मना करते हैं; लेकिन जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, उनके लिये कामोंके करनेसे मना नहीं करते; ऐसे लोगोंको निष्काम कर्मयोगका उपदेश उचित समझकर, भगवान् अर्जुनको अब कर्म्मयोगकी राह दिखाते हैं। इसी स्थानपर भगवान्ने दो राहोंकी बुनियाद डाल दी है, जिनका ज़िक्र वे फिर तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें करेंगे। इस तरह दो हिस्से कर देनेसे गीताशास्त्र सबकी समझमें आसानीसे आवेगा। भगवान् कहते हैं :—

> एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
> बुद्ध्यायुक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे अर्जुन! यह मैंने तुझे आत्मज्ञान बताया; अब कर्म-योगको भी सुन; जिससे ज्ञान प्राप्त होकर तू कर्मबन्धनोंसे छुटकारा पा जायगा।

हे अर्जुन! अबतक जो कुछ मैंने तुझसे कहा है, वह आत्मज्ञान या सांख्यबुद्धि* से सम्बन्ध रखता है। आत्मज्ञानसे आत्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। आत्माके असल स्वरूपके न जाननेसे ही मोहमें फँसना होता है। आत्मज्ञान न होनेसे ही शोक-मोहके अधीन होना पड़ता है। तात्पर्य्य यह है कि, आत्मज्ञान होनेसे संसार-बन्धन और शोक-मोह वग़ैरःसे पीछा छूट जाता है। लेकिन आत्मज्ञान सहजमें नहीं होता, इसीलिये अब मैं तुझे कर्म्मयोग† का उपदेश दूँगा। कर्म्मयोग आत्मज्ञानका द्वार है, कर्म्मयोग आत्मज्ञानकी कुञ्जी है।

---

* सांख्य=ईश्वरके और आत्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान।
† योग= जिसके द्वारा कोई चीज़ हासिल की जाय।

जो तू इस कर्मयोगको, जो ज्ञानयोगका ज़रिया है, भली भाँति समझ जायगा और इसपर चलने लगेगा, तो तेरा चित्त शुद्ध हो जायगा। धर्माधर्म, पाप-पुण्य आदि कर्मबन्धनोंसे तेरा छुटकारा हो जायगा। कर्मबन्धनोंसे अलग होनेपर, ईश्वर-कृपासे, तुझे आत्मज्ञान—ब्रह्मज्ञान—की प्राप्ति हो जायगी। फिर तुझे जन्म-मरण आदिसे छुट्टी मिल जायगी।

शङ्का—यज्ञ आदि काम्यकर्म जब पूरे हो जाते हैं; तब फल मिलता है। अगर विघ्न वगैरः होनेसे वे अधूरे रह जाते हैं; यानी पूरे नहीं होते, तो सब किया-कराया मिट्टी हो जाता है; कुछ भी फल नहीं मिलता! अगर इसी तरह मेरा कर्मयोग, विघ्नोंके कारण, पूरा न हुआ तो सब किया-कराया वृथा होजायगा।

उत्तर—इस कर्मयोगमें ऐसी बात नहीं है। सुन :—

योग सुरक्षित राह है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

इसमें जो कोशिश की जाती है, वह व्यर्थ नहीं जाती और न इसमें पाप लगता है। यह धर्म, थोड़ासा भी, बड़े भारी भयसे रक्षा करता है।

खेतीमें हल जोतते हैं, बीज बोते हैं, पानी देते हैं और अनेक प्रकारकी तकलीफें उठाते हैं। अगर फल काटनेके पहले ही पाला मार जाय, पानीकी बाढ़ आ जाय, ज़रूरतके समय मेह न बरसे या टिड्डी आजायँ, तो सब किया-कराया मिट्टी होजाता है। कर्मयोगमें इस तरहकी कोई बात नहीं है। इसमें जो ज़रासा भी काम किया जाता है, वह बेकार नहीं जाता। इसमें किया हुआ काम

अधूरा रहनेपर निकम्मा नहीं होजाता। इसमें जितना काम किया जाता है, उतना फल अवश्य मिलता है। जिस तरह मन्त्र वगैरः जपनेमें भूल हो जानेसे मन्त्र जपनेवालोंको पाप लगता है अथवा वैद्यके रोगोंको भूलसे अच्छी तरह बिना समझे-बूझे दवा देनेसे अक्सर रोगीका प्राणनाश हो जाता है; उस तरह इसमें किसी तरहका पाप नहीं लगता और न कोई नुकसान होता है। तब क्या नतीजा निकलता है? इस योगकी राहमें, इस धर्ममें, थोड़े-से-थोड़ा काम भी क्यों न किया जाय, वह मनुष्यको संसारके भय, जन्म-मरणके भारी भय,से बचता है। मतलब यह है कि, योग-मार्गमें किसी प्रकारकी हानि और भय नहीं है; इसीसे इस राहको सुरक्षित कहते हैं।

बुद्धि एक है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

हे कुरुनन्दन! इस मोक्षमार्ग में निश्चय-स्वरूपिणी बुद्धि एक है। जिनका निश्चय दृढ़ नहीं है, उनकी अनेक शाखावाली अनन्त बुद्धियाँ हैं।

हे अर्जुन! सांख्य-बुद्धिसे मनुष्यको मोक्ष हो जाती है। इसी भाँति योग-बुद्धिसे, निष्काम ईश्वरोपासना आदि करनेपर, अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञान होनेपर, मोक्ष हो जाती है। इस तरह सांख्य-बुद्धि और योग-बुद्धिसे एक ही फल—मोक्ष—मिलता है। जब सांख्य-सम्बन्धी और योग-सम्बन्धी बुद्धिसे एक ही फल मिलता है, तब वह बुद्धि एक ही है; क्योंकि दोनोंका काम एक ही आत्मा का निश्चय करना है। यह बुद्धि, ज्ञानके सच्चे उत्पत्तिस्थान—वेद—

से पैदा होती है ; अतः यह निश्चल या व्यवसायात्मिका है। यह निश्चल बुद्धि, निर्दोष स्थानसे पैदा होनेके कारण, अपनी विपक्षी अनेक शाखावाली बुद्धियोंका नाश कर देती है। यह निश्चल बुद्धि एक और सबसे उत्तम है; क्योंकि इस बुद्धिवालेको परमपद—मोक्ष—मिल जाती है। इस निश्चल बुद्धिके विपरीत जो अनेक प्रकारकी, अनेक शाखावाली बुद्धियाँ हैं, वह ठीक नहीं हैं; क्योंकि उनके अनुसार काम करनेसे मनुष्य सदा संसार-बन्धनमें बँधा रहता है। इस दुःखसे उसका पीछा कभी नहीं छूटता। लेकिन जब यह निश्चल बुद्धि अपनी विपक्षी, अनन्त प्रकारकी बुद्धियोंका नाश करके अकेली रह जाती है, तब यह मनुष्यको संसार-सागरसे पार करके परमपदको पहुँचा देती है और इसके विपरीत चञ्चल मतिवाले लोगोंकी अनेक शाखावाली अनन्त बुद्धियाँ हैं ; इसीसे वे भटकते हुए मरकर बारम्बार जन्म-मरणके जालमें फँसते हैं। तात्पर्य्य यह है कि, जो निश्चलमति हैं, उनकी एक बुद्धि है ; वह एक बुद्धिवाले योग-मार्गपर चलकर, अन्तःकरणको शुद्ध करके, ब्रह्मज्ञानको प्राप्त हो जाते हैं और अन्तमें सब जञ्जालसे पीछा छुटाकर परमानन्द-स्वरूप ब्रह्ममें मिल जाते हैं। लेकिन जो चञ्चलमति हैं, जिनकी मति एक जगह नहीं ठहरती, वे अनेक राहोंपर भटकते फिरते हैं और आख़ीरमें अपनी मंज़िल मक़सूदपर नहीं पहुँचते।

कामियोंके लिये कोई बुद्धि नहीं है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

जो वेदके रोचक वाक्योंपर लट्टू हैं ; जो कहते हैं कि इसके सिवाय और कुछ नहीं है ; जो इच्छासे भरे हैं ; जो स्वर्गको परम पुरुषार्थ मानते हैं, वे मूर्ख हैं । वे कहते हैं कि कर्मोंके फलसे जन्म मिलता है और अमुक-अमुक क्रियाओंके करनेसे सुख तथा ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है । जो लोग सुख और ऐश्वर्यमें आसक्त हैं, जिनका चित्त ऐसी-ऐसी मीठी-मीठी बातोंसे बहँका हुआ है, उनके अन्तःकरण में व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती ; यानी उनकी बुद्धि आत्माके साक्षात्कारमें स्थिर नहीं होती ।

जो मूर्ख हैं, जो विचारहीन हैं, वे वेदोंके बाहरी अर्थमें लगे रहते हैं, सच्चे ज्ञानकी ओर ध्यान न देकर वे अपने मतलबका अर्थ वेदकी ऋचाओंसे निकालते हैं। वे कहते हैं, कि कर्मोंके सिवाय और कुछ है ही नहीं। कर्मोंके करनेसेही स्वर्ग, धन, पुत्र आदि इच्छानुसार पदार्थ मिलते हैं। वे लोग रात-दिन इच्छाओंमें डूबे रहते हैं, इच्छाको ही आत्मा समझते हैं; यानी अपनी इच्छासे बढ़-कर किसी चीज़को नहीं समझते। वे लोग स्वर्गको अपना मुख्य और शेष अभिप्राय समझते हैं ; यानी वे लोग यज्ञ, हवन, ईश्वरो-पासना आदि जो करते हैं, वह स्वर्ग पानेकी इच्छासे करते हैं। उनके मुँहसे जो शब्द निकलते हैं, वे फूलवाले वृक्षके समान सुन्दर होते हैं, जिनके सुननेसे चित्त प्रसन्न होता है। उनका कहना है कि कर्मोंके फलसे जन्म होता है। वे लोग स्वर्ग, धन-धान्य, सन्तान और सुख तथा ऐश्वर्य्यकी प्राप्तिके लिये अनेक प्रकारके अग्निहोत्र आदि यज्ञ बताते हैं। वे मूर्ख लोग ऐसी-ऐसी बातें बनाते हुए संसारमें घूमा करते हैं। वे सुख और ऐश्वर्य्यको परमावश्यक सम-

भते हैं। उनका जी उन्हींमें लगा रहता है; उनसे परे उन्हें कुछ नहीं दीखता। ऐसे लोग मूर्ख हैं। जिन सुख और ऐश्वर्य्यके प्रेमी लोगोंका चित्त ऐसी बातोंमें फँस जाता है; यानी जिनके दिलोंपर ऐसे उपदेशोंका असर हो जाता है, उनकी अक्ल मारी जाती है! उनको भी सब ओर कर्म-ही-कर्म दिखाई देते हैं। उनका चित्त कभी शान्त नहीं होता। वे रात-दिन इस लोक और परलोककी चिन्तामें लगे रहते हैं। ऐसे लोगोंके दिलमें न तो आत्माका ख़याल उठता है, न उनका दिल मज़बूतीसे किसी बात पर जमता है और न सांख्य अथवा योगसे सम्बन्ध रखनेवाली बुद्धिका ही उनके दिलमें उदय होता है।

योगीके लिये सलाह।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

वेदोंमें त्रैगुण्यका वर्णन है। हे अर्जुन! तू त्रैगुण्यसे रहित हो, द्वन्द्वोंसे रहित हो, नित्य सत्वमें स्थित हो, योग और क्षेमसे रहित हो और आत्मामें सावधान रह।

अथवा

वेदोंमें सत्व, रज, तम इन तीन गुणोंके कार्य, संसार का ज़िक्र है। हे अर्जुन! तू इन तीन गुणोंसे अलग होजा; यानी इच्छा-रहित होजा, सुख-दुःखका कुछ ख़याल मत कर, धीरज धारण कर; जो चीज़ नहीं है, उसके हासिल करनेकी और जो है, उसके बचाने की चिन्ता मत कर, विषयोंमें न फँसकर आत्मचिन्तन कर।

अथवा

वेदोंमें तीन गुणोंसे सम्बन्ध रखनेवाले—संसार—का ज़िक्र मालूम होता है। हे अर्जुन! तू तीनों गुणोंके कार्यसे अलग हो जा; यानी गुणातीत—निष्काम—हो जा; सुख और दुःखका ख़याल मत कर; हर क्षण परमात्माका ध्यान रख; जो चीज़ नहीं है, उसके प्राप्त करनेकी और जो है उसकी रक्षाकी फ़िक्र मत कर; ईश्वरको अपना मालिक समझकर, निरन्तर, उसके ध्यानमें रह। (माधव)

सत्व, रज और तम—ये तीन गुण हैं। इन तीनोंके कार्य या परिणामको त्रैगुण्य या संसार कहते हैं। ज्ञान, अज्ञान, आलस्य, निरालस्य, क्रोध, अहङ्कार वग़ैरः इनके रूप हैं। इनके कारणसे मनुष्य धर्म और अधर्म करता है। मनुष्य प्रत्येक काम किसी न किसी कामना—इच्छा—के वश होकर करता है। कामनाके अनुसार फल, मनुष्यको फिर देह धारण करनेपर, मिलता है। कामनाके साथ किये हुए कामका फल अवश्य भोगना होता है और वह फल बिना देह धारण किये भोगा नहीं जा सकता। अतः कामना—इच्छा— के वश होकर जो काम किया जाता है, उसका फल या पुरस्कार लेनेके लिये मनुष्यको इस लोकमें आना ही होता है अथवा स्वर्गमें जाना पड़ता है। इस आवागमनको ही संसार कहते हैं।

वेद ज्ञानके भण्डार हैं। उनमें सब कुछ है। उनसे मोक्ष चाहनेवालोंका भी कार्य सिद्ध हो सकता है और संसारी लोगोंका भी। वेदोंके जिस अंशमें कर्मकाण्ड-सम्बन्धी मीठी-मीठी बातें भरी हैं, कामी लोग उन बाहरी बातोंपर ही ध्यान देते हैं। वेदोंमें विषय-सुख, स्वर्ग आदि प्राप्त करनेकी अनेक क्रियाएँ लिखी हैं। मनुष्य जिस वस्तुको प्राप्त करनेकी कामना करता है, उनमें उसीके प्राप्त करनेकी क्रिया मिल जाती है। स्वर्गकी कामना रखनेवालेको स्वर्ग प्राप्त करनेकी और धन, पुत्र, स्त्री आदिकी कामना रखनेवाले

को उनके प्राप्त करनेकी क्रिया मिल जाती है। जो स्वर्गकी कामना-से वेद-विधि अनुसार यज्ञ करता है, उसे स्वर्ग मिलता है। जो धन, पुत्र, स्त्री या राज्यकी कामनासे यज्ञ आदि क्रियाएँ करता है, उसे वे ही मिलते हैं। मतलब यह है, कि कामना—इच्छा—के वश होकर जो कर्म्म किये जाते हैं, उन अपने किये हुए कर्मोंके फलोंके पाने या भोगनेको मनुष्यको जन्म लेना पड़ता है। जो जन्म लेता है, वह मरता अवश्य ही है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि, इस संसारमें आने-जाने या जन्मने-मरनेका कारण 'कामना' है। इसीसे इस संसारको काम-मूलक कहते हैं। जो लोग बिना किसी प्रकारकी कामना—इच्छा—के वेद-विहित अग्नि-होत्र आदि कर्म करते हैं,उन्हें न तो इस लोकमें आकर जनमना-मरना पड़ता है और न स्वर्ग वग़ैरःके थोथे झंझटमें फँसना पड़ता है। जो अपने किये कामका फल या इनाम चाहते हैं, उन्हींको अपने इच्छित फलोंके भोगने या लेनेको नाशमान् देह धारण करनी पड़ती है; उन्हींको जन्म-मरण आदि विकारोंके अधीन होना पड़ता है; लेकिन जो लोग बिना कामनाके, बिना किसी प्रकारकी इच्छाके, कर्म्म करते हैं, उन्हें संसार-बन्धनमें आनेकी क्या ज़रूरत ? तात्पर्य्य यह है, कि, सब बुराइयोंकी जड़ 'कामना' या इच्छा है। अतः मनुष्यके लिये कामना-रहित होना अच्छा है। इसीलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि, तू गुणातीत यानी निष्काम हो जा। किसी प्रकारकी इच्छा ही न रख।

इसके लिये लाभ-हानि, गरमी-सरदी, मान-अपमान, शत्रु-मित्र और सुख-दुःखको यकसाँ समझ। लाभसे खुश मत हो और हानिसे दुःखी न हो। हार-जीतको समान समझ। सुख-दुःखको पूर्व—पहले—जन्मके कर्मोंका फल समझकर, शान्तिसे सहन कर। घबरा मत। धीरज धारण कर। धैर्य्यसे भयानकसे भयानक दुःख, दुःख नहीं मालूम होते। अथवा हर क्षण आत्मा-परमात्माका

ध्यान रख। जो हर क्षण परमात्माका ध्यान रखता है, दुःख-सुख उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। इसके सिवा, जो चीज़ नहीं है, उसको प्राप्त करनेकी चिन्ता न कर और जो पास है, उसकी रक्षाकी फ़िक्रमें मत पड़; क्योंकि जो शख़्स अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करने और प्राप्त वस्तुकी रक्षाकी फ़िक्रमें लगा रहता है, उससे आत्म-चिन्तन या ईश्वराराधन नहीं हो सकता। अगर यह कहो कि, मैं दरकारी चीज़के लानेकी फ़िक्र न करूँगा या अपने पासकी चीज़को चोर, डाकू, मेंह, पानी, आग वग़ैरःसे न बचाऊँगा; तो कौन यह काम करेगा? यह बेहूदा बात है। जिस अन्तर्यामीके ध्यानमें तुम मग्न रहोगे, वही तुम्हारी ज़रूरियातोंकी ख़बर लेगा। इसके सिवा इन्द्रियोंके विषयोंसे भी सावधान रह। ऐसा न हो कि, वे तुझे अपने वशमें कर लें। हे अर्जुन! जब तू अपने कर्त्तव्य-कर्म्मको करे, तब तू मेरी इस सलाह पर चल।

सारांश—जो लोग किसी मतलबसे या इच्छाके वश होकर काम करते हैं, उनका न तो चित्त शान्त होता है, न उन्हें सांख्य या योग-बुद्धिकी प्राप्ति होती है और न उनकी मोक्ष ही होती है। इसके विपरीत, जो लोग बिना किसी प्रकारकी कामनाके अपने धर्म्म-कार्य्य करते हैं, उनका चित्त शान्त रहता है। उनके चित्तमें अनेक प्रकार-की बातें नहीं उठतीं, उन्हें ज्ञान हो जाता है और वे मुक्त हो जाते हैं। तात्पर्य्य यह कि, मनुष्यको कर्म्म तो अवश्य करने चाहियें; मगर उनके फलकी आशा न रखनी चाहिये; यानी कर्म्म करते समय चित्तमें कामनाको स्थान न देना चाहिये।

(शङ्का) क—आप कहते हैं कि, कर्म्म तो करना चाहिये, मगर बिना कामनाके करना चाहिये। बिना किसी प्रकारकी कामनाके कर्म्म करनेसे कर्म्मका फल तो मिलता नहीं। जबकि बिना कामनाके कर्म्म करनेसे कोई फल नहीं मिलता, तब बिना कामना-के कर्म्म करनेसे क्या फ़ायदा? वेद-विहित क्रियाओंके करनेसे,

कामनाके अनुसार सुख-भोग, स्वर्ग आदि मिलते हैं; किन्तु आपकी आज्ञानुसार निष्काम कर्म करनेसे कुछ नहीं मिलता; इससे मेरी समझ में तो कामना-सहित कर्म करना ही अच्छा मालूम होता है। वैदिक कर्मोंको तो करें और उनके फल-स्वरूप जो अनन्त लाभ हैं, उनकी चाह न रखें, तब उनके करने और उनको ईश्वरके अर्पण करनेसे क्या लाभ ?

(शङ्का) ख—आपका कहना है कि, गुणातीत—निष्काम—हो जाओ। कर्म्म करो, मगर इच्छा-रहित होकर करो। कर्म्म करते समय कर्म्मके फलकी चाहना मत रखो; यानी काम्य कर्मोंसे परहेज़ रखो और निरन्तर योगाभ्यास करो। मगर मुझे आपकी यह राय ठीक नहीं मालूम होती; क्योंकि जो लोग ख़ाली कर्म्म करते हैं, उन्हें ज्ञानियोंको मिलनेवाले फल नहीं मिलते और जो लोग ख़ाली ज्ञानमार्ग पर चलते हैं, उन्हें कर्म्म करनेवालोंके फल नहीं मिलते। इससे मालूम होता है कि, ज्ञान-मार्ग और कर्म्म-मार्ग दोनों अलग-अलग हैं और अपने-अपने स्थान पर दोनों की शक्ति-सामर्थ्य समान है। ज्ञान-मार्गसे कर्म्म-मार्ग छोटा या बड़ा नहीं है; इसी भाँति कर्म्म-मार्गसे ज्ञानमार्ग नीचा या ऊँचा नहीं। ऐसी दशामें एक से दूसरे को ऊँचा समझना या एक को अच्छा कहना और दूसरे को बुरा कहना अनुचित है। तात्पर्य्य यह है कि, काम्य कर्म करनेवाले भी अच्छे हैं और निष्काम कर्म करके ब्रह्मज्ञानी होनेवाले भी अच्छे हैं। जबकि दोनों राहोंपर चलनेवाले अपनी-अपनी मञ्ज़िल मक़सूदपर पहुँचते हैं, तब यह बात मनुष्य की इच्छापर निर्भर है कि, वह अपना सुभीता देखकर, चाहे जिस राहपर चले।

इन शंकाओंका उत्तर नीचे दिया जाता है :—

कर्मयोग ।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

जितना मतलब कूआ, बावड़ी, तालाब और नदी वगैरः से निकलता है, उतना ही एक समुद्रसे निकलता है ; इसी तरह जितना आनन्द अनेक प्रकार के वेदोक्त कर्म करने से मिलता है, उतना ही (बल्कि उससे ज़ियादा) निष्काम ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को एक ब्रह्मविद्या से मिल जाता है ।

कूएँसे जल पीने, नहाने-धोने आदिका काम निकल सकता है ; लेकिन कुएँमें मनुष्य ग़ोते लगाकर स्नान नहीं कर सकता ; उसमें वह तैर नहीं सकता ; उसमें वह जलक्रीड़ा नहीं कर सकता। पानी पीनेका काम मनुष्य कूएँ-बावड़ीसे निकाल लेता है ; मगर तैरने और नाव वगैरः की सैरके लिये उसे तालाब या नदी वगैरःपर जाना होता है। जितने काम मनुष्यके कूएँ, बावड़ी, तालाब, नदी आदि सबसे, जगह-जगह भटकनेसे, होते हैं, उतने ही सब काम बल्कि उससे कहीं अधिक काम, केवल एक समन्दर या जलके बड़े भारी समूहसे सिद्ध हो जाते हैं। इसी भाँति जो स्वर्ग, सुखभोग, राज्य, पुत्र, स्त्री आदि, अनेक प्रकारके वेद-विहित कर्म—अग्नि-होत्र, अश्वमेध आदि—करनेसे, मिलते हैं ; यानी स्वर्ग और स्त्री-पुत्र आदिसे जो आनन्द मिलता है, उतनाही, बल्कि उससे ख़ूब ज़ियादा, आनन्द निष्काम ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणको एकमात्र ब्रह्मविद्या या ईश्वरके ज्ञानसे मिल जाता है। इस आनन्द और उस आनन्दमें इतना फ़र्क़ है, कि स्वर्ग-सुख-भोग, स्त्री-पुत्र आदिसे जो आनन्द मिलता है, वह आनन्द परिणाममें दुःखदायी और थोड़े दिन टिकनेवाला

है; किन्तु जो आनन्द ब्रह्मज्ञानसे मिलता है, वह आनन्द परमानन्द है। वह आनन्द स्वर्ग वगैरःके आनन्दके समान क्षणस्थायी नहीं है, बल्कि सदा-सर्वदा रहनेवाला है। आनन्द वही अच्छा, जो सदा रहे। जो आनन्द आज है, कल नहीं है, उसे आनन्द नहीं कह सकते। अतः यह विषय साफ़ हो गया कि, काम्य-कर्म करनेसे निष्काम कर्म करना अच्छा है। काम्य कर्म करनेवालेसे ब्रह्मज्ञानीको बहुत ऊँचा फल मिलता है; अतः, ब्रह्मज्ञानी होना सबसे श्रेष्ठ है। इसीसे भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि, तू अस्थिरस्थायी, क्षणिक सुख देनेवाले कर्मों को न कर, निष्काम होकर कर्म कर, योगका आश्रय ले। योगसे तेरा चित्त शुद्ध हो जायगा। योग तुझे ज्ञानकी राह दिखा देगा। उससे तुझे अनन्त-कालस्थायी, अक्षय, आनन्द—आनन्द ही नहीं, परमानन्द मिलेगा।

(शङ्का) आपके कहनेसे मालूम होता है कि, वेदोक्त रीतिसे काम्यकर्म करनेवालेको स्वर्ग, सुख, भोग, पृथिवीका राज्य, धन, पुत्र आदि मिलते हैं; लेकिन ये सब सुख क्षणिक और परिणाममें दुःखदायी हैं। इसके विपरीत संसार-त्यागी विद्वान् ब्रह्मज्ञानीको जो सुख मिलते हैं, वह इनसे बहुत बढ़-चढ़कर और अनन्तकाल तक रहनेवाले हैं। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि, ब्रह्मज्ञानी होना सबसे अच्छा है; क्योंकि उससे अच्छे-अच्छे, सदा रहनेवाले, फल मिलते हैं। हमारा मतलब तो फलोंसे है। हमें आम खाने हैं, पेड़ नहीं गिनने हैं। इसलिये मुझे आप सर्वोपरि ब्रह्मज्ञानका उपदेश दीजिये। काम्य कर्मोंकी तो अब मैं बात भी न करूँगा; लेकिन मैं निष्काम कर्म करनेको भी वृथा समझता हूँ; क्योंकि फल तो ब्रह्मज्ञानी होनेसे मिलेंगे। निष्काम कर्म करनेसे तो कुछ नहीं मिलेगा। इसलिये मेरे पीछे कर्मयोग, उपासना आदिका झगड़ा न लगाइये। सीधी ब्रह्मज्ञानकी राह बताइये।

(उत्तर) इसका उत्तर भगवान् इस अगले श्लोकमें देते हैं:—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तुम्हारा केवल कर्म करने का अधिकार है; कर्म-फलोंसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। जो कर्म तुम करो, उसके फलकी इच्छा मत करो; इसी प्रकार कर्म करना भी मत छोड़ो।

अथवा

तेरा सम्बन्ध केवल कर्म से है; कर्म-फलोंसे तेरा सम्बन्ध हरगिज़ नहीं है; कर्म-फल तेरा उत्तेजक न हो, अकर्म में तेरी प्रीति न हो (मेरा यही उपदेश और आशीर्वाद है)।

हे अर्जुन! तू अभी कर्म करने योग्य है। ज्ञानमार्गके लायक़ तू अभी नहीं; अतः कर्म कर। जब तू काम करे, तब किसी हालतमें भी अपने कर्मके फलोंकी कामना मत कर। यौंही, बिना—इच्छा—कामनाके कर्म कर। कर्म-फलके लालचसे कर्म मत कर। अगर तू कर्मोंके फलोंकी चाहना रक्खेगा, तो तुझे वे फल काटने होंगे। इसलिये कर्मफलोंको अपना हेतु या चालक मत बना। जब कोई शख़्स कामके फल या पुरस्कारके लिये कोई काम करता है, तब उसे उसके फल पानेकी इच्छा रहती है। जो शख़्स कामके फल पानेकी इच्छासे कर्म करता है, उसे अपने किये हुए कामका फल पानेके लिये फिर जन्म लेना पड़ता है; क्योंकि कर्म-फलकी चाहना ही जीवन-मरणकी जड़ है। जब कर्म करके स्वर्ग आदि फलोंके प्राप्त करनेकी ज़रूरत नहीं, तब इन दुःखदायी कर्मोंके करनेसे क्या लाभ?—यह सोचकर; अकर्ममें प्रीति न कर अर्थात् काम करनेसे मुँह मत मोड़। निष्काम होकर कर्म करना ही सबसे अच्छा है।

अगर मनुष्य कर्म-फलोंकी इच्छासे उत्तेजित होकर कर्म न करे, तो किस तरह करे? इसका जवाब नीचे है:—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे अर्जुन! योगमें दृढ़चित्त होकर, कर्म-फलोंमें आसक्ति त्यागकर, सिद्धि-असिद्धि में समान होकर, कर्म कर। समभावको "योग" कहते हैं।

अथवा

हे धनंजय! योग में अटल होकर तू अपने कामोंके फलोंकी लालसा त्यागकर, सफलता-असफलताको समान समझकर, काम कर। सफलता-असफलताकी समानता ही "योग" है।

हे अर्जुन! 'योग ज्ञानका मार्ग है। इस मार्गमें स्थिरचित्त होकर अपने कर्त्तव्य कर्म कर। उस समय अपने मनमें ऐसे-ऐसे खयाल मत दौड़ा, "मैं इस कामका करनेवाला हूँ, मैं यह कर्म करूँगा, तो मुझे स्वर्ग मिलेगा या मेरे पुत्र होगा।" मतलब यह कि, अपने तईं कर्त्ता न समझ और जो कर्म करे, उसके फलमें मन मत अटका। कामके होने न होनेकी चिन्ता मत कर, काम हो जाय तो अच्छा, न हो तो अच्छा। इच्छित फल मिले तो भला, न मिले तो भला। काम सिद्ध हो जाय तो खुश न हो, यदि सिद्ध न हो तो रञ्ज मत कर। इस अवस्थापर पहुँचनेसे तेरा कर्म-फलोंसे मोह छूट जायगा। सिद्धि-असिद्धिको समान समझने, हर हालतमें हर्ष-विषाद-रहित रहनेको 'योग' कहते हैं। जब कर्म फलकी इच्छा त्यागकर किये जाते हैं, तब चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्तके शुद्ध होनेसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानकी प्राप्ति होना ही सिद्धि है। इसके विपरीत, जब कामना—इच्छा—के वशीभूत होकर कर्म किये जाते हैं, तब मन शुद्ध नहीं होता। बिना मन शुद्ध हुए ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। ज्ञानकी प्राप्ति न होना ही असिद्धि है। हे अर्जुन! सिद्धि-असिद्धिको बराबर समझकर काम

करनेसे तेरा मन इच्छा-रहित हो जायगा। इच्छा-रहित होकर कर्म करनेसे चित्त अवश्य शुद्ध हो जायगा। अतः तू योगमें अटलचित्त होकर, केवल ईश्वरके लिये, कर्म कर।

(प्रश्न) योगकी परिभाषा क्या है ?

(उत्तर) सिद्धि-असिद्धिमें चित्तकी समताको 'योग' कहते हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

हे धनंजय! बुद्धियोगसे कर्म बहुत नीचा है; इसलिये तू बुद्धिकी शरण ले। जो लोग फलकी कामनासे कर्म करते हैं, वे नीच हैं।

अथवा

हे अर्जुन! निष्काम कर्मसे सकाम कर्म बहुत नीचे दर्जेका है; इसलिये तू परमात्मा-विषयक बुद्धि अथवा ईश्वरीय ज्ञानके लिये निष्काम कर्मयोगका आश्रय ले। जो लोग कर्मफल पानेकी तृष्णासे कर्म करते हैं, वे मूर्ख—अज्ञानी—हैं।

हे धनञ्जय! कर्मफलकी इच्छा त्यागकर, चित्तकी समताके साथ जो काम किया जाता है, वह कर्म-फलकी कामना रखकर किये हुए कामसे अत्यन्त श्रेष्ठ है। फलकी कामना त्यागकर, चित्तकी समतासे जो काम किया जाता है, उससे आत्मा या परमात्माका ज्ञान उदय होता है और परमात्माके ज्ञानसे संसार-बन्धनसे छुटकारा मिलकर, नित्य परमानन्दकी प्राप्ति होती है। अतः, जिस निष्काम कर्मके करनेसे आत्मा या परमात्माका ज्ञान होता है, वही श्रेष्ठ कर्म है। इसलिये तू निष्काम कर्मयोगका आश्रय ले। जब कर्मयोग सिद्ध हो जायगा, तब तुझे परमात्माका ज्ञान हो जायगा। हे अर्जुन! परमात्माका ज्ञान ही सबसे अच्छा है। तू

उसमें मन लगा। लेकिन अभी तेरा चित्त शुद्ध नहीं है, इससे मैं तुझे निष्काम कर्मयोगकी सलाह देता हूँ। क्योंकि बिना कर्म-योगके परमात्माका ज्ञान होना अभी असम्भव है। आत्मा-परमात्मा-विषयक बुद्धिका साधन निष्काम कर्म-योग है, इसीसे इसे बुद्धियोग भी कहते हैं। तात्पर्य्य यह है, कि जो लोग आत्मज्ञान या ईश्वरीय ज्ञानकी प्राप्तिके लिये निष्काम कर्मयोगका साधन करते हैं; यानी सिद्धि-असिद्धिमें चित्तको समान रखकर निष्काम कर्म करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इसके विपरीत जो सकाम कर्म्म करते हैं, वे बारम्बार नीच-ऊँच योनियोंमें जन्म लेते और मरते हैं। बारम्बार जनमते-मरते हैं, किन्तु उन्हें ईश्वरीय ज्ञान नहीं होता; इसीसे उन्हें अज्ञानी—मन्दभागी—कहते हैं। श्रुति कहती है :—

"हे गार्गि! जो मनुष्य, मनुष्य-देह पाकर इस लोकसे, अविनाशी—अक्षर—परमात्माको बिना जाने ही, चला जाता है वह अज्ञानी—मन्दभागी है।"

योग-बुद्धिकी प्रशंसा।

अब यह सुनो कि, चित्तकी समताके साथ अपना धर्म-कार्य्य करनेवालेको क्या फल मिलता है :—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

जो बुद्धियोग—चित्तकी समता—से कर्म करता है, वह अपने पुण्य-पाप दोनोंको इसी लोकमें छोड़ देता है। इसलिये तू योगकी चेष्टा कर; क्योंकि कामोंके बीचमें 'योग' अत्यन्त बलवान् है।

जो सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखकर कर्म्म करता है, उसका चित्त समत्व-बुद्धिसे शुद्ध हो जाता है। चित्तके शुद्ध होनेपर ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानसे पुण्य-पाप इसी दुनियामें छूट जाते हैं। तात्पर्य्य यह कि, चित्तकी समतावाला अपने योग-बलसे पुण्य-

पाप दोनोंसे इसी लोकमें पीछा छुड़ा लेता है। कर्मोंके बीचमें 'योग' ही करामाती है; क्योंकि जो कर्म बन्धन-स्वरूप हैं, वही जब चित्तकी समता—योग बुद्धि—से किये जाते हैं, तब उलटा बन्धन छुड़ानेवाले हो जाते हैं; यानी जो कर्म मनुष्यको संसार-बन्धनमें फँसाते हैं, वेही कर्म योगके बलसे बलवान् होकर, मनुष्यके हृदयमें ज्ञान उत्पन्न करके, संसार-बन्धनसे छुड़ा देते हैं। इसलिये अर्जुन! तू योगी हो।

खुलासा यह है कि, सुख-दुःख और सब प्रकारकी लाभ-हानिको एकसा समझनेवाला मनुष्य, क्या इस लोकमें और क्या परलोकमें, कभी पाप-पुण्यका भागी नहीं होता; वह जिस प्रकार अच्छे कर्म कर पुण्यकी आशा छोड़ देता है; उसी प्रकार उसके हाथों यदि कोई बुरा काम हो जाय, तो उसका पाप उसको नहीं लगता। इस-लिये तुम सुख-दुःखका विचार छोड़, दोनोंको एकसा समझो। सुख-दुःख, लाभ-हानि, हार-जीत आदिको समान समझनाही 'योग' है। जो इनको समान समझता हुआ काम करता है, उसके किये हुए पुण्य-पाप इसी दुनियामें रह जाते हैं।

कर्मयोगके फल।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

बुद्धि-योग-युक्त पुरुष, कर्म-फलके त्यागने से आत्मज्ञानी होकर, जन्मबन्धन से छूटकर, उस स्थानको चले जाते हैं, जहाँ किसी प्रकार का भी दुःख नहीं है।

अथवा

जो लोग कर्म-फलके त्यागसे ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे निश्चय ही ज्ञानी हो जाते हैं और जन्मके बन्धनसे छूट जाते हैं तथा उस परम पदको पहुँच जाते हैं, जहाँ किसी प्रकार का भी उपद्रव नहीं है।

जिन बुद्धिमानोंके चित्तमें समता है, जो सुख-दुःख', सिद्धि-असिद्धिको समान भावसे देखते हैं, वे कर्मोंके फलको त्याग देते हैं; अर्थात् वे कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग-नरकादिकी चाहना नहीं रखते। वे जो काम करते हैं, वह ईश्वरके लिये करते हैं। अपने किये हुए काम से वे अपना सरोकार नहीं रखते। इस भाँति, बिना अपने किसी मतलबके, कर्म करते रहनेसे उनका चित्त शुद्ध हो जाता है; तब उन्हें आत्मज्ञान हो जाता है। फिर आत्मज्ञानके प्रभावसे वे जीते-जीही जन्म-बन्धनसे छूटकर विष्णुके उस परम पद—मोक्ष—अवस्था—को प्राप्त हो जाते हैं, जो सब प्रकारके क्लेश और सन्तापोंसे रहित है।

जो लोग योग-रीतिसे चित्तको हर हालतमें यकसाँ रखकर निष्काम कर्म करते हैं और निष्काम कर्म करके ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें निश्चय ही तत्त्वज्ञान हो जाता है। तत्त्वज्ञानके प्रभावसे वे निश्चय ही जन्म-बन्धनसे छूटकर, उस मोक्ष-अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं, जो सब प्रकारके दुःख और क्लेशोंसे रहित है।

(प्रश्न) कर्मयोग द्वारा अन्तःकरणके शुद्ध होते ही जिस आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है, वह आत्मज्ञान मुझे कब प्राप्त होगा ? यानी, कबतक मुझे निष्काम कर्म करने होंगे ? कब मेरा अन्तःकरण शुद्ध होगा ? कब मैं ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञानका अधिकारी हूँगा और कब मुझे उसकी प्राप्ति होगी ?

(उत्तर) भगवान् अगले दो श्लोकोंसे इन प्रश्नोंका उत्तर देते हैं:—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

जब तेरा अन्तःकरण मोह—अज्ञान—रूपी कीचड़के पार हो जायगा; तब जो कुछ तूने सुना है और जो कुछ अभी सुनने योग्य है, उससे तुझे वैराग्य हो जायगा।

अथवा

निष्काम होकर, कर्म करते-करते जब तेरा अन्तःकरण अज्ञानके दलदलको पार कर जायगा ; तब आजतक, कर्मके स्वर्गादिक फलोंके सम्बन्धमें जो कुछ तूने सुना है और जो कुछ तू सुनने योग्य समझता है या सुनेगा, उससे तेरा मन हट जायगा; यानी तुझको वैराग्य प्राप्त हो जायगा ।

हे अर्जुन ! तेरा अन्तःकरण मोहरूपी कीचड़में फँसा है । उस पर अज्ञानरूपी मल जमा हुआ है । इसीसे तू शरीर आदिको आत्मा समझता है और शरीर तथा आत्माको अलग-अलग नहीं समझता । अज्ञानके ही कारणसे तेरा मन विषय-भोगोंकी ओर चलता है । मोहसे ही तू "ये मेरे हैं" "मैं इनका हूँ", ऐसी-ऐसी अज्ञान-मूलक बातें कहता है । अज्ञानके ही प्रभावसे तुझे राज-पाट, सुख-भोग और स्वर्ग वग़ैरः अच्छे मालूम होते हैं ।

जिस समय तेरा अन्तःकरण (बुद्धि) मोहरूपी कीचड़के पार हो जायगा, जिस वक्त उसके ऊपरसे अज्ञानरूपी मैल दूर हो जायगा, जिस समय वह रजोगुण और तमोगुणको त्यागकर शुद्ध सत्त्व-भाव को प्राप्त हो जायगा,उस समय तू आत्मा और शरीरका भेद समझेगा, उस समय तुझे सभी प्राणियोंमें एक ही अविनाशी आत्मा दिखाई देने लगेगा। उस समय तुझे इस लोकके स्त्री, पुत्र, धन, रत्न, महल-मकानात, बाग़-बग़ीचे, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर वग़ैरः पदार्थ और समस्त भूमण्डलका राज्य आदि तुच्छ, निकम्मे, जँचने लगेंगे । उस समय तुझे स्वर्ग और उसके सुख-भोग भी व्यर्थ मालूम होने लगेंगे, उस समय तुझे यह जगत् बाज़ीगरके खेल या स्वप्नकी मायाके समान बिल्कुल झूँठा मालूम होने लगेगा । इतना ही नहीं, उस समय तुझे जो कुछ तूने देखा और सुना है और जो आगे देखे और सुनेगा, सबसे नफ़रत हो जायगी । उस

समय तुझे इस लोक और परलोकके सभी सुख-भोग जञ्जाल और आफ़तकी जड़ मालूम होंगे। इसी अवस्थाको पूर्ण वैराग्य कहते हैं। जिस समय तुझे घोर वैराग्य हो जाय, तेरा मन सबसे किनारा कर जाय, तब तू समझ लेना कि, मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया—मेरी बुद्धि अज्ञानकी कीचसे निकल कर शुद्ध हो गयी; क्योंकि बिना अन्तःकरण अथवा बुद्धिके शुद्ध हुए वैराग्य नहीं होता। जब वैराग्य होगा, तब अन्तःकरण पहले शुद्ध होगा और जब अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, तब वैराग्य अवश्य होगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

जब तेरी बुद्धि, जो अनेक श्रुति-स्मृतियोंके सुननेसे विक्षेपको प्राप्त हो गई है, विक्षेप और विकल्पसे रहित होकर आत्मामें स्थित हो जायगी, तब तुझे समाधियोग प्राप्त होगा।

अथवा

नाना प्रकार के फलों का लोभ दिलानेवाले मन्त्रोंके सुनने से तेरी बुद्धि व्याकुल हो गयी है। जब उसकी व्याकुलता जाती रहेगी, जब उसके संशय दूर हो जायँगे, तब वह अचल और अटल रूपसे आत्माके ध्यानमें लग जायगी, तब उस समय तुझे योगकी प्राप्ति होगी।

हे अर्जुन! तूने अनेक प्रकारके शास्त्र पढ़े हैं; नाना प्रकारके वेद-मन्त्र सुने हैं। उनमें अनेक प्रकारकी क्रियाएँ और उनके फलोंकी बातें भरी पड़ी हैं। उनके सुनने पढ़नेसे तुझे जो ज्ञान हुआ है, वह निर्विवाद नहीं है; इसीसे तेरी बुद्धिमें घबराहट और सन्देह पैदा हो गये हैं। तेरी समझमें नहीं आता, क्या करना उचित है और क्या अनुचित है। जब तेरी बुद्धि और श्रुति-स्मृतियों

का झगड़ा मिट जायगा, तब तुझे यथार्थ उपदेशपर निश्चय होगा, तब तेरी बुद्धिकी उल्टी-सुल्टी बातें या सन्देह डिगा न सकेंगे। उस समय वह एक बातपर जमकर स्थिर हो जायगी। उसके पीछे तुझमें गहरी समाधिकी योग्यता होगी। जब तू एकदम आत्मा या परमात्माके ध्यानमें लग जायगा, उस समय दुनियाकी कोई भी बाहरी वस्तु तेरे चित्तमें न घुस सकेगी। तू ऐसे गहरे ध्यानमें डूबा रहेगा कि, अगर उस समय तेरे सिरपर भयानक-से-भयानक वज्र-पात होगा, तोभी तेरा ध्यान न टूटेगा; क्योंकि तेरा सारा ध्यान तो परमात्मामें होगा। तभी तुझे योगका पूरा लाभ होगा; तू आत्माको जान जायगा; तेरी पहुँच सीधी परमात्मा तक हो जायगी। उस समय तुझे जीव और ब्रह्ममें भेद न मालूम होगा। सर्वत्र परमात्मा-ही-परमात्मा दिखाई देगा। उस समय तुझे करने को कुछ न रहेगा। उस समय तू कृतकृत्य हो जायगा। मगर याद रख, इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये बुद्धि अथवा चित्तकी शान्ति—स्थिरता—बहुत ज़रूरी चीज़ है। बिना स्थिर बुद्धिके सफलता हरगिज़ न होगी। अतः तू स्थितप्रज्ञ—स्थिरबुद्धिवाला—होने की कोशिश कर।

स्थितप्रज्ञ अथवा पूर्ण ब्रह्मज्ञानीके लक्षण।

प्रश्न करनेका अवसर पाकर, अर्जुन भगवान्‌से स्थितप्रज्ञ पुरुष या पूर्ण ब्रह्मज्ञानीके लक्षण पूछता है :—

अर्जुन उवाच।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किं॥ ५४॥

अर्जुनने कहा :—

हे केशव! समाधिमें स्थित हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषके क्या लक्षण

हैं ? स्थितप्रज्ञ पुरुष किस तरह बोलता, किस तरह बैठता और किस तरह चलता-फिरता है ?

हे कृष्ण ! जिसे इस बातका दृढ़ विश्वास हो गया है, कि "मैं परम ब्रह्म हूँ" और जो समाधिमें तत्पर है, उसके लक्षण क्या हैं,— ऐसे मनुष्यके विषयमें लोग क्या कहते हैं ? वही स्थितप्रज्ञ—आत्म-स्वरूपमें अटल विश्वास रखनेवाला—जब समाधिमें तत्पर नहीं रहता, तब वह किस तरह बोलता, बैठता और चलता है ?

जीवन्मुक्त पुरुषोंके लक्षण, मोक्ष चाहनेवालोंके लिये, मोक्षके उपाय हैं। इसीलिये अध्यात्म-शास्त्रमें मोक्ष चाहनेवालोंके लिये जीवन्मुक्त पुरुषोंके लक्षण, मोक्ष-प्राप्तिके लिये, सिखाये जाते हैं। अर्जुनने यही बात समझकर, भगवान्से स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण पूछे हैं। भगवान् उसके चारों प्रश्नोंके उत्तर क्रमशः इसी अध्यायमें इसके अन्त होने तक देंगे। जिसने आरम्भसेही सब कामोंको त्याग-कर ज्ञानयोग-निष्ठाकी राह पकड़ ली है और जिसने कर्मयोग द्वारा चित्त शुद्ध करके अपनेको ज्ञानयोग का अधिकारी बना लिया है, ऐसे दोनों प्रकारके लोगोंके लिये ही इस अध्यायके ५५ वें श्लोकसे अध्यायके अन्ततक, भगवान् स्थितप्रज्ञके लक्षण और आत्मज्ञान प्राप्त करनेके उपाय बतावेंगे।

(१) आत्मामें सन्तोष।

श्रीभगवानुवाच।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

जब मनुष्य अपने मनकी सारी इच्छाओंको छोड़ देता है और आत्मा द्वारा आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ या स्थिर बुद्धिवाला कहते हैं।

जब मनुष्य मनमें प्रवेश करनेवाली भिन्न-भिन्न प्रकारकी इच्छाओंको बिल्कुल त्याग देता है और इस लोक तथा परलोककी किसी भी चीज़की ख़्वाहिश नहीं रखता, आत्माके ध्यानमें ही मग्न रहता है, आत्मासे ही सन्तुष्ट और प्रसन्न रहता है, आत्माके साथ ही रमण करता है, तब उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि, जब मनुष्य सब ओरसे मन हटाकर, सब प्रकारके संशय त्याग-कर, एक आत्मासे ही तृप्त रहता है, अपनी हालतमें ही मग्न रहता है ; तब उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं। जब उसकी यह हालत हो जाती है, तब वह अपने शरीरमें ही परमानन्द-स्वरूप ब्रह्मका अनुभव करता है, तब उसे उसके सिवा कुछ अच्छा नहीं लगता। जिसकी बुद्धि निश्चल रूपसे आत्मामें ही लगी रहती है, जिसकी तृप्ति एक-मात्र आत्मासे ही होती है, उसे "स्थितप्रज्ञ" या "स्थिरबुद्धि" कहते हैं।

(२) दुःख सुखमें समानता।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

जिसका मन दुःखके समय दुःखी नहीं होता ; सुखके समय सुख भोगना नहीं चाहता ; जो राग भय और क्रोधसे रहित है, वह 'स्थित-प्रज्ञ मुनि' कहलाता है।

जो मनुष्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक* किसी भी प्रकारके दुःखके आ पड़नेसे मनमें दुःखी नहीं होता, जो किसी

* दुःख तीन भाँतिके होते हैं—(१) आध्यात्मिक (२) आधिभौतिक (३) आधिदैविक। शोक-मोह आदिसे तथा ज्वर-खाँसी, अतिसार आदि रोगोंसे जो दुःख होते हैं, उन्हें आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। सिंह, चीते, भालू, भेड़िये, सर्प आदि जानवरोंसे जो दुःख होते हैं, उन्हें आधिभौतिक कहते हैं। बहुत तेज़ हवा, बहुत भारी वृष्टि, भारी बर्फ की बौछार, आग लगने वग़ैरहसे जो दुःख होते हैं, उन्हें आधिदैविक दुःख कहते हैं।

प्रकारके सुख भोगनेकी इच्छा नहीं रखता, जो किसी चीज़से प्रीति नहीं रखता, जो किसीसे नहीं डरता और जिसे क्रोध नहीं आता, वह मनुष्य "स्थितधी" मुनि कहलाता है।

पापका फल दुःख है और पुण्यका फल सुख है। पाप और पुण्यके फल अमिट हैं। बिना उनके भोगे पीछा छूट नहीं सकता। हमने इसके पहलेके शरीरमें जो पाप-कर्म किये हैं, उनका फल—दुःख—हमें, इस जन्ममें, अवश्य भोगना होगा। बिना उसके भोगे हमारा पीछा हरगिज़ न छूटेगा। जब हमारे पापका अन्त हो जायगा, तब हमारे दुःखका भी अन्त हो जायगा। जब तक हम अपने पापका दण्ड—दुःख—न भोग लेंगे; तबतक हम हज़ार उपाय करें, रोवें-चिल्लावें, कुछ न होगा। पापका फल अवश्यम्भावी है, अटल है, यह सोचकर ही विचारवान् पुरुष भारी-से-भारी दुःखमें नहीं घबराता। हमने पूर्व शरीरमें जो पुण्य-कर्म किये हैं, उनका फल—सुख—भी हमें अवश्य, बिना माँगे, मिलेगा। अगर हमने पुण्य-कर्म नहीं किया है, तो हमारे हज़ार चाहने, कोशिश करने, पर भी सुख न मिलेगा। जिस तरह दुःख बिना चाहे, अपने समय पर, आ जाता है; उसी तरह सुख भी, बिना चाहे, अपने समयपर, अगर हिसाबमें होता है, मिल जाता है। जो चीज़ खातेमें नहीं है, वह हरगिज़ नहीं मिलती। बिना पूर्व जन्मके पापोंके, चाहने से भी, दुःख नहीं मिलता; इसी तरह बिना पूर्व जन्मके पुण्य-कर्मों के, चाहने से भी, सुख नहीं मिलता। जो इस मर्म की बातको समझते हैं, वे दुःखों से दुःखी नहीं होते और सुखों की तृष्णामें नहीं फँसते।

इसी भाँति सुख भी तीन तरहके होते हैं। प्यारी चीज़की याद या अपनी इल्मियत, बुद्धिमानी वग़ैरः के घमण्डसे जो सुख होता है, उसे आध्यात्मिक सुख कहते हैं। स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु तथा और रिश्तेदारों तथा मित्रोंसे जो सुख मिलता है, उसे आधिभौतिक सुख कहते हैं। शीतल मन्द पवन, चौमासेकी नन्हीं-नन्हीं फुहारों, नदी-नालोंके बहने आदिसे जो सुख होता है, उसे आधिदैविक सुख कहते हैं।

हमारे पास लाख रुपये हैं। उनसे हमारी प्रीति है। प्रीतिके कारण, हमारे मनमें सदा यह भय बना रहता है कि, चोर इन्हें चुरा न ले जायँ अथवा ज़बरदस्त राजा इन्हें छीन न ले। अगर हमारी रुपयोंसे या और किसी चीज़ से प्रीति न हो, तो हमें डर क्यों लगने लगा? प्रीति से ही, बचाने में असमर्थ होने के कारण, भय लगता है। जब हम देखते हैं कि, हमारा माल लुटा जाता है, हम उसे बचा नहीं सकते, तब हमें क्रोध आता है। अतः, जिसे किसी चीज़ से राग—प्रेम—है, उसे ही भय और क्रोधके वशीभूत होना पड़ता है। जिसे किसी से राग नहीं, उसे भय और क्रोध क्यों होने लगे?

अब जो मनुष्य विचारवान् है, वह सब कुछ समझने के कारण दुःखोंसे नहीं घबराता, सुखों की चाहना नहीं रखता तथा राग, भय और क्रोधसे अलग रहता है। जिस मनुष्यमें ये लक्षण पाये जावें, उसे 'स्थितप्रज्ञ' मुनि कहते हैं; क्योंकि उसकी बुद्धि विचार करते-करते यथार्थ पर जम गयी है।

(३) स्नेह, हर्ष और द्वेषका अभाव।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

जो किसी चीज़ से प्रेम नहीं करता; अच्छी चीज़को पाकर खुश नहीं होता और बुरी चीज़को पाकर दुःखी नहीं होता, उसकी बुद्धि निश्चल है।

अथवा

ज्ञानी पुरुष अपनी देहसे भी स्नेह या प्रेम नहीं रखता। वह सुखके समय आनन्दसे फूल नहीं जाता और दुःख आ पड़नेपर, दुःख

को देखकर, अनमना नहीं हो जाता। जब वह इस तरह सुख और दुःखसे रहित हो जाता है, तब उसकी विवेक द्वारा उत्पन्न हुई बुद्धि निश्चल—स्थिर—हो जाती है।

संसारके प्राणिमात्र प्रेम-पाशमें बँधे हुए हैं। प्रेमके कारण ही मनुष्य को सुख-दुःख झेलने पड़ते हैं। अगर मनुष्य को किसी चीज़ से प्रेम न हो, तो उसे सुख और दुःखके झमेलेमें क्यों पड़ना पड़े? धन, पुत्र, स्त्री आदि को हम अपनी चीज़ समझते हैं, उनसे प्रेम करते हैं, तभी तो उनकी बढ़ती होने पर हम सुखी होते हैं और उनकी कमी होने या उनके एकबारगी नाश हो जाने पर हम दुःखी होते हैं। जिस चीज़से हमें प्रम नहीं है, उसके अधिक होने से हमें खुशी क्यों होगी और उसके कम होने या नाश होनेसे हमें रञ्ज क्यों होगा? प्रेम करना चाहिये, मगर ऐसी चीज़से प्रेम करना चाहिये जो सदा रहे, जिससे हमारा वियोग न हो, जिसके लिये हमें कभी सुखी होकर दुःखी होना न पड़े। स्त्री, पुत्र, धन आदि नाशमान् पदार्थ हैं, सदासे हमारा-इनका सङ्ग नहीं है, और आगे भी इनका-हमारा सङ्ग न रहेगा, आज इनके साथ संयोग हुआ है, तो आज ही या कल इनसे वियोग अवश्य होगा। ऐसे पदार्थोंसे मूर्ख लोग ही प्रेम करते हैं और वे इसी कारणसे सदा दुःख-सुखके झञ्झटमें फँसे रहते हैं। लेकिन जो ज्ञानी हैं, जो विद्वान् हैं, जो असल और कम-असलकी परख जानते हैं, वे इस लोक और परलोक के पदार्थोंकी असारता, संयोग-वियोग आदि को बुद्धिसे विचार कर इनसे प्रेम नहीं करते। वे ऐसी चीज़से प्रेम करते हैं, जिससे सदा, अनन्तकाल तक, आनन्द मिलता है: कभी दुःख उठानेका मौक़ा ही नहीं आता। वह क्षणिक सुख देनेवाली और परिणाममें दुःख पैदा करनेवाली चीज़ोंसे हरगिज़ प्रेम नहीं करते। वह एक-मात्र अविनाशी, नित्य, आत्मासे प्रेम करते हैं; क्योंकि उसके साथ

प्रेम करनेसे उन्हें दुःख कभी उठाना नहीं पड़ता ; क्योंकि न उसमें कमी-बेशी होती है, न उसका कभी नाश होता है,न उसके साथ कभी जुदाई होती है। अज्ञानी लोग इस तत्त्वकी बातको नहीं समझते ; इसीसे वे इन थोथी चीज़ोंके प्रेममें फँसकर दुःख-सुख भोगा करते हैं। ज्ञानी लोग इन सब बातोंको अच्छी तरह समझते हैं ; इसीसे वे स्त्री, पुत्र, धन, राज्य आदि तो क्या, अपनी देहसे भी प्रेम नहीं रखते। और जब वे इन सांसारिक पदार्थों से प्रेम नहीं रखते, तभी वे सुख-दुःखके झमेलेसे बचकर, एकाग्रचित्त से, आत्माके ध्यानमें, उसके प्रेममें, मग्न रहते हैं। आत्माके प्रेममें मग्न रहनेसे उन्हें कभी दुःखके दर्शन नहीं होते। परमानन्द सदा उनके सामने हाथ बाँधे खड़ा रहता है। तात्पर्य्य यह है कि, ज्ञानी आत्माके सिवाय, शरीर आदि सभी पदार्थोंसे प्रेम नहीं रखता।

शरीरसे प्रेम न रखनेके सिवा, ज्ञानी पुरुष सुख और दुःखको समान नज़रसे देखता है। वह समझता है कि, सुख पूर्व जन्मके पुण्य-कार्यका फल है और दुःख पूर्व जन्मके पाप-कार्यका फल है ; इसीसे वह सुख पाकर, आनन्दमें फूलकर, उसकी प्रशंसा नहीं करता और दुःख पाकर उसकी निन्दा नहीं करता। इसके विपरीत, अज्ञानी पुरुष अपने सुखके सामानोंकी बड़ाई करता फिरता है और अपने दुःखों का रोना रोया करता है ; क्योंकि वह सुख और दुःखको अपने ही किये हुए पुण्य और पाप का फल नहीं समझता।

अज्ञानी लोग भूलकर, न समझनेके कारण, अपने सुख-भोगोंकी बड़ाई छोंका करते है। वह इस बात पर विचार नहीं करते कि, इस बड़ाईसे दूसरों को क्या लाभ होगा। जो अपने प्रारब्धसे हमें मिला है, वह हमारे ही लिये है। बड़ाई मारना बिल्कुल बेफ़ायदा है। इसी तरह अज्ञानी लोग दूसरें की उन्नति, दूसरे का धन-वैभव आदि देखकर कुढ़ जाते हैं और उसकी निन्दा पर कमर बाँध लेते हैं। पराई निन्दा करनेसे पराया सुख, पराया धन-वैभव, किसीको

मिल नहीं जाता अथवा असली मालिकके पाससे चला नहीं जाता। ज्ञानी इन बातों को समझता है, इसीसे वह न अपनी तारीफ़ करता है और न पराई निन्दा करता है।

. राग, द्वेष, निन्दा, स्तुति आदि तामसी वृत्तियाँ हैं। इन्हींके कारणसे अन्तःकरण चलायमान रहता है। जब मनुष्य को देह आदि पदार्थोंसे स्नेह नहीं रहता ; जब वह राग, द्वेष, निन्दा स्तुति आदिसे रहित हो जाता है ; तब उसका मन निर्मल होकर आत्म-तत्त्वमें लवलीन हो जाता है। इन सब बातों पर विचार करके ही, ज्ञानी न किसीसे प्रेम करता है और न प्यारी चीज़ को पाकर उसकी तारीफ़ करता है और न अप्यारी चीज़को पाकर उसकी निन्दा करता है। उसके लिये बुरा और भला समान है ; इसीसे वह, निन्दा-स्तुतिसे रहित होकर, सदा उदासीन रहता है। जब विवेक—विचार—के कारण वह भले-बुरे के झगड़ेसे अलग हो जाता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

(४) विषयोंसे इन्द्रियोंको एकदम हटा लेना।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

जिस तरह कछुआ सब तरफसे अपने अंगोंको समेट लेता है ; उसी तरह जब वह इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है।

हे अर्जुन ! जिस भाँति कछुआ डरके मारे, अपने सिर और पाँव वगैरः को समेटकर अपने शरीरमें घुसा लेता है ; उसी तरह समाधि से उठा हुआ योगी, राग-द्वेष आदिके भयसे अथवा समाधिमें विघ्न होनेके भयसे. अपनी आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को उनके

विषयोंसे रोक लेता है। उस समय, उस योगी की बुद्धि को स्थिर कहते हैं।

(प्रश्न) यों तो निराहार रोगी की इन्द्रियाँ भी, जबकि वह इन्द्रियोंके विषयों को भोग नहीं सकता, विषयोंसे हट जाती हैं; लेकिन विषयों की लज़्ज़त को वह नहीं भूलता। विषयों की लज़्ज़त वह कब भूलता है?

(उत्तर) सुनो—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ ५८ ॥

निराहार रोगी पुरुषकी विषयोंसे निवृत्ति हो जाती है, किन्तु विषयोंसे उसकी प्रीति नहीं जाती; लेकिन स्थिरबुद्धि पुरुषकी विषयों से प्रीति भी आत्मसाक्षात्कार होनेसे मिट जाती है।

जो रोगी निराहार रहते-रहते एकदम दुर्बल हो जाता है, उसको विषयोंके भोगने को इच्छा नहीं रहती। वह असमर्थ होनेके कारण, विषयों की इच्छा नहीं करता; मगर उसके मनमें विषयों की लज़्ज़त तो बनी ही रहती है; विषयों की प्रीति उसके दिलसे नहीं जाती। इसी तरह वह मूढ़ मनुष्य, जो घोर तप करता है, विषयोंसे परहेज़ करता है; किन्तु उसका मन, विषयोंकी लज़्ज़त बनी रहने के कारण, विषयोंसे प्रीति नहीं छोड़ता।* लेकिन वह योगी, जो परमात्माको साक्षात् देख लेता है और मनमें

---

* जैसे; वेश्याके यहाँ जाना पाप समझनेवाला ब्रह्मचारी वेश्याकी ओर देखना भी पाप समझता है। आँखसे ही उस विषयको न देखेंगे, तो उस वस्तुकी क्या सामर्थ्य है, जो हमें लुभा सके? आँखोंसे न देखना, कानसे न सुनना, जीभसे न चखना आदि ही इन्द्रियोंसे काम न लेना कहाता है। इन इन्द्रियोंसे यदि काम लिया जाय अथवा ब्रह्मचारी यदि स्त्रीको आँख उठाकर देखे, तो उसकी उस विषयकी प्रीति जाग उठेगी। इसलिये कहा है कि, इन्द्रियोंसे काम लेना बन्द करनेपर भी उसकी प्रीति एकाएक नहीं हटती। यह प्रीति भी उखड़ जानी चाहिये।

ख़याल करता है कि, "मैं खुद वह हूँ," उसके मनमें विषयों की प्रीति नहीं रहती। उसका इन्द्रियोंके विषयोंका ज्ञान ही निर्वीज हो जाता है; इस तरह वह बुराई की जड़को ही नाश कर देता है। लेकिन रोगीमें यह बात नहीं होती, वह विषयों को भोगना तो चाहता है; मगर लाचारीसे उनके भोगनेकी इच्छा नहीं करता। उसके मनमें विषयों की लज्ज़त और उनमें प्रीति बनी रहती है; लेकिन योगीको, आत्माके दर्शन होने पर, उनसे प्रीति ही नहीं रहती। तात्पर्य्य यह है, कि जब तक आत्मासे साक्षात्कार नहीं होता, तब तक विषयों की प्रीति नहीं जाती। इसलिये यथार्थ ज्ञान करानेवाली बुद्धिको स्थिर करना ज़रूरी है। जब बुद्धि स्थिर हो जायगी, तब विषयोंसे एक दम प्रीति हट जायगी। अगर हम यों कहें कि, इच्छाओंके नाश होने पर शुद्ध ज्ञान का उदय होता है और शुद्ध ज्ञानके उदय होनेपर इच्छाएँ नाश हो जाती हैं; तो इसमें कोई भ्रान्तिजनक बात नहीं है। क्योंकि जब ज्ञानका उदय होने लगता है, तब इच्छाएँ स्थूलरूपमें नाश हो जाती हैं; मगर सूक्ष्म रूपमें मनमें बनी रहती हैं; किन्तु जब ज्ञान निश्चल और पूर्ण हो जाता है' तब सूक्ष्म कामनाएँ भी नाश हो जाती हैं।

सारांश यह है कि, स्थितप्रज्ञ होने या प्रज्ञाकी स्थितिके लिये मन और इन्द्रियोंको वशमें करना ज़रूरी है। जबतक मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो जातीं, तबतक प्रज्ञा स्थिर नहीं हो सकती। जिन्हें स्थितप्रज्ञ होना हो या जो प्रज्ञाको स्थिर करना चाहें, उन्हें पहले अपनी इन्द्रियोंको क़ाबूमें करना चाहिये। अगर इन्द्रियाँ क़ाबूमें न की जायँगी, तो वे हानि पहुँचायेंगी। अब भगवान् पहले यह दिखाते हैं कि, बाहरी इन्द्रियोंके वशमें न करनेसे क्या दोष होता है :—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

हे अर्जुन ! उपाय करते हुए बुद्धिमान पुरुष की भी बलवती इन्द्रियाँ उसके मनको जबरदस्तीसे अपने काबूमें कर लेती हैं।

हे अर्जुन ! जो पुरुष बुद्धिमान् है, जो इन्द्रियोंके वश न करनेके दोषको समझता है और दोषके समझनेके कारण, हर समय इनको वश करनेकी कोशिशमें लगा रहता है,—ऐसे पुरुषके मनको भी आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ अपने अधीन कर लेती हैं; क्योंकि इन्द्रियाँ बहुत ही बलवान् हैं। जिस समय यह आक्रमण करती हैं, उस समय पराक्रमी-से-पराक्रमी और विचारवान्-से-विचारवान्की एक नहीं चलती! जब ये ज़ोर बाँधकर हमले करती हैं, तब विवेक और विचारको पीठ दिखानी ही पड़ती है।

(प्रश्न) अगर इन्द्रियाँ ऐसी बलवान् हैं, तो मैं इन्हें अपने अधीन कैसे कर सकूँगा?

(उत्तर) इनके अधीन करनेका उपाय सुन :—

(५) ईश्वरकी भक्ति।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

उन सबको वशमें करके मनुष्यको दृढ़तासे मुझमें लौ लगाकर बैठना चाहिये। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।

अथवा

उन सब इन्द्रियोंको अर्थात् मन, आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़ा तथा पाँचों कर्मेन्द्रियोंको अपने वशमें लाकर; चित्तको सर्वथा दृढ़ करके; मनुष्यको मेरे ही ध्यानमें लौलीन हो जाना चाहिये। जिसने इस प्रकार इन्द्रियोंको अधीन कर लिया है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

जो मनुष्य पाँचों ज्ञान-इन्द्रियों, पाँचों कर्म-इन्द्रियों तथा मनको अपने वशमें करके, शान्तिसे बैठा हुआ, मुझ, वासुदेव, सबके अन्तरात्मा, के ध्यानमें मग्न हो जाता है, उसपर इन्द्रियोंका ज़ोर नहीं चलता। जबतक मनुष्य मेरी शरण नहीं आता, मेरा अनन्य भक्त नहीं हो जाता, तभी तक इन्द्रियाँ अपना ज़ोर चलाती हैं। मेरी शरण आये हुए पर इन्द्रियोंका वश नहीं चलता; अर्थात् जो यह सोचता हुआ बैठता है कि, मैं ही सच्चिदानन्द-स्वरूप अद्वैत हूँ, मेरे सिवाय और कोई पदार्थ ही नहीं है, ऐसे मनुष्यपर इन्द्रियोंका ज़ोर नहीं चलता और जो इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेता है, उसकी बुद्धि निश्चल है। मतलब यह है कि, ज्ञानी पुरुष, जिसकी बुद्धि निश्चल है, अपनी इन्द्रियोंको अपने क़ाबूमें करके मुझ, आत्माके ध्यानमें बैठा रहता है।

विषयोंका ध्यान बुराईकी जड़ है।

जो मनुष्य विषयोंके भोगकी इच्छा नहीं छोड़ सकता, उसकी बड़ी दुर्गति होती है। वह विषय न पाकर मन-ही-मन विषयोंका ध्यान किया करता है। विषयोंका ध्यान करनेसे क्या बुराइयाँ होती हैं, यही भगवान् आगे बताते हैं :—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

विषयोंके ध्यान करनेवाले मनुष्यके मनमें, पहले, विषयोंके लिये प्रीति उत्पन्न होती है; प्रीतिसे इच्छा पैदा होती है; इच्छासे क्रोध पैदा होता है; क्रोधसे भ्रम होता है; भ्रमसे स्मृतिहीनता होती है; स्मृतिहीनतासे बुद्धि नष्ट हो जाती है; बुद्धिके नष्ट होनेसे मनुष्य बिल्कुल नष्ट होता है।

मन-ही-मन विषयोंके ध्यान करनेवाले पुरुषको पहले तो विषयों में प्रीति—मुहब्बत—पैदा होती है ; प्रीतिसे उस विषयके पानेकी बलवती इच्छा उत्पन्न होती है । जब किसी कारणसे इच्छा सफल नहीं होती, इच्छा सफल होनेकी राहमें विघ्न आते हैं, तब मनुष्यको क्रोध आता है । क्रोधके कारण, मनुष्यमें भले-बुरेका विचार नहीं रहता । उस समय उसे कुछ नहीं सूझता कि, वह क्या कर रहा है । ज्ञान लोप होनेके कारण, क्रोधी गुरु तकका अपमान कर बैठता है । क्रोधके मारे मनुष्यकी स्मृतिमें दोष पैदा हो जाता है । स्मृति-दोषके कारण, मनुष्य शास्त्र और गुरुके उपदेशोंको भूल जाता है ; उसके सारे ज्ञानपर पानी फिर जाता है । स्मरण-शक्ति के नाश होनेसे बुद्धि (Conscience) नष्ट हो जाती है; यानी अन्तः-करण ऐसा असमर्थ हो जाता है कि, वह कार्य-अकार्य, भले-बुरेको नहीं जान सकता । जब बुद्धि या अन्तःकरण इस प्रकार नष्ट हो जाता है ; तब मनुष्य बिल्कुल बर्बाद हो जाता है ; क्योंकि मनुष्य तभी मनुष्य है, जबकि उसका अन्तःकरण भले-बुरेका विचार कर सके । जब अन्तःकरण इस योग्य नहीं रहता ; यानी वह भले-बुरे का विचार नहीं कर सकता, तब मनुष्य, मनुष्य नहीं कहला सकता। उस समय उसे नष्ट हुआ समझना चाहिये । तात्पर्य यह है कि, अन्तःकरण—बुद्धि—के नष्ट होनेसे, मनुष्य बिल्कुल बेकाम हो जाता है ; क्योंकि जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकता । सारांश यह है कि, विषयोंका ध्यान करना ही सब अनर्थोंका मूल है । अगर मन द्वारा विषयोंका ध्यान हो न किया जाय, तो विषयोंमें प्रीति क्यों हो, क्यों उनमें इच्छा हो ? इच्छा पूर्ण न होनेसे क्यों क्रोध हो, और क्यों अन्तमें मनुष्य बुद्धि खोकर बर्बाद हो ?

ध्यान मनसे होता है । मनमें ध्यान होनेके बाद इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं । अगर मन वशमें हो, तो इन्द्रियाँ कुछ न कर सकें । अगर मन वशमें न किया जाय और इन्द्रियाँ वशमें कर ली जायँ, तो

कुछ भी मतलब सिद्ध न होगा। अगर इन्द्रियाँ वशमें न भी की जायँ, किन्तु मन वशमें कर लिया जाय ; तो इन्द्रियाँ कुछ भी न कर सकेंगी। मन सारथी है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं; घोड़े सारथीके वशमें हैं ; वह उन्हें जिधर चलाता है, उधर ही जाते हैं। जो शख्स अपने मनको वशमें कर लेता है, उसकी इन्द्रियाँ भी, मनके अधीन होनेके कारण, वशमें हो जाती हैं। जिस शख्सका मन वशमें नहीं है, वही मनसे भाँति-भाँतिके विषयोंका ध्यान करता हुआ नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। अतः बुद्धिमान्को चाहिये कि, मनको खूब दबा कर अपने स्वधीन करे ; ताकि विषयोंका ध्यानही न हो। जब उनका ध्यान ही न होगा, तब अनर्थ कहाँसे होगा ?

इन्द्रिय-निरोधसे शान्ति और सुखकी प्राप्ति होती है।

ऊपर यह बताया गया है कि, विषयोंका ध्यान ही सब बुराइयों की जड़ है। अब आगे भगवान् मोक्षके उपाय बतलाते हैं :—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

जिसने अपने मनको वशमें कर रखा है, वह पुरुष तो राग-द्वेष रहित, मन के अधीन, इन्द्रियोंसे विषयोंको भोगता हुआ भी शान्ति लाभ करता है ।

जब मन राग-द्वेषकी ओर नहीं झुके, तब समझना चाहिये कि, मन वशमें हुआ। मनके वश होते ही राग-द्वेष मनसे भाग जाते हैं। जब मनमें राग-द्वेष नहीं रहते, तब इन्द्रियोंमें कैसे रह सकते हैं ? राग-द्वेषके कारण ही इन्द्रियाँ अनर्थ करती हैं। जब राग-द्वेष नहीं रहते, तब इन्द्रियाँ अपने काम नहीं करतीं ; लेकिन पूर्वजन्मके कर्मोंके कारण इन्द्रियाँ अवश्य काम करती हैं। क्योंकि कोई भी ब्रह्मज्ञानी ऐसा नज़र नहीं आता, जो इन्द्रियोंसे सुनना, देखना, मल-मूत्र त्यागना आदि काम न लेता हो। इन्द्रियाँ अपना स्वाभा-

विक कर्म करती हैं ; विषयोंको भोगती हैं। जिस तरह ब्रह्मज्ञानी विषयोंको भोगता है, उसी तरह अज्ञानी भी भोगता है। फ़र्क़ दोनों में यही है कि, ज्ञानी भोग भोगते समय विषयोंमें राग-द्वेष नहीं रखता। जो विषय अत्याज्य हैं, जिनके भोगे बिना शरीर नहीं चल सकता, उनको वह बिना प्रीति और नफ़रतके भोगता है ; लेकिन अज्ञानी राग-द्वेषसे विषयोंको भोगता है। जो ज्ञानी मनको वशमें करके राग-द्वेष-रहित होकर, अपने अधीनकी हुई इन्द्रियोंसे, शास्त्र की आज्ञानुसार, विषयोंको भोगता है, वह विषयोंको भोगता हुआ भी शान्ति लाभ करता है।

तात्पर्य यह है कि, अज्ञानी राग-द्वेषसे युक्त होकर इन्द्रियों द्वारा विषयोंका सेवन करता है। संसार-बन्धनमें ऐसे शख़्सका चित्त कभी शान्ति लाभ नहीं करता। बिना चित्तके स्वच्छ हुए, परमात्माके दर्शनोंकी योग्यता नहीं होती। लेकिन ज्ञानी पहले अपने मनको वशमें करता है। उसमेंसे रागद्वेषको बाहर निकाल फेंकता है। मनको वशमें करके, मनके अधीन, राग-द्वेष-रहित इन्द्रियों से जब वह ज़रूरी विषयोंका सेवन करता है ; तब उसका चित्त परमात्माके दर्शन करने योग्य साफ़ हो जाता है। उस समय उसे ख़ूब शान्ति मिलती है।

(प्रश्न) शान्तिके मिलनेसे क्या लाभ होता है ?

(उत्तर) सुनो :—

> प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
> प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

शान्तिके मिलनेसे उसके सारे दुःख नाश हो जाते हैं ; क्योंकि शान्तचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

जब शान्ति मिल जाती है, तब योगीके शरीर और मनसे सम्बन्ध रखनेवाले सब दुःखोंका अन्त हो जाता है ; क्योंकि शुद्ध चित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है; यानी वह दृढ़तासे आत्माके

ध्यानमें लग जाती है; अर्थात् जिसका चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है, उसका सब काम बन जाता है; इसलिये योगीको राग-द्वेष-रहित इन्द्रियोंसे केवल उन विषयोंका सेवन करना चहिये, जिनकी शास्त्रमें मनाही नहीं है और जिनका सेवन किये बिना काम नहीं चल सकता।

स्थिर बुद्धिवालेको जो लाभ होता है, वह अस्थिर बुद्धिवालेको नहीं हो सकता। भगवान् यही समझाते हुए शान्तिकी प्रशंसा करते हैं :—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

जिसने चित्तको वशमें नहीं किया है, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती; जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता; जिसे आत्मज्ञान नहीं है, उसे शान्ति नहीं मिल सकती; जिसे शान्ति नहीं, उसे सुख कहाँसे मिल सकता है?

जिसने अपने चित्तको वशमें नहीं किया है, उसमें आत्माका निश्चय करनेवाली व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं पैदा होती; अर्थात् वह आत्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता। जो आत्माके स्वरूपको नहीं जानता; वह उसका ध्यान कैसे कर सकता है? जो आत्माके ध्यानमें मशगूल नहीं रहता, उसे शान्ति कहाँसे मिल सकती है? जिसे शान्ति नहीं, जिसका चित्त ठिकाने नहीं, उसे सुख कैसे मिल सकता है? तात्पर्य यह है कि, बिना आत्मज्ञानके परमानन्द नहीं मिल सकता। असल बात यह है कि, जबतक इन्द्रियोंके विषयोंमें तृष्णा रहती है, तब तक सुख नहीं मिलता; जब विषयोंमें तृष्णा नहीं रहती, तभी सुख मिलता है।

इन्द्रिय-निग्रहसे बुद्धि की स्थिरता।

(प्रश्न।) जिसका चित्त शान्त नहीं है, उसमें आत्मविषयक बुद्धि क्यों उत्पन्न नहीं होती?

(उत्तर) सुनो :—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

मन विषयोंमें भटकनेवाली इन्द्रियोंमेंसे जिस एक इन्द्रियके अधीन हो जाता है,वही इन्द्रिय अज्ञानीकी बुद्धि इस भाँति हर लेती है,जिस तरह हवा जलपर नावको घुमाती है। इसलिये हे अर्जुन ! जिसने अपनी इन्द्रियोंको सब विषयोंसे बिल्कुल रोक लिया है, उसीकी बुद्धि स्थिर है ।

अज्ञानीकी इन्द्रियाँ जिस समय विषयोंमें भटकती हैं, उस समय अगर मन किसी एक इन्द्रियके अनुसार हो जाता है; तो वह इन्द्रिय जिसका साथी मन हुआ है, योगीकी आत्मविषयक बुद्धिको नाश कर देती है,—किस तरह ?—जिस तरह पवन मल्लाहोंकी चाहीहुई राहसे नावको भटका कर इधर-उधरले जा पटकती है ; उसी तरह मन योगीकी आत्मविषयक बुद्धिको हरकर उसे विषयोंमें लगा देता है। विषयोंमें भटकनेवाली इन्द्रियोंसे सारी बुराई पैदा होती हैं ; इसलिये उसी योगीकी बुद्धि स्थिर है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको शब्दादिक सब विषयोंसे सर्वथा हटा लिया है ।

ज्ञानीके लिये जगत् स्वप्नमात्र है ।

वह पुरुष, जिसमें विवेक-बुद्धि है और जिसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है, उसका लौकिक और वैदिक तमाम पदार्थोंका अनुभव, अविद्याके नाश होने पर, नाश हो जाता है ; क्योंकि वह अविद्याका कार्य है ; यानी ज्ञानके उदय होते ही, अविद्या नाश हो जाती है । अविद्या नाश होनेपर, संसार-भ्रम नहीं रहता । इसी अभिप्रायको साफ़ करनेके लिये, भगवान् कहते हैं :—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९ ॥

जो सब प्राणियोंकी रात है, वह मनके जीतनेवाले पुरुषोंके लिये जागनेका समय है और जो सब प्राणियोंके जागनेका समय है, वह मुनिके लिये रात है।

जो ज्ञाननिष्ठा अज्ञानी कर्मनिष्ठोंके लिये रात है, वही ज्ञाननिष्ठा मन-सहित इन्द्रियोंके वश करनेवालेके लिये दिन है। जो कर्म-निष्ठा अज्ञानी कर्मनिष्ठके लिये दिन है ; वही कर्मनिष्ठा ब्रह्मतत्त्वको देखनेवाले ज्ञानीके लिये रात है ; अर्थात् विषयोंमें फँसे हुए लोगों के लिये आत्मज्ञान रातके समान है और वही आत्मज्ञान इन्द्रियोंके जीतनेवाले पुरुषको दिनके समान है। इसी भाँति संसारके विषयों का सुख अज्ञानियोंके लिये दिन है ; मगर वह ज्ञानियोंके लिये रात के समान है। वे विषय-भोगोंको कुछ नहीं समझते।

जबतक मनुष्य नींदसे नहीं जागता, तबतक ही वह तरह-तरहके स्वप्न देखता है ; पर आँख खुलने, जागने, पर कुछ नहीं देखता, इसी तरह योग्य पुरुषको जबतक तत्त्वज्ञान—आत्मज्ञान—नहीं होता, तभीतक उसे यह संसार-भ्रम रहता है ; जब उसे तत्त्वज्ञान हो जाता है, जब ब्रह्मतत्त्व दीखने लगता है, तब उसे संसार-भ्रम नहीं होता; यानी तत्त्वज्ञान हो जानेपर ज्ञानी संसार और इसके विषय-भोगोंको स्वप्न की सी माया समझता है।

अब आगे भगवान् उदाहरण देकर यह समझाते हैं कि, वही योगी, जो बुद्धिमान् है, जिसने इच्छाओंको त्याग दिया है और जिसकी बुद्धि स्थिर है, मोक्ष लाभ कर सकता है ; लेकिन वह जिसने त्याग तो नहीं किया है, किन्तु सुख-भोगोंकी इच्छा रखता है, मोक्ष लाभ नहीं कर सकता।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठंसमुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जिस समुद्रमें चारों ओरसे पानी आकर मिल रहा है ; परन्तु जिसकी सीमा ज्योंकी त्यों बनी रहती है ; उस समुद्रके समान ही

गम्भीर रहता हुआ जो मनुष्य नाना प्रकारकी इच्छा-नदियोंके आ मिलनेसे घटता-बढ़ता नहीं, वही शान्ति प्राप्त करता है । जो इन इच्छाओंके फेरमें पड़ता है, उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती ।

सब ओरसे बह-बहकर पानी समुद्रमें जाता है । अनेक नदियां उसमें गिरती हैं ; मगर चारों ओरसे पानीके आनेपर भी उसकी हालतमें कुछ तब्दीली नहीं होती, वह अपनी मर्यादा नहीं त्यागता; यानी वह अपनी हदके अन्दर ही रहता है । इसी तरह जिस ज्ञानी में सब प्रकारकी इच्छाएँ सब ओरसे आ-आकर प्रवेश करती हैं ; किन्तु उनसे उसमें, समुद्रकी नाईं, कुछ विकार नहीं होता, उसे शान्ति (मोक्ष) मिलती है ; किन्तु जो भोग भोगनेकी इच्छा रखता है, उसे शान्ति (मोक्ष) नहीं मिलती ।

समुद्र नहीं चाहता कि, उसमें आकर नदियाँ गिरें, उसमें वर्षाका जल गिरे, न वह इनको बुलाता है ; क्योंकि उसे इनकी इच्छा नहीं है, परन्तु प्रकृतिके नियमानुसार सारी नदियों और वर्षाका जल उसमें जाकर आप-से-आप गिरता है । वह आप ही भरा-पूरा है और ऊपरसे इतना पानी नदी वग़ैरःका जाता है । इतने जलके उसमें गिरने पर भी, वह बिना किसी प्रकारकी तब्दीलीके अपनी सीमाओं के अन्दर ही रहता है । इसी तरह प्रकृतिके नियमानुसार प्रारब्धके भेजे हुए सब प्रकारके भोग, निष्काम ज्ञानीको आप-से-आप आ मिलते हैं । वह ज्ञानी भोगोंकी इच्छा नहीं रखता । विषय-भोगोंके प्राप्त होनेपर भी, उसमें समुद्रकी भाँति विकार उत्पन्न नहीं होता ; इसीसे उसे शान्ति प्राप्त होती है ; लेकिन जो भोगोंकी इच्छा रखता है, उसका मन सदा ख़राब रहता है और इसीसे उसे शान्ति नहीं मिलती ।

क्योंकि ऐसी बात है इसलिये—

> विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
> निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो सब प्रकारकी कामनाओं—इच्छाओं—को त्यागकर, ममता और अहंकारसे रहित होकर, बेपरवा होकर विचरता है, उसे शान्ति मिलती है।

जो संन्यासी अथवा त्यागी पुरुष सब प्रकारकी कामनाओंको सर्वथा त्याग देता है, वह फिर शरीर-रक्षाके लिये ज़रूरी चीज़की भी इच्छा नहीं रखता ; यही नहीं, वह अपने शरीरके क़ायम रहने की भी इच्छा नहीं करता। प्रारब्धवश, अनेक प्रकारके पदार्थोंको पाता है ; मगर उनमें उसकी ममता नहीं होती। साथही उसमें अपने ज्ञानका अहङ्कार भी नहीं होता। वह स्थिर बुद्धिवाला ब्रह्म-ज्ञानी शान्ति (निर्वाण) लाभ करता है। तात्पर्य्य यह है कि, वह ब्रह्म ही हो जाता है।

अर्जुनने श्रीकृष्ण भगवान्से स्थितप्रज्ञ—स्थिर बुद्धिवालेके लक्षण पूछे थे ; इसलिये उन्हीं लक्षणोंका अबतक वर्णन हुआ। अब भगवान् कर्मयोगके फल-स्वरूप ज्ञाननिष्ठा (सांख्यनिष्ठा)-की महिमा वर्णन करते हुए इस अध्याय को समाप्त करते हैं :—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

हे पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर किसी को मोह नहीं होता। अन्तकाल में भी इस ब्राह्मी स्थितिमें रहने से ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है।

हे पार्थ! मैंने अबतक जिस अवस्थाका वर्णन किया है, वह ब्राह्मी अवस्था है। जो इस अवस्थाको पहुँच जाता है, वह माया-मोहमें नहीं फँसता। यदि कोई अवस्थाके चौथे भाग—अन्त समय—में भी इस अवस्थामें रहता हो, तो उसको ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है। जो विद्यार्थी-अवस्थामें संन्यास ग्रहण करके इस ब्राह्मी स्थितिमें रहते हैं, उनको मोक्ष मिल जाती है, इसके कहनेकी तो आवश्यकता ही नहीं।

अर्जुन उवाच।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—

हे कृष्ण! अगर आप कर्मयोग से ज्ञानयोग को अच्छा समझते हैं; तो मुझे आप इस भयानक काम में क्यों लगाते हैं?

पहिले कृष्णने ज्ञानयोग का उपदेश दिया; पीछे कर्मयोग का उपदेश दिया और सबसे पीछे निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया। इच्छाओंके छोड़ देने; यानी निष्काम हो जानेकी बात सुनकर, अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है कि, यदि आपकी रायमें कर्म करने से ज्ञानयोग ही अच्छा है, तो आप मुझे इस घोर कर्म—युद्ध—में क्यों लगाते हैं? जब मुझे राजपाट, धन-दौलतकी इच्छा ही न रखनी चाहिये, तब युद्ध करनेकी क्या आवश्यकता है? आपके कथनका सारांश तो मुझे यही मालूम होता है कि, अब मुझे युद्ध वगैरः कुछ भी न करना चाहिये।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।

आपकी पेचीली—उलझनदार—बातों के सुनने से, मेरी बुद्धि चक्कर खारही है ; इसलिये निश्चय करके ऐसी एक राह बताइये कि, जिस पर चलने से मेरी भलाई हो।

कभी आप कर्म को अच्छा बताते हैं और कभी ज्ञानको कर्म से श्रेष्ठ बताते हैं। कभी इच्छाओं के छोड़ देनेमें मेरी भलाई कहते हैं और कभी कहते हैं कि, हे अर्जुन! उठ और युद्ध कर। आपकी ऐसी पेचदार और उलझनमें डालनेवाली बातोंसे उल्टी मेरी अक्ल गुम होगई है। मैं अबतक यह निश्चय नहीं कर सका हूँ कि, मुझे क्या करना चाहिये। अतः अब कृपा करके, ऐसी एक बात बताइये, जिसके अनुसार चलने से मेरा भला हो।

अर्जुन की यह बात सुनकर कृष्ण कहते हैं :—

श्रीभगवानुवाच।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

हे अर्जुन! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि, इस जगत् में दो प्रकार की राहें हैं:—सांख्यवालों को ज्ञानयोग की और योगियों के लिये कर्मयोग की।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

काम न करने से कोई कर्म के बन्धनों से रिहाई नहीं पा सकता और न केवल कर्मों के छोड़ देने से ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

इसका खुलासा मतलब यह है, कि काम न करनेसे मनुष्य निष्काम तत्वज्ञान को नहीं पा सकता ; क्योंकि केवल संन्यास लेनेसे बिना चित्त की वृत्तियों के शुद्ध किये कोई सिद्धि नहीं पा सकता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

असल में, कोई क्षण भर भी बिना काम किये नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृति के सत्व, रज और तमोगुण के कारण से, मनुष्य को लाचार होकर काम करना ही पड़ता है।

यदि कोई शख्स किसी प्रकार काम न करना चाहे, तो यह बात मनुष्य की इच्छानुसार हो ही नहीं सकती। उसे प्रकृति के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की वजह से काम करना ही पड़ेगा; क्योंकि मनुष्य प्रकृति के उक्त तीनों गुणों के अधीन है। अगर मनुष्य बिलकुल काम करना छोड़ देना भी चाहेगा, तो प्रकृति के उपरोक्त गुण उसे कायिक, मानसिक या वाचिक कर्म करने को लाचार करेंगे और उससे कोई न कोई काम अवश्य करायेंगे। सारांश यह है, कि काम छोड़ देना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य इन्द्रियों को वश करके, कुछ काम तो नहीं करता; किन्तु मन में इन्द्रियों के विषयों का ध्यान किया करता है,—वह मनुष्य झूँठा और पाखण्डी है।*

इसका खुलासा मतलब यह है कि, मनुष्यको हाँथ, पाँव, मुँह, गुदा और लिङ्ग को वशमें कर लेने और इनसे काम न लेने से कुछ भी लाभ नहीं है। इन इन्द्रियोंसे तो इनका काम लेना ही चाहिये; किन्तु आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—चमड़े—को वशमें करना चाहिये। आँख कान आदि पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ हैं। इन्हीं का वश करना या इनको अपने-अपने विषयों से रोकना ज़रूरी है।

* हाथ, पाँव, मुँह, गुदा और लिङ्ग—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन पाँचोंके पांच विषय हैं। हाथका विषय काम करना, पैरका विषय चलना मुँहका विषय बोलना, गुदाका विषय मल त्याग करना और लिङ्गका विषय पेशाब करना है।

सारांश यह है कि हाथ, पाँव आदि कर्म-इन्द्रियों के रोकने से कोई फ़ायदा नहीं है। फ़ायदा है, आँख, कान आदि ज्ञान-इन्द्रियों* के रोकने से।

बहुत से लोग, दिखावट के लिए अथवा ज़ाहिर में सिद्ध बनने के लिये, हाथ, पाँव आदि कर्मेन्द्रियों से काम नहीं लेते, बिल्कुल निकम्मे बैठे रहते हैं; किन्तु मनमें भाँति-भाँति के इन्द्रिय-विषयों की इच्छा किया करते है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि, जो ऐसा करते है, वह पाखण्डी हैं। वह लोगों में सिद्धाई फैलाने या अपने तई पुजाने के लिये झूँठा ढोंग करते है। सबसे अच्छा और सिद्ध पुरुष वही है, जो ज़ाहिरा तो काम किया करता है; किन्तु अन्दरसे अपने मन और ज्ञानेन्द्रियों को विषय-वासना से रोकता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! जो मन से आँख, कान आदि इन्द्रियों को वश में करके और इन्द्रियों के विषयोंमें मन न लगा कर, कर्म-योग करता है, वही श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! तू अपना नियत कर्त्तव्य-कर्म कर; क्योंकि काम

---

* आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—चमड़ा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन पाँचोंके भी पाँच विषय हैं। आँखका विषय देखना, कानोंका विषय सुनना, नाकका विषय सूँघना, जीभका विषय स्वाद चखना है। पाँचवीं ज्ञानेन्द्रिय त्वचा यानी चमड़ा है। इसका विषय छूना है। चमड़े से ही हमें स्पर्श ज्ञान होता है। अगर कोई शख्स हमारे शरीर पर आग का अङ्गारा रख दे, तो हमें त्वचा-इन्द्रिय यानी चमड़े से ही उसकी गर्मी का ज्ञान होता है।

गीता के दिल से समझनेवालों को दसों इन्द्रियों के नाम और उनके विषय यानी काम, भली भाँति, हृदयङ्गम कर लेने से गीता पढ़ने-समझने में बड़ी भारी आसानी होगी।

न करने से काम काम करना अच्छा है। अगर तू काम करना छोड़ देगा; यानी कुछ काम न करेगा; तो तेरा यह शरीर भी क़ायम न रहेगा।

श्रीकृष्ण के कहने का खुलासा मतलब यह है, कि मनुष्य को हाथ पर हाथ धरे निकम्मा हरगिज़ न रहना चाहिये। हाथ, पाँव मुँह, गुदा और लिङ्ग इन पाँच कर्मेन्द्रियों से अवश्य ही काम लेना चाहिये। अगर मनुष्य इनसे कुछ भी काम न लेगा, तो उसकी काया ही नाश हो जायगी। जब कायाही नाश हो जायगी, तब वह ज्ञान-योग कैसे कर सकेगा? इसलिये मनुष्य को कर्मेन्द्रियों से काम लेना परमावश्यक है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

मनुष्य, यज्ञ अथवा भगवान् के लिये जो कर्म करता है वह ठीक है। यज्ञ अथवा ईश्वरप्राप्ति के सिवाय जो कर्म किया जाता है, उससे मनुष्य कर्म-बन्धनमें बँध जाता है; इसीलिये अर्जुन! तू निष्काम होकर——मनमें कुछ इच्छा न रख कर——यज्ञके लिये कर्म कर।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

प्राचीन समय——सृष्टिरचनाकाल——में, प्रजापति ने यज्ञ सहित प्रजा को पैदा करके कहा:——"इससे तुम्हारी बढ़ती हो और यह तुम्हारी इच्छाओं को पूर्ण करे।"

इसका खुलासा यह है, कि सृष्टि-रचना के ज़माने में, ब्रह्मा ने मानव-जाति को पैदा करके कहा,—"तुम लोग यज्ञ करो; यज्ञ करने से तुम्हारी वृद्धि होगी और उससे तुम्हें मन-चाहे पदार्थ मिलेंगे; यानी जिस तरह इन्द्र की काम-धेनु गाय, माँगनेवालेको मन-माँगे पदार्थ देती है; वैसे ही यह यज्ञ तुम्हारे लिये काम-धेनु की तरह काम देगा।"

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

"यज्ञ से तुम देवताओं की पूजा करो और उन्हें बढ़ाओ। देवता लोग तुम्हारी वृद्धि करेंगे। इस तरह आपस में, एक दूसरे की वृद्धि करने से तुम्हारा सब का भला होगा।"

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

"यज्ञ से सन्तुष्ट होकर, देवता तुमको तुम्हारे मनोवाञ्छित सुख देंगे।" जो कोई उनके दिये हुए पदार्थों को, उनको बिना दिये ही, स्वयं भोग करता है वह निश्चय ही चोर है।

मतलब यह है, कि यज्ञ करने से देवता प्रसन्न होते हैं और खुश होकर वर्षा करते हैं; जिससे अन्न पैदा होता है। अन्न से मनुष्य की जीवन-रक्षा और उसकी वृद्धि होती है। किन्तु जो मनुष्य देवताओंसे वृष्टि द्वारा अन्न आदि पाकर, फिर उनकी वृद्धि—प्रसन्नता—के लिये, यज्ञ नहीं करता, वह चोर है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

जो यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाते हैं वह सारे पापों से छूट जाते हैं; किन्तु जो अपने लिये ही अन्न पकाते हैं, वे पापी निश्चय ही पापों का भोजन करते हैं।

इसका खुलासा मतलब यह है, कि जो मनुष्य बलिवैश्वदेव आदि पञ्च-यज्ञ करने के पीछे जो अन्न बच रहता है उसे खाते हैं, वे पापों से छुटकारा पा जाते हैं; किन्तु जो बिना यज्ञ किये आप ही खा लेते हैं, वे दुःख भोगा करते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अन्न से सब प्राणी होते हैं ; अन्न वर्षा से होता है ; वर्षा यज्ञ से होती है ; यज्ञ कर्म से होता है ।

इसका साफ़ मतलब यह है, कि अन्न खाने से मनुष्य की जीवन-रक्षा होती है। अन्न जब पेट में पहुँचता है, तब उसका रस खिँचता है। रस से रक्त बनता है। रक्त से मांस, मेद, अस्थि, मज्जा आदि धातुएँ बनती हैं। यही सातों धातुएँ शरीर को धारण करती हैं। इन सबकी वृद्धि से मनुष्यकी ज़िन्दगी क़ायम है और इनके नाश से मनुष्य का नाश हो जाता है ; किन्तु इन सब धातुओं की पुष्टि और कमी पूरा करनेवाले अन्न है ; अतः प्राणियों की प्राण-रक्षा के लिये अन्न ही प्रधान चीज़ है। अन्न वर्षा होनेसे पैदा होता है। अगर मेह न बरसे तो अन्न पैदा हो न हो ; इसलिये अन्नका पैदा होना मेह पर निर्भर है। मेह यज्ञ से होता है। अगर यज्ञ न किया जाय तो बादल न बनें और जब बादल ही न बनें, तो वर्षा कहाँ से हो ? मतलब यह है कि, वर्षा होने के लिये यज्ञ करना ज़रूरी है। लेकिन यज्ञ कर्म से होता है। अगर कर्म ही न किया जाय, तो यज्ञ कहाँ से हो ? इस विचार का यही तत्त्व है कि, सबमें "कर्म" प्रधान है। बिना कर्म जगत् का कोई काम नहीं चल सकता। कर्म किये बिना यह सृष्टि ही नहीं रह सकती।

श्रीकृष्ण भगवान् का यह उपदेश हम भारतवासियों के लिये—नहीं नहीं समस्त जगत् के लिये हो—कैसा अच्छा और सुखदायी है ! आजकल हमारे देशमें, जो हरसाल अकाल पर अकाल पड़ते हैं, लाखों जीव बिना मौत काल के गालमें समा जाते हैं, वह सब दुःख हम भारतवासियों को कृष्ण भगवान् की आज्ञा न पालन करनेसे ही भोगने पड़ते हैं। एक ज़माना था, जब इस आर्य-भूमि के बन-बन और घर-घर में नित्य यज्ञ हुआ करते थे और जहाँ कभी अकाल-देवता के दर्शनही न होते थे। आज वह ज़माना है,

है, कि लोग यज्ञों का नाम भी नहीं लेते ; इसीसे अकाल हर साल मुँह बाये खानेके लिये खड़ा रहता है। खाली गीता को गले का हार बनाने से, कृष्ण-कृष्ण की रट लगाने से, कुछ न होगा। जो होगा, वह गीता में लिखे हुए कृष्ण के वचन जानने और तदनुसार चलने से।

> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
> तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

कर्म, ब्रह्म—सजीव शरीर—से होता है, और ब्रह्म—शरीरी—अक्षय परब्रह्म से पैदा होता है। अतः यज्ञ में अनन्त, सर्वव्यापक परब्रह्म सदा मौजूद रहता है।

> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

हे अर्जुन! जो इस चक्र के अनुसार नहीं चलता है, वह इन्द्रियों के विषयों में लगा हुआ अपनी ज़िन्दगी खोता है। उसका जीना व्यर्थ है।

जिस चक्र का ऊपर ज़िक्र आया है, उसे हम पहले समझा आये हैं। शरीर अन्न से, अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से, यज्ञ कर्म से और कर्म शरीर से होता है, यही ईश्वर का चक्र है। जो मनुष्य यज्ञ नहीं करता ; किन्तु अपनी इन्द्रियोंको सुख देने में ही लगा रहता है, उसका जीवन निष्फल है ; यहाँ यज्ञ की महिमा बढ़ाते हुए भी, कृष्ण भगवान् 'कर्म की प्रधानता' ही सिद्ध कर रहे हैं।

अबतक श्रीकृष्ण भगवान् कर्म न करनेवाले को दोषी कहते आये हैं। आगे चलकर वह यह भी दिखा देते हैं, कि किसे कर्म न करने से दोष नहीं लगता।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

जो मनुष्य आत्मा में ही मग्न रहता है ; यानी आत्मस्वरूप में ही आनन्द मानता है ; आत्मा से ही तृप्त रहता है और आत्मा से ही सन्तुष्ट रहता है ; उसके लिये, निस्सन्देह, कुछ भी काम नहीं करना है। उसके लिये काम करने या न करने से कुछ भी लाभ नहीं है। उसे प्राणी-मात्र का आश्रय लेने की भी ज़रूरत नहीं है।

जिस मनुष्य की आत्मा से ही प्रीति है ; जिसकी आत्मा से ही तृप्ति हो जाती है ; यानी अन्न वग़ैरः की ज़रूरत नहीं होती ; जो आत्मा से ही खुश रहता है ; अर्थात् जो सदा ईश्वर-प्रेम में मगन रहता है और जिसे खाने-पीने आदि की इच्छा नहीं होती ; वह कोई काम करने के लिये मजबूर नहीं है। अगर वह काम करे तो उसे पुण्य नहीं होता, अगर न करे तो कोई पाप नहीं लगता। उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती ; अतः उसे किसी प्रकार के मनुष्य का आश्रय टटोलने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! तू इन्द्रियों के अधीन न होकर, अपना कर्त्तव्य कर्म कर। इन्द्रियों को जीत कर, काम करनेवाला परमात्मा तक पहुँच जाता है।

यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं, कि हे अर्जुन ! आत्मानन्दी पुरुष सब काम छोड़कर निर्दोष रह सकता है ; परन्तु तू वैसा आत्मानन्दी या तत्त्वज्ञानी नहीं है। तू धन-दौलत, राज-पाट और कुटुम्ब-परिवार में फँसा हुआ है। तुझ से वैसा नहीं हो सकता और तुझे वैसा

करना भी न चाहिये। अगर कोई शख़्स ज्ञानेन्द्रियों को अधीन करके या कर्मों में आसक्त न होकर—अथवा फलेच्छा छोड़कर काम करे; तो वह परमपद या परमात्मा को पा सकता है। तू भी उसी तरह इस युद्ध को कर।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनक वग़ैरः ज्ञानी लोग, कर्म करते-करते ही, परम पद पा गये हैं। इसलिये तुझे भी, संसार की भलाई पर नज़र रख कर, काम करना चाहिये।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

बड़े लोग जिस चाल पर चलते है, दूसरे लोग भी उन्हीं की चाल पर चला करते हैं। बड़ा आदमी जिस बात को चला देता है, दुनिया उसी पर चलने लगती है।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे अर्जुन! तीन लोक में ऐसा कोई काम नहीं है, जो मुझे करना ही चाहिये; ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जो मुझे नहीं मिल सकती और न मुझे किसी चीज़के हासिल करने की इच्छा ही है; तथापि मैं काम करने में लगा रहता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! यदि मैं निरालस्य होकर कामों में न लगा रहूँ, तो सब लोग मेरी नक़ल करेंगे; यानी काम करना छोड़ देंगे।

अगर मैं कर्म न करूँगा तो दुनिया कहने लगेगी, कि यदि कर्म श्रेष्ठ होता, तो श्रीकृष्ण ही करते। काम करना अच्छा नहीं था, तभी कृष्ण ने कर्म नहीं किया।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो त्रिलोकी नष्ट हो जायगी। मैं वर्ण-संकर करने वाला और इन प्रजाओं को नष्ट करने वाला ठहरूँगा।

मेरी ओर देखकर, प्रजा कर्म को तुच्छ समझेगी और बिल्कुल कर्म न करेगी। कर्म के लोप होने से धर्म नष्ट हो जायगा। धर्म के नाश होने से, तीनों लोक नष्ट हो जायँगे। किसी को भय न रहेगा। सब मनमानी करने लगेंगे। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होने लगेगी। मर्य्यादा नाश हो जायगी। संसारमें कुकर्म और दुराचार बढ़ जायँगे। दुराचारसे वर्णसङ्कर जन्म लेने लगेंगे। अपनी ही प्रजा का आप ही नाश करने और वर्णसङ्कर पैदा करने का दोष मेरे ही सिर पर रहेगा। इन्हीं दोषों से बचने और प्रजा को मर्य्यादा पर चलाने के लिये ही मैं कर्म करता हूँ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ २५॥

जिस भाँति मूर्ख लोग, कर्म में आसक्त होकर, कर्म करते हैं; उसी भाँति विद्वान् लोगोंको भी, लोगों की भलाई की इच्छा से, कर्मों में आसक्त न होकर, कर्म करना चाहिये।

इसका खुलासा मतलब यह है कि, अज्ञानी लोग तो कामोंमें आसक्त होकर; यानी कर्मों में मोह रखकर काम करते हैं; किन्तु ज्ञानियों को कर्मों में मोह न रखकर, लोगों को शिक्षा देनेके लिये, कर्म करना चाहिये; जिससे धर्म-मार्ग चलता रहे और लोक-मर्य्यादा बनी रहे।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! जिन अज्ञानी लोगों का मन काम में फँसा हुआ है, उनका मन ज्ञानवानों को काम से हरगिज़ न फेरना चाहिये। उनको उचित है, कि आप काम करें और उनको उपदेश देकर उनसे भी कर्म करावें।

खुलासा यह है, कि ज्ञान-योगी मनुष्य को कर्मों में फँसे हुए लोगों को आत्मज्ञान का उपदेश देकर, उनका दिल कामसे न फेरना चाहिये; बल्कि वह आप कर्मों में मोह न रखकर, काम करे और दूसरों से करावे। क्योंकि यदि कर्मों में फँसे हुए लोगों का दिल काम से हट गया और उनको आत्मज्ञान भी न हुआ, तो वही मसल होगी कि 'द्विविधा में दोनों गये, माया मिली न राम'। वे बेचारे धोबी के कुत्ते की तरह घर और घाट कहीं के न रहेंगे।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

सारे काम प्रकृति के सत्व, रज और तम,—इन तीन गुणों द्वारा होते हैं; किन्तु जिसका आत्मा अहंकार से मूढ़ होगया है, वह समझता है:—"मैं करता हूँ।"

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

लेकिन जो शख्स सत्व आदि गुण और उनके कर्मों के विभाग को जानता है, वह यही समझता है कि, सत्व आदि गुण स्वयं काम करा रहे हैं और इसीलिये वह उनमें आसक्त नहीं होता।

पहले भगवान्ने कहा था कि, जो अज्ञानी मनुष्य काममें आसक्त हैं, उन्हें ज्ञानी काम से बन्द न करे; बल्कि आप काम करे और

उनसे भी करावे। इस पर यह विचार उठता है, कि यदि ज्ञानी भी अज्ञानी के समान काम करेगा, तो ज्ञानी और अज्ञानी में क्या फ़र्क रहेगा ? इसी सन्देह के निवारण करने के लिये भगवान् ने कहा है, कि प्रकृति इन्द्रियों के ज़रिये से आप काम कराती है ; आत्मा कुछ नहीं करता ; किन्तु जो मूर्ख हैं, जिनकी मति अहङ्कार से मारी गई है, वे समझते हैं कि सब काम हम ही करते हैं ; किन्तु वास्तव में, वे कुछ भी नहीं करते ; प्रकृति ही सब कुछ कराती है। अज्ञानियों की इस भूल का कारण यही है, कि वे लोग इन्द्रियों को आत्मा समझते हैं ; किन्तु ज्ञानी लोग इन्द्रियों से आत्मा को जुदा समझते हैं और प्रकृति द्वारा इन्द्रियों से कराये हुए काम को अपना किया काम नहीं समझते ; यानी अपने तईं कर्मों से अलग समझते हैं। जो लोग इन्द्रियों और कर्म से अपने तईं अलग समझ कर, तत्त्व को जानते हैं, वे ही तत्त्वज्ञानी हैं। सारांश यह है, कि तत्त्वज्ञानी प्रकृति द्वारा इन्द्रियों को कर्म करती हुई समझते हैं। इन्द्रियों के कामों को अपना किया हुआ नहीं समझते ; लेकिन अज्ञानी इन्द्रियों के कामों को अपना समझते हैं।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

जो प्रकृति के गुणों की भूल में पड़े हैं, वे गुणों के कामों में फँसे रहते हैं ; उन मूर्खों को ज्ञानी लोग कर्म-मार्ग से न हटावें।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! सब कर्मों को मुझ पर छोड़ कर, आत्मा में चित्त लगाकर, आशा और अहंकार को त्यागकर, शोक सन्ताप से रहित होकर, युद्ध कर।

इसका खुलासा मतलब यह है, कि श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, कि तुम अपने क्षत्रिय-स्वभाव के अनुसार युद्ध करो। मन में ऐसा मत समझो कि, मैं युद्ध करता हूँ; बल्कि यह समझो कि, मैं भगवान् के अधीन होकर, जो वह कराते हैं सो करता हूँ। न मेरा यह काम है और न मैं इसका करनेवाला हूँ। साथ ही, यह आशा भी मत करो कि, मुझे इससे यह फल मिलेगा। न अपने भाई-बन्धु, इष्ट-मित्र और सम्बन्धियों के मरने का शोक-सन्ताप ही मनमें रखो।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्तेतेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

जो मनुष्य मेरे इस उपदेश पर, सदा विश्वास रख कर, चलते हैं; इसमें दोष नहीं निकालते हैं, वे कर्म-बन्धन से छुटकारा पा जाते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

जो मनुष्य मेरे उपदेश की बुराई करते हैं और मेरी शिक्षानुसार नहीं चलते हैं, उन हियेके अन्धों और अज्ञानियों को नष्ट हुए समझो।

उपरोक्त दोनों श्लोकों से, श्रीकृष्ण ने उपदेश मानने और न माननेवालों के हानि-लाभ बताये हैं। उन्होंने कहा है, कि जो मनुष्य मेरे उपदेश पर सदा विश्वास और श्रद्धा से चलेंगे और उसमें ऐबजोई या नुकताचीनी न करेंगे, वे कर्म करते-करते ही कुछ दिनोंमें कर्ममुक्त हो जायँगे; किन्तु जो मेरे मत में दोष निकालेंगे और उसके अनुसार न चलेंगे, वे अज्ञानी, महामन्दमति, अज्ञानता के गढ़े में पड़े-पड़े किसी काम के न रहेंगे और सदा कर्मकी बेड़ियों में फँसे रहेंगे।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृति—स्वभाव—के अनुसार चलता है ; समस्त प्राणी प्रकृति के अनुसार चलते हैं । इन्द्रियों के रोकने से क्या होगा ?

अगर कोई शङ्का करे, कि जब इन्द्रियोंके वश करने और इच्छा के त्यागनेसे ही सिद्धि होती है, तब सब संसार ही ऐसा क्यों न करे ? इस शङ्का के दूर करने के लिये, भगवान् कहते हैं कि ज्ञानी से ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार काम करता है। प्रकृति बलवान् है। जब ज्ञानी का ही, प्रकृति—स्वभाव—पर वश नहीं चलता, तब बेचारे अज्ञानियों का क्या दोष है ? समस्त जगत् को ही अपनी प्रकृतिके अनुसार चलना पड़ता है। स्वभाव या प्रकृति के मुक़ाबिले में इन्द्रियोंको कोई रोक नहीं सकता ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ॥।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

हरेक इन्द्रिय को अपने-अपने अनुकूल विषय में प्रेम और प्रतिकूल विषय में द्वेष है । राग-द्वेष के वशीभूत होना ठीक नहीं है ; क्योंकि राग और द्वेष ही मोक्ष में विघ्न करने वाले हैं ।

इसका खुलासा यह है, कि कोई इन्द्रिय किसी चीज़को चाहती है और किसी को नहीं ; यानी किसी चीज़से उसे प्रेम होता है और किसी से विरक्ति । मतलब यह है कि, हरेक इन्द्रिय अपनी अनुकूल वस्तु से प्रेम करती है और प्रतिकूल से वैर करती है। इन्द्रियों का राग और द्वेष के अधीन होना अथवा किसी चीज़ से प्रेम करना और किसी से नफ़रत करना, मोक्ष के रास्ते में विघ्नकारक है। यद्यपि राग और द्वेष स्वभावसिद्ध हैं ; तथापि इनके वशीभूत न होना ही भला है। हे अर्जुन ! तुम में जो इस समय दया-भाव पैदा हो गया है, उसे छोड़ो और युद्ध करो ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

पराये सर्वगुण-सम्पन्न धर्म से अपना गुणहीन धर्म भी अच्छा है । अपने ही धर्म में मरना भला है ; क्योंकि पराया धर्म भयकारी है ।

मनुष्य के चित्त में जब राग-द्वेष पैदा होता है, तब उसे अपना धर्म बुरा और पराया धर्म भला लगता है। अर्जुनने जब अपने रिश्ते-दारों को देखा, तब उसे उनकी तरफ़ से मोह हुआ; अथवा यों कह सकते हैं कि, नेत्र-इन्द्रिय को राग उत्पन्न हुआ। तब अर्जुन कहने लगा कि, मैं अपना क्षत्रिय-धर्म छोड़ दूँगा और भीख माँग खाऊँगा; यानी युद्ध न करूँगा ; चाहे भीखही क्यों न माँगनी पड़े। इसी पर, श्रीकृष्ण ऊपर कह आये हैं कि इन्द्रियों का राग-द्वेष के वशमें होना अनुचित है। फिर कहते हैं कि, राग-द्वेष के अधीन होकर अपना धर्म छोड़ना और पराया धर्म ग्रहण करना ठीक नहीं है। तुम क्षत्रिय हो। युद्ध करना तुम्हारा धर्म है। अगर तुम अपने क्षत्रि-योचित धर्म को छोड़ दोगे, तो निस्सन्देह नरकमें जाओगे और जो अपनेही धर्म का काम करते हुए प्राणत्याग करोगे, तो मोक्षपद पा-ओगे। यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन को इन्द्रियों के स्वाभाविक दोष, राग-द्वेष से हटाकर उसके क्षत्रिय-धर्म में लगाते हैं।

उपरोक्त बात सुनकर अर्जुन ने पूछा—

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण ! यह मनुष्य पाप करना नहीं चाहता ; तोभी किस के ज़ोर देने से—किसकी प्रेरणा से—पाप कर्म करने लगता है ? ऐसा मालूम होता है, मानो कोई इससे ज़बरदस्ती पाप कराता है ।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण का उपदेश सुन कर कहा कि, आप कह चुके हैं कि, राग-द्वेष के अधीन न होना चाहिये। परन्तु मैं आप से यह पूछता हूँ कि, ज्ञानी आदमी जो इन सब बातों को जानता-समझता है और ज्ञान-बल से काम-क्रोध को रोककर भी विषयों में फँस जाता है और पाप करने लगता है; इससे ऐसा जान पड़ता है कि; मनुष्य से कोई, उसकी इच्छा पाप-कर्मों में न होने पर भी, ज़बरदस्ती पाप कराता है; हे कृष्ण! वह पाप-कर्मों में प्रेरणा करनेवाला, विषयासक्त होने के लिये मनुष्य को उकसानेवाला, कौन है?

श्री भगवानुवाच।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

भगवान ने कहा :—

हे अर्जुन! वह काम है, वह क्रोध है, जो रजोगुण से पैदा हुआ है। काम सब-कुछ खा जाने पर भी नहीं अघाता। वह बड़ा पापी है। इस जगत् में काम ही हमारा शत्रु है।

अर्जुन ने भगवान् से यह पूछा था कि, मनुष्यको इच्छा न होने पर भी, कौन उसको ज़बरदस्ती पाप-कर्म में लगाता है। उसके जवाब में भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! मनुष्य को पापों में लगानेवाला और ज़बरदस्ती विषयों में फँसानेवाला "काम" है। काम का सीधा सरल अर्थ "इच्छा" हैं। यह इच्छा जगत् को अपने अधीन रखती है। जब इस इच्छा के विरुद्ध काम होता है या इच्छानुसार मतलब नहीं बनता अथवा इच्छानुसार पदार्थ या भोग की वस्तुएँ नहीं मिलतीं; तब यह इच्छा "क्रोध" में बदल जाती है। इस "इच्छा" के पेट की कुछ थाह नहीं है। इसके पेट में चाहे जितना भरे जाओ, यह कभी नहीं अघाती; अर्थात्

इसे ज्यों-ज्यों भोग भोगनेको मिलते हैं,त्यों-त्यों इसको भूख बढ़तीही जाती है। हम देखते हैं कि, जिस मनुष्य को पेट-भर भोजन नहीं मिलता, वह पहले पेट-भर भोजन चाहता है। जब उसे उसकी इच्छानुसार रूखा-सूखा पेट-भर भोजन मिलने लगता है; तब वह अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थों की इच्छा करता है। जब वह भी मिल जाते हैं,तब वह महल-मकान, गाड़ी-घोड़े आदि की इच्छा करता है; और जब वह इच्छा भी पूरी हो जाती है, तब वह राज्यकी इच्छा करता है। राज्य मिल जानेपर, चक्रवर्ती राजा होना चाहता है। चक्रवर्ती राजा होने पर स्वर्ग का राज्य चाहता है। मतलब यह है, कि ज्यों-ज्यों इच्छानुसार भोग मिलते जाते हैं, त्यों-त्यों इच्छा बढ़ती जाती है। यही इच्छा जब पूरी नहीं होती; तब इच्छा पूर्ण करने के लिये मनुष्य अनेकानेक पाप करने लगता है। जिसके ऊपर "इच्छा" का राज्य नहीं है, जो इच्छा के अधीन नहीं है, वही मनुष्य ज्ञानी है, वही श्रेष्ठ है। खूब सोच-विचार कर देख लो, कि इच्छाही मनुष्य की परम वैरिणी है। यही मनुष्य को मोक्ष मिलने की राह में कण्टक-स्वरूप है। श्रीकृष्ण के कहने का सारांश यही है,कि केवल कामना—इच्छा—ही मनुष्य से ज़ोर देकर पाप कराती है।

धूमेनाऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

जिस तरह धूएँ से आग ढकी रहती है, धूल से दर्पण ढका रहता है और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है; उसी तरह 'ज्ञान' भी कामना—इच्छा—से ढका रहता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

हे कुन्तीपुत्र! इस "काम" ने ज्ञानियों की बुद्धि पर परदा

डाल रक्खा है। यह उनका सदा दुश्मन है। यह अग्नि की तरह कभी नहीं अघाता।

उपरोक्त दोनों श्लोकों से श्रीकृष्ण अपनी पहली बात की पुष्टि करते हैं और कहते हैं कि, सब अनर्थों की मूल "कामना" ही है। जिस तरह आग में जितना ईंधन डालो, उतनाही वह और भस्म कर सकती है। जितना ही ईंधन उसे मिलेगा, उतनीही उसकी शक्ति बढ़ती जायगी। यही हाल इच्छा का है। एक इच्छा पूरी होगी, तो दूसरी दस इच्छाएँ आकर घेर लेंगी। मनुष्य चाहे जितना विषय-भोग क्यों न भोग ले, उसकी इच्छा उसकी ओर से कदापि कम न होगी ; वरन् बढ़तीही जायगी। अगर इच्छा पूर्ण नहीं होती, तो दिल में दुःख होता है। अपनी विषय-वासना पूरी करने के लिये, मनुष्य घोर पाप करने पर उतारू हो जाता है। इच्छा के कारण मनुष्य को पैंड़-पैंड़ पर शोक-सन्ताप के वशीभूत होना पड़ता है। इच्छाही की प्रेरणा से मनुष्य बन्धन में फँसता है। अगर मनुष्य इच्छा के अधीन न रहे, तो उसके लिये मोक्ष सहज में मिल जावे। इस इच्छा ने मनुष्य के "ज्ञान" पर परदा डाल रक्खा है। अगर मनुष्य इच्छा-रूपी गर्द को झाड़-पोंछ कर साफ़ कर दे, तो उसे ज्ञान का चाँदना दिखने लगे और वह ज्ञान रूपी उजियालेमें सत् और असत् कर्म को देखकर अपनी भलाई कर सके।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि,—ये तीनों "इच्छा" के रहने के स्थान हैं। इच्छा इन्हीं तीनों के द्वारा बुद्धि को ढक कर, शरीर के भीतर रहने वाले प्राणी को भुलावे में डालती है।

अब तक श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वह शत्रु बताया था, जो मनुष्य की इच्छा न होने पर भी उसे लाचार करके, उससे पाप-कर्म

कराता है। जब किसी शत्रु को जीतना होता है, तब उसके रहने के स्थान का पता लगाना होता है। इसीलिये, पहिले श्रीकृष्ण "काम" नामक शत्रु के रहने का स्थान बताते हैं और आगे के श्लोक से उसके जीतने का उपाय बतावेंगे; भगवान् कहते हैं, कि मनुष्य इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता है; मनसे सङ्कल्प करता है; बुद्धि से निश्चय करता है, कि मैं फ़लाँ काम करूँगा। इसलिये "कामना" इन तीनों के सहारेसेही अपना काम करती है। यही तीनों "कामना" यानी इच्छा के रहने की जगह हैं। इन्हीं तीनों के बल या मदद से, कामना ज्ञानको ढक लेती है और मनुष्य को मोहित करती है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इसलिये हे अर्जुन! सबसे पहले, तू इन्द्रियों को रोक और इस ज्ञान तथा बुद्धि के नाशक, पापी 'काम' को मार डाल।

सारांश यह है, कि श्रीकृष्ण अर्जुन को इन्द्रियों के रोकने और "इच्छा" के त्याग देने की सलाह देते हैं; क्योंकि "इच्छा" आत्मज्ञान और विज्ञान दोनों को नाश करनेवाली है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

हे अर्जुन! शरीर से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं; इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है; मन से बुद्धि श्रेष्ठ है; बुद्धि से भी परे और श्रेष्ठ आत्मा है।

इस श्लोकसे श्रीकृष्ण यह दिखाते हैं, कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इनसे आत्मा परे है, जुदा है। इन्द्रियाँ तो प्रबल हैं ही, मन उनसे भी ज़ोरावर है। बिना मन चले, इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकतीं और मन से भी बुद्धि बलवान् है; क्योंकि वह मन के विचार को रोकना चाहे तो रोक सकती है। आत्मा इन सबसे अलग है। इसी आत्मा को "काम" भुलावे में डालता है।

एवं बुद्धेः परं बुध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

हे महाभुज अर्जुन ! इस भाँति आत्मा को बुद्धि से भी परे जान कर और मनको निश्चल करके, इस कामना रूपी अजेय शत्रु को नाश कर डाल ।

इसका खुलासा यह है, कि बुद्धि तो इन्द्रियों और उनके विषयों से विकारयुक्त हो जाती है ; किन्तु आत्मा निर्विकार है और वह बुद्धि से अलग है । मनुष्य बुद्धि से इस बात का निश्चय कर ले कि, आत्मा सबसे श्रेष्ठ और सबसे अलग है; फिर मन को चलायमान न करे और बड़ी कठिनता से जीते जाने-योग्य काम—इच्छा—को नाश कर डाले ।

तीसरा अध्याय समाप्त ।
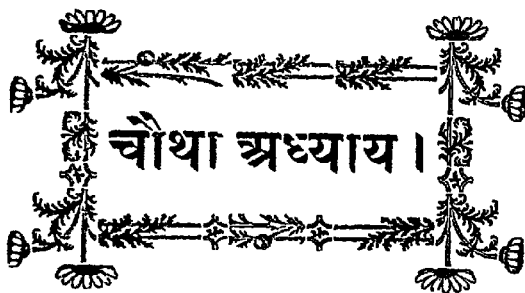
श्रीभगवानुवाच।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

भगवान् ने कहा—

श्रीकृष्ण बोलेः—यह कर्मयोग पहले मैंने सूर्य से कहा था; सूर्य ने मनु से कहा; मनु ने इक्ष्वाकु से कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ २॥

यह कर्मयोग इसी तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आया। इसे राजर्षि जानते थे। हे परन्तप! वही कर्मयोग, बहुत समय बीत जाने पर, संसारसे नष्ट हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

वही पुराना योग आज मैंने तुझ से कहा है; क्योंकि तू मेरा भक्त और मित्र है। यह बड़ा भारी रहस्य है।

इन तीनों श्लोकों में श्रीकृष्ण यह कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू यह मत समझना, कि यह योग मैंने तेरे उत्साह बढ़ाने या तुझे

युद्ध में लगाने के लिये आजही कहा है। यह योग बहुत प्राचीन काल से चला आता है। मैंने इसे, पहले कल्प के आदि में, सूर्य्य-वंश के मूल-पुरुष सूर्य्य से कहा था। सूर्य्य ने अपने बेटे मनु को सिखाया और मनुने इसे अपने पुत्र इच्वाकु को बताया। इसी तरह यह योग एक से दूसरे ने और दूसरेसे तीसरेने सीखा। अब, बहुत काल बीत जाने से, उसे संसार में जाननेवाला कोई न रहा, उसी पुराने योग को मैंने आज तुझ से कहा और तुझ से इसलिये कहा, कि तू मेरा प्रेमी और मित्र है।

अर्जुन उवाच।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा :—

हे कृष्ण! सूर्य का जन्म पहले हुआ था और आपका जन्म अब हुआ है; कहिये, मैं किस तरह समझूँ कि, आपने यह कर्मयोग शुरू में सूर्य से कहा था?

श्रीभगवानुवाच।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

भगवान् ने कहा—

हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। मैं उन सब जन्मों की बातें जानता हूँ, लेकिन तू नहीं जानता।

इन दोनों श्लोकों का खुलासा मतलब यह है, कि जब श्रीकृष्ण ने कहा कि, मैंने यह कर्मयोग आदिकाल में सूर्य्यसे कहा था, तब अर्जुन के मनमें सन्देह हुआ कि, कृष्ण ने तो इस समय में जन्म लिया है और सूर्य्यको जन्म लिये तो लाखों वर्ष बीत गये, यह किस तरह सम्भव है कि, आजके कृष्णने लाखों वर्ष पहले जन्म लेने

वाले सूर्य को कर्मयोग का उपदेश दिया हो ? अर्जुन की समझ में यह बात असम्भवसी जान पड़ी ; अतः उसने कृष्ण से अपना शक दूर करने के लिये प्रश्न किया। उसका सन्देह दूर करने के लिये भगवान् ने कहा 'कि, हे अर्जुन ! मैंने और तैंने अनेक वार जन्म लिये और देह छोड़ीं। मेरी ज्ञान-शक्ति सदा बनी रहती है ; इसलिये मुझे अपने जन्मों की बात याद है, किन्तु तेरी ज्ञान-शक्ति मेरी तरह अखण्ड नहीं है ; तुझ पर अज्ञान का परदा पड़ा हुआ है; इससे तू अपने जन्मों की बात भूल गया है।

श्रीकृष्ण के उपरोक्त वचनों से दो बातें सिद्ध होती हैं:—(१) यह कि' जीव अविनाशी है और वह बारम्बार चोला बदलता है ; पुराना चोला छोड़ कर जब नये में जाता है, तब पुराने चोले की बात भूल जाता है। भूल जाने का कारण यह है, कि, जीवात्मा के ऊपर अज्ञान अथवा अविद्या का परदा पड़ा रहता है ; इससे उसे अपने पहले जन्म की बात याद नहीं रहती ; (२) भगवान् भी अनेक बार जन्म या अवतार लेते हैं।

अब यहाँ सवाल पैदा होता है कि, भगवान् तो अजन्मे या जन्म-मरण से रहित और अविनाशी हैं। उनका जन्म बारम्बार कैसे हो सकता है और उन्हें जन्म लेने की क्या ज़रूरत है ? इन शङ्काओंका उत्तर श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं आगेके श्लोकों से देते हैं:—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, अविनाशी हूँ और सब प्राणियों का स्वामी हूँ; तथापि मैं प्रकृति का सहारा लेकर, जो मेरी ही है, अपनी ही माया—शक्ति—से जन्म लेता हूँ।

खुलासा यह है कि, मैं जन्मरहित और अविनाशी-स्वभाव हूँ तथा कर्म के अधीन नहीं हूँ। मैं सबका ईश्वर हूँ ; तथापि लोक-

रक्षा के लिये अपनीही सात्त्विकी प्रकृति का आश्रय लेकर, अपनी-ही इच्छा से, अवतार लेता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७॥

हे भारत! जब-जब धर्म की घटती होती है और अधर्म की बढ़ती होती है; तब-तब मैं जन्म लेता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८॥

सज्जन लोगों के बचाने, दुष्ट लोगों के नाश करने और धर्म को क़ायम रखने के लिये, मैं युग-युग में जन्म लेता हूँ।

खुलासा यह है, कि जो लोग अपने धर्म पर चलते हैं, उनकी रक्षा करने के लिये और जो अपना धर्म छोड़ कर अधर्म के मार्ग पर चलते हैं, उनके मार डालने के लिये तथा बढ़े हुए अधर्म का नाश करके, फिर से प्रजा को धर्म-मार्ग पर चलाने के लिये मैं जन्म लेता हूँ। मैं सब सृष्टि का पिता हूँ। पिता का काम है कि, अपनी सन्तान को कुराह से हटाकर सुराह पर लावे और जो उसके सन्मार्ग पर न चले उसे दण्ड दे। यों तो मैं अपनी सारी सृष्टि—अपनी बुरी-भली सन्तानोंको एकही नज़र से देखता हूँ; परन्तु कुराह पर चलानेवालों को सुराह पर न लाना, उन्हें खड्डे में पड़ने देना, एक नज़र से देखना नहीं है। मेरी किसी से शत्रुता और किसीसे मित्रता नहीं है; तथापि पिता की भाँति भलों की रक्षा करना और दुष्टों को दण्ड आदि देकर सुराह पर लाना मेरा काम है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९॥

हे अर्जुन! जो मेरे अलौकिक जन्म और कर्म के तत्त्व को

जानता है वह, देह छोड़ने पर, फिर जन्म नहीं लेता और मुझमें ही मिल जाता है।

खुलासा यह है, कि जो शख्स मेरे ईश्वरीय जन्म के तत्त्व को जानता है, उसको शरीर का अभिमान नहीं रहता; इसीसे वह फिर जन्म-मरण के झगड़े से छूटकर मोक्ष पा जाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

प्रीति, भय और क्रोध को छोड़कर; मुझमें ही सब तरहसे मन लगाकर; मेरे ही आश्रय रहकर और ज्ञानरूपी तप से शुद्ध होकर, अनेक लोग मुझ में मिल गये हैं।

इसका खुलासा यह है, कि जो मनुष्य किसी में मोह नहीं रखता, किसी से भय नहीं रखता, किसी पर गुस्सा नहीं होता, साथही मुझमेंही मग्न रहता है, सब जगह और सब प्राणियों में मुझेही देखता है, हर तरह मेरेही आश्रय और भरोसे पर रहता है तथा ज्ञान-रूपी तप से पवित्र हो जाता है, वह मुझमेंही मिल जाता है; यानी उसे फिर जन्म-मरण के झञ्झट में नहीं पड़ना होता।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

मुझे जो लोग जिस तरह भजते हैं, मैं उनको उसी तरह फल देता हूँ। मनुष्य कोईसा मार्ग क्यों न पकड़ें, सब मेरे ही मार्ग हैं।

अगर कोई शख्स शङ्का करे, कि भगवान् क्यों अपने आश्रय रहनेवालोंको ही अपने रूप में मिलाते हैं; दूसरों को क्यों नहीं मिलाते। इसीके लिये भगवान् ने कह दिया है कि, मनुष्य चाहे मुझे इच्छा रखकर भजे और चाहे इच्छा त्यागकर, मैं दोनों तरह-से फल देता हूँ। जो मुझे सकाम यानी मन में इच्छा रख कर

भजते हैं, उन्हें धन, पुत्र आदि फल देता हूँ और जो मुझे निष्काम हो कर; यानी किसी भाँतिकी फलेच्छा न रखकर भजते हैं, उन्हें मैं अपने स्वरूपमें मिला लेता हूँ । उनको जन्म-मरणके झगड़े से छुड़ा देता हूँ। सकाम—इच्छा रखकर—भजनेवालोंकी बनिस्बत निष्काम—इच्छा न रखकर—भजनेवाले श्रेष्ठ हैं ; अतः उन्हें परमपद देता हूँ ; लेकिन सकाम—फलाभिलाषा रखकर—भजनेवाले अपने भजनका प्रतिफल चाहते हैं और उनका भजना निष्काम होकर भजनेवालों से नीचे दरजेका है ; अतः उन्हें उनका चाहा हुआ वैसाही फल देता हूँ । दूसरी बात यह है, कि मनुष्य मेरे पास टेढ़ी-सीधी चाहें जिस राहसे पहुँचनेका उद्योग करें, मैं उन्हें अवश्य मिलता हूँ ; क्योंकि सभी मनुष्य मेरीही राह पर चलते हैं ।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

इस दुनिया में, जो लोग कर्मों की सिद्धि चाहते हैं, वे देवताओं की पूजा किया करते हैं ; क्योंकि इस मनुष्य-लोक में कर्मों की सिद्धि जल्दी होती है ।

यहाँ एक शङ्का पैदा होती है, कि जो "मोक्ष" परमपद है, सबसे ऊँचा स्थान है, सभी लोग उस जन्म-मरण के फन्दे से छुटानेवाली "मोक्ष" के लिए, परमेश्वरकीही पूजा-आराधना क्यों नहीं करते ? देवताओंकी पूजा की क्या ज़रूरत है ?

संसारमें दो तरह के आदमी हैं:—(१) सकाम ; (२) निष्काम । जो फलकी चाहना रखते हैं, उन्हें "सकाम" कहते हैं ; और जो फलों की चाहना नहीं रखते, उन्हें "निष्काम" कहते हैं । अपनी पूजा का फल चाहनेवालोंकी संख्या अधिक है और किसी तरहका फल न चाहनेवालोंकी संख्या बहुत ही कम है । देवताओं के सन्तुष्ट करनेसे स्त्री, पुत्र और धन आदि सांसारिक अनित्य—हमेशा न रहनेवाले—पदार्थ जल्दीही मिल जाते हैं ; किन्तु साक्षात् पूर्ण

ब्रह्म शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मा की पूजा करने से जो ज्ञान का उदय होता है, उस ज्ञान का फल "मोक्ष" बड़ी कठिनतासे और देर में मिलता है। दूसरे; साधारण विद्या-बुद्धिके मनुष्योंका मन ज्ञानमें कम लगता है; क्योंकि ब्रह्मज्ञानके लिये बहुतसी विद्या, बुद्धि और विचार-शक्तिकी ज़रूरत है। इसीलिये साधारण बुद्धिके लोग, हाथों-हाथ फल पानेकी इच्छा से, परमात्माकी आराधना छोड़ कर, इन्द्र, अग्नि और सूर्य आदि देवताओंकी आराधना किया करते हैं। ऐसे, फलोंकी इच्छा रखनेवाले, लोग साकार देवताओंकी पूजा करके, अनित्य—हमेशा न रहनेवाले—स्त्री-पुत्र और धन वग़ैरः की चाहना रखते हैं और उन्हें वह शीघ्रही मिल भी जाते हैं; इसीलिये वे ब्रह्मज्ञान को, जिससे नित्य—हमेशा रहनेवाला—परमपद मिलता है, अच्छा नहीं समझते। एक बात और भी है, कि "मोक्ष" चाहनेवालोंको स्त्री, पुत्र, धन आदिको छोड़कर वैराग्य लेना पड़ता है; किन्तु देवताओंको भज कर, स्त्री-पुत्र आदिकी अभिलाषा रखनेवालोंको इनके छोड़नेकी आवश्यकता नहीं होती। वास्तवमें, मोक्षही सबसे ऊँचा और सबसे श्रेष्ठ फल है; किन्तु उसके पानेका मार्ग कठिन है। जो तुच्छ सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा रखते हैं, उन्हें वेही तुच्छ पदार्थ मिलते हैं; किन्तु जो कुछ भी अभिलाषा न रखकर, परमात्मामें ध्यान लगाते हैं, उन्हें "मोक्ष" मिलती है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ १३॥

हे अर्जुन! मैंने, "गुण और कर्मों के विभाग के अनुसार" चार वर्ण पैदा किये हैं; यद्यपि मैं उनका कर्ता हूँ, तथापि मुझे अकर्ता और अविनाशी समझ।

कथा यह कहते हैं, कि मैंने जिस जीवमें जैसा गुण देखा, उसके उसी गुणके अनुसार उसके कर्म नियत कर दिये और उसका वैसा-

ही नाम रख दिया। मैंने जिस जीवमें सतोगुणकी प्रधानता देखी, उसके शम-दम आदि कर्म नियत कर दिये और उसका नाम "ब्राह्मण" रख दिया; जिसमें सत्वगुण अप्रधान; यानी गौणरूपसे और रजोगुण प्रधानरूपसे देखा, उसके प्रजापालन, पृथ्वी-रक्षा, युद्ध करना आदि कर्म मुक़र्रर कर दिये और उसका नाम "क्षत्रिय" रख दिया। जिसमें रजोगुण गौणरूपसे और तमोगुण प्रधान रूपसे देखा, उसके खेती, पशुपालन, वाणिज्य-व्यापार आदि कर्म नियत कर दिये और उसका नाम "वैश्य" रख दिया। जिसमें केवल तमोगुण की प्रधानता देखी, उसके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णों की सेवा करनेका काम नियत किया और उसका नाम "शूद्र" रक्खा।

अगर कोई शङ्का करे, कि भगवान्‌ने चार वर्ण चार तरह के बनाकर पक्षपात किया; किसी को ऊँचा बनाया और किसी को नीचा; किसी को निष्काम और किसी को सकाम बनाया। अगर भगवान् को पक्षपात नहीं था, अगर उनकी नज़रमें सबही समान थे, तो उन्होंने चार वर्ण चार तरहके क्यों बनाये? सबको समान न बनानेका दोष भगवान् परही है। मनुष्योंके सकाम और निष्काम होनेका कारण भगवान् ही हैं। भगवान् इस शङ्का के निवारण करनेके लिये, यह काफ़ी जवाब ऊपर दे चुके हैं, कि मैंने जिसमें जैसा गुण देखा उसके वैसेही कर्म मुक़र्रर किये। यद्यपि मैं चार वर्ण करनेवाला हूँ; तथापि मैं कुछ भी कर्म करनेवाला नहीं हूँ; क्योंकि मैं अविनाशी हूँ; मुझमें किसी तरह का विकार नहीं होता। मैं सब-कुछ करके भी "अकर्त्ता" और निर्विकार हूँ।"

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

न तो कर्म ही मुझ पर असर करते हैं और न मुझे कर्म-फल

की इच्छा ही होती है । जो मुझे इस तरह समझता है, वह कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता ।

सभी जानते हैं, कि ईश्वर अकर्त्ता—निर्व्विकार—है ; अर्थात् ईश्वर कुछ नहीं करता । ईश्वर पूर्णकाम है ; उसे कर्म-फलकी इच्छा नहीं होती ; लेकिन खाली ईश्वरको अकर्त्ता, कर्मोंमें लिप्त न होनेवाला और कर्मफल न चाहनेवाला, समझने से मनुष्यको मोक्ष नहीं मिल सकती । मनुष्यको मोक्ष उसी हालतमें मिल सकती है, जब वह स्वयं अपने आत्माको "अकर्त्ता" और "निर्व्विकार" समझे । इसका खुलासा यह है, कि जो शख्स यह समझता है, कि, मुझे कर्म नहीं बाँधते, मैं कुछ नहीं करता, मुझे कर्मोंके फल की अभिलाषा नहीं है, वह शख्स कर्म-बन्धन में नहीं फँसता ; उसको जन्म-मरण का झञ्झट नहीं भोगना पड़ता ; यानी उसकी मोक्ष हो जाती है ।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ! ऐसा समझ कर ही, पहले मोक्ष चाहनेवालों ने कर्म किये ; इसवास्ते तुम भी पूर्व पुरुषों की तरह कर्म करो ।

द्वापर में राजा ययाति और यदु आदि हुए । वे सब मोक्ष की इच्छा रखते थे । त्रेतामें जनक आदि राजा हुए, वे भी मोक्ष की अभिलाषा रखते थे । उनसे पहले, सतयुगमें, जो राजा हुए वे भी मोक्ष लाभ करना चाहते थे । उन सबने संन्यास नहीं लिया ; यानी कर्म नहीं छोड़े ; तो भी मोक्ष पागये । इसका कारण यह है, कि पूर्व्वोक्त राजा लोग अपने वर्णाश्रम धर्मके सब कर्म तो करते थे, किन्तु वे अपने लिये उन किये हुए कर्मोंका करनेवाला और भोगनेवाला नहीं समझते थे । जो मनुष्य कर्म करके भी अपने तईं कर्मोंका करनेवाला और उनका भोगनेवाला नहीं समझता,

वह कर्मोंके बन्धनमें नहीं बँधता ; इसीलिये पूर्व्वोक्त राजा कर्म-बन्धन में न फँसे और परमपद पागये । कर्म किये बिना, अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती । उन पूर्व्वोक्त राजाओंने अन्तःकरण शुद्ध करने के लिये या दुनिया की भलाईके लिये काम किया । हे अर्जुन ! उनकी ओर देखकर तुम भी कर्म करो । अगर तुमको ब्रह्मज्ञान हो गया है, तो दुनियाकी भलाई के लिये कर्म करो । यदि ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है, तो अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करो । हे अर्जुन ! मेरे कहनेका सारांश यह है, कि तुम पहले मोक्ष चाहनेवालों को देखकर, कर्म अवश्य करो ; यदि तुम अपने को "कर्त्ता और भोक्ता" न समझोगे ; तो कर्म करने पर भी तुम्हारी मोक्ष हो जायगी ।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

क्या कर्म है और क्या अकर्म है; यानी कौनसा काम करना चाहिये और कौनसा न करना चाहिये ; इस विषय में बुद्धिमानों की बुद्धि भी चक्कर खाने लगती है, इसवास्ते मैं तुझसे उस कर्म को कहता हूँ, जिसके जानने से तू दुःख से छूट जायगा ।

क्या कर्म और क्या अकर्म है,—इसका जानना, वास्तव में कठिन है । कितने लोग कहते हैं, कि जिस काम के करने की आज्ञा वेद और धर्म-शास्त्रमें है वही 'कर्म' है और जिसकी आज्ञा उनमें नहीं है, वह 'अकर्म' है । बहुत से यह कहते हैं, कि धर्मशास्त्रोंमें जिस काम के करने की आज्ञा है, वह 'कर्म' है और शास्त्रोंमें लिखे हुए कर्मों के छोड़ देने को 'अकर्म' कहते हैं । कोई-कोई कहते हैं, कि शरीर और इन्द्रियों का जो व्यापार है ; यानी शरीर और इन्द्रियाँ जो कुछ करती हैं, उसी को 'कर्म' कहते हैं । इन्द्रियों का सब व्यापार बन्द करके; चुपचाप बैठ जाने को

'अकर्म' कहते हैं। मतलब यह है, कि कर्म और अकर्मके विषय में बड़े-बड़े पण्डित और ज्ञानियोंमें भी मतभेद है; क्योंकि कर्म और अकर्म का जान लेना कठिन है। आगे, श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं अर्जुनको कर्म और अकर्मका खुलासा भेद समझाते हैं :—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

कर्म को जानना, विकर्म को जानना और अकर्म को जानना ज़रूरी है; क्योंकि कर्म-मार्ग बड़ कठिन है।

मतलब यह है, कि शास्त्रमें जिस कामके करनेकी आज्ञा है, उसे 'कर्म' कहते हैं; लेकिन उसका जानना भी ज़रूरी है; क्योंकि बिना जाने मनुष्य शास्त्रानुसार कर्म कर नहीं सकता। धर्मशास्त्र में, जिस कामके करनेकी मनाही है उसे 'विकर्म' कहते हैं; लेकिन उसका भी जानना आवश्यक है; क्योंकि बिना जाने मनुष्य न करने योग्य कर्मोंको किस तरह छोड़ेगा? तत्त्वज्ञान हो जाने पर, सब इन्द्रियोंके व्यापारको बन्द करके, चुपचाप बैठ जाने को 'अकर्म' कहते हैं। अकर्म को भी अच्छी तरह जानना ज़रूरी है। सारांश यह कि कर्म, विकर्म और अकर्म,—ये तीन भाँतिके कर्म हुए। इन तीनोंका असली मतलब जानना कठिन है; इसलिये भगवान् आगे तीनों तरहके कर्मोंका असल भेद समझाते हैं।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत॥ १८॥

जो कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है; वह सब कार्य करता हुआ भी युक्त योगी है।

पहिले लिख आये हैं, कि प्रकृति के सत्व, रज और तमोगुणके कारण, इन्द्रियाँ अपना अपना कर्म करतीही रहती हैं; इन्द्रियोंके कर्मोंको कोई रोक नहीं सकता; इन्द्रियों का काम चलताही

रहता है। जो मनुष्य इन्द्रियोंके कामको आत्माका काम नहीं समझता ; यानी इन्द्रियोंके कामको इन्द्रियोंकाही समझता है ; अथवा यों समझाता है कि, ये कर्म जो इन्द्रियाँ कर रही हैं, इनका करनेवाला आत्मा नहीं है, वही कर्ममें अकर्म देखनेवाला है—यह पहिली अवस्थाकी बात है। सिद्धान्त यह है, कि आत्मा कुछ नहीं करता। यही बात दूसरे अध्यायके २० वें और २४ वें श्लोकमें समझा दी गयी है और आगे फिर भी समझाई जायगी। मनका स्वभाव पड़ गया है, कि वह कुछ कर्म न करनेवाले आत्माको भी काम करता हुआ समझता है : लेकिन काम करना आत्माके स्वभाव के विरुद्ध है ; यानी आत्माका स्वभावही कर्म करनेका नहीं है। कामका सम्बन्ध देहसे है, लेकिन मनुष्य आत्माको वृथा कर्ममें लपेटता और समझाता है, "मैं अमुक कामका करनेवाला हूँ, वह मेरा किया हुआ काम है, उस कर्मका फल मुझे मिलेगा।" इसी तरह जब मनुष्य को ज्ञान हो जाता है और वह कर्म करना छोड़ देता है; तब कहता है, कि "मैंने (आत्माने) अब कर्म छोड़ दिया है, मैं आजकल कुछ नहीं करता, मैं शान्त और सुखी हूँ, अथवा यों कहता है, कि अब मैं कुछ भी काम न करूँगा ; ताकि मुझे बिना दिक्कत और काम करनेके सुख मिले।" लेकिन ऐसी बात कहने या मनमें विचारनेवालेका यह झूठा ख़याल है। वास्तवमें, आत्माने न तो कर्म करना छोड़ाही और न वह सुखही भोगेगा। अगर कर्मों का त्याग किया है, तो देह और इन्द्रियोंने किया है। आत्मा न तो पहिले कर्म करताही था और न अब उसने कर्म छोड़ेही हैं। देह और इन्द्रियाँ ही काम करती थीं और अब कुछ ज्ञान हो जानेसे उन्होंने ही कर्म करना छोड़ा है। जिस तरह मनुष्य काम करनेका दोष आत्मा पर वृथा ही लगाता है ; उसी तरह काम बन्द करनेका दोष भी आत्मा पर वृथाही लगाता है। मतलब यह है, कि न तो आत्मा कभी कर्म करता ही है और

न कभी कर्म छोड़ताही है। देह और इन्द्रियाँही काम करती हैं और कुछ ज्ञान होने पर वेही कर्म छोड़ती हैं। काम करते हुए, आत्माको कामोंका कर्त्ता न समझनाही "कर्ममें अकर्म" देखना है। काम छोड़ देनेकी हालतमें, आत्माको कर्म त्याग करनेवाला न समझनाही "अकर्म में कर्म" देखना है।

यों तो कर्म सभीके लिये कर्म है। कर्ममें अकर्म और अकर्म में कर्म कौन देख सकता है? कर्म्म कभी अकर्म्म नहीं हो सकता और न अकर्म्मही कर्म्म हो सकता है। कर्म्म सदा कर्म्मही है, वह किसी को भी और तरह नहीं दीख सकता, ऐसे विचार मनमें उठते हैं; किन्तु मनुष्यको बहुतही जल्दी भ्रम होता है, उसे और का और दीखने लगता है। जहाज़में सवार मनुष्य, चलते हुए जहाज़ या नाव से, किनारेके वृक्षोंको चलते हुए देखता है; किन्तु वास्तवमें, यह उसकी भ्रान्ति और भूल है; चलता जहाज़ है और समझता है वृक्षोंको। इसी तरह मनुष्यकी देह और इन्द्रियाँ तो काम करती हैं; किन्तु वह भूलसे अपने आत्माको काम करता हुआ समझता है। मनुष्यकी नज़रमें बहुत दूर के मनुष्य या जीव-जन्तु चलते हुए भी, ठहरे हुए दिखाई देते हैं। यह भी उसकी भूल और भ्रान्ति है, कि वह दूर होनेके कारण, नज़र न पहुँच सकनेके कारण, चलते हुए जीवोंको ठहरे हुए समझता है। इसी भाँति वह अकर्म्मको कर्म्म और कर्म्मको अकर्म्म समझता है। इसी झूँठे खयालके दूर करनेके लियेही, कृष्ण भगवान् कहते हैं :—"जो कर्म्ममें अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है इत्यादि।"

हमारी समझमें, हमारे पाठक इस श्लोकके भीतरी आशयको भली भाँति समझ गये होंगे। दूसरे एक भारी विद्वान्ने लिखा है, कि जो वर्णाश्रम धर्म्मका पालन करता हुआ; यानी अपने वर्णके अनु-सार काम करता हुआ, यह समझता है कि, मैं कुछ नहीं करता, मैं

स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं हूँ, परमेश्वरही स्वतन्त्र कर्त्ता है, मेरे तमाम कर्म उसी (ईश्वर) के अधीन हैं, वह कर्म में अकर्म देखनेवाला है। जो मनुष्य निद्रा अवस्था में या बिल्कुल कर्म्म छोड़ देनेकी हालतमें भी, ऐसा विचारता है, कि ईश्वर का काम बराबर—लगातार—चलताही रहता है, वह अकर्म्ममें कर्म्म देखता है। मनुष्य जागता हुआ तो ईश्वरके काम और सृष्टि को देखताही है ; किन्तु सोता हुआ, स्वप्नावस्थामें भी, हाथी घोड़े आदि अनेक प्रकार की चीज़ें देखता है। इससे साफ़ मालूम होता है, कि ईश्वरका काम हमेशा चलता रहता है, ईश्वरका काम किसी पर निर्भर नहीं है ; किन्तु जीव ईश्वरके आश्रय से काम करता है ; अतः मनुष्यको अपने वर्णके अनुसार काम करनेही उचित हैं।

मनुष्यको किसी हालत में भी अहङ्कार न रखना चाहिये। शरीर और इन्द्रियोंके काम करने पर, आत्मा को काम करता हुआ समझना और देह एवं इन्द्रियोंके कर्म्म त्याग देने पर, यह समझना कि मैंने कर्म्म त्याग दिये, मुझे सुख-शान्ति मिलेगी, यह भी आत्मा पर वृथा दोष लगाना है। यह अहङ्कार ठीक नहीं है। किसी हालतमें भी, आत्मा को कर्त्ता न समझनाही बुद्धिमानी है।

गीताके पढ़नेवाले मनमें खयाल करेंगे, कि कृष्णने तो साफ़ही कहा है, कि जो कर्म्म में अकर्म्म देखता है और अकर्म्ममें कर्म्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् और युक्त योगी है ; फिर उस बातको इतना तूल देकर समझाने और वृथा काग़ज़ काला करनेकी क्या ज़रूरत थी ?

पाठकोंको समझना चाहिये, कि इस श्लोकका आशय समझना और समझाना बड़ा कठिन है और इस श्लोकके भीतर सभी सार तत्त्व आ गया है। कर्म्मका भेद जानना कठिन है, तभी भगवान् बारम्बार इसी विषय को उलट-पुलट कर समझाते हैं और आगे भी समझावेंगे। इस श्लोक पर, कई पुराने साँचे के ढले हुए पण्डितों

ने आठ-आठ पृष्ठ काले किये हैं, पर वे समझाने और लिखनेका ढंग न जाननेके कारण अपने काममें कृतकार्य्य नहीं हुए हैं। हाँ, यह कह सकते हैं, कि उनको आपको समझमें इस श्लोकका असल तत्व आगया होगा; परन्तु वे दूसरोंको न समझा सके। इस विषय को एक देशी विद्वान् ने, जिनका नाम महादेव शास्त्री एम० ए० है, अपनी अँगरेज़ी पुस्तकमें बहुत अच्छी तरह लिखा है। मेरे लिये उन्हीं की रची हुई पुस्तकसे इस गूढ़ तत्वके समझनेमें आसानी हुई है।

पण्डित कौन है?

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥

जिसके काम इच्छा और संकल्प बिना आरम्भ होते हैं और जिसके काम ज्ञान-रूपी अग्नि से भस्म हो गये हैं, उसी को विद्वान् लोग "पण्डित" कहते हैं।

जिस मनुष्यके कर्मोंसे इच्छा और सङ्कल्पका सम्बन्ध नहीं है, जो बिना इच्छा और सङ्कल्प के काम करता है, जिसके कर्म ज्ञान-रूपी अग्निसे नाश हो गये हैं, जो पहिले कहे हुए कर्म्म और अकर्म्म के तत्व को समझ गया है, उसे ब्रह्मज्ञानी विद्वान् लोग "पण्डित" कहते हैं।

ज्ञानी आदमी, किसी कामके शुरू करनेके पहले, किसी तरह का सङ्कल्प नहीं करता और न उस कामसे किसी प्रकार का फल भोगनेकी इच्छा करता है। ज्ञानी जो कर्म्म करता है, वह स्वाभाविक तौर से या तो दुनिया की भलाई के लिये करता है या खाली अपनी देह क़ायम रखनेके लिये करता है। वह किये हुए कामों को आत्माके काम नहीं समझता और छोड़े हुए कामों से भी आत्मा का सम्बन्ध नहीं समझता। ऐसा मनुष्य सचमुच "पण्डित" है।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

जो कर्म-फलों की इच्छा नहीं रखता, सदा सन्तुष्ट रहता है, किसी के आश्रय नहीं रहता,—वह चाहे कामों में भी लगा रहे; तथापि वह कुछ भी कर्म नहीं करता है।

जिसने कर्मों से सब तरह का सम्बन्ध छोड़ दिया है, जो देह और इन्द्रियोंके कर्मों को आत्मा के कर्म नहीं समझता, जिसने कर्मों के फलों की इच्छा त्याग दी है, जो हमेशा सन्तुष्ट रहता है, जिसे इन्द्रियों के विषयों के भोगने की इच्छा नहीं है, जिसे इस जन्म या अगले जन्मके लिये किसी तरह की अभिलाषा नहीं है, जिसे अपने आत्मामेंही आनन्द मालूम होता है, जो आत्माके सिवाय और किसीका आश्रय नहीं पकड़ता, जो संसारकी भलाई या देहके क़ायम रखने के लियेही काम करता है,—वह काम करता हुआ भी बिल्कुल काम नहीं करता : क्योंकि उसे ज्ञान है, कि आत्मा कुछ नहीं करता। संसार में, बिना कर्म किये, देहको क़ायम रखना भी असम्भव है और सब कर्मों को त्याग देना भी असम्भव है; अतः उपरोक्त विधिसे काम करना, काम न करनेकेही समान है। इस तरह काम करनेवाला सच्चा संन्यासी है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

जो किसी प्रकार की आशा नहीं रखता, जिसने अन्तःकरण और शरीर को वश में कर लिया है, जिसने सब तरह के परिग्रह—विषय भोगने के साधन--धन वग़ैरः—छोड़ दिये हैं, वह मनुष्य शरीर के निर्वाह के लिये कर्म करता हुआ पाप का भागी नहीं होता।

जिसे इस लोक और परलोकके किसी पदार्थकी इच्छा नहीं है, जिसे संगी वग़ैरः भी दरकार नहीं हैं, जिसने तृष्णा को बिल्कुल ही

त्याग दिया है ; जिसने मन और इन्द्रियों को अपने अधीन कर लिया है, जिसने विषय-भोगों के साधन धन-दौलत, महल-मकान, ज़मीन-जायदाद, स्त्री-पुत्र आदि को छोड़ दिया है ; अगर वह मनुष्य केवल शरीर क़ायम रखनेके लिये कर्म करे ; तो कर सकता है ; ऐसे मनुष्य को शरीर-निर्वाह मात्रके कर्म करने से पाप नहीं लगता। क्योंकि अगर मनुष्य रूखा-सूखा अन्न न खायगा, फटे-पुराने कपड़ोंसे शरीर न ढकेगा, तो उसकी काया काम न देगी, उसकी विचार-शक्ति घट जायगी या नष्ट हो जायगी ; अतः ब्रह्म-विचार में विघ्न न होने देनेके लिये, शरीर को क़ायम रखना ज़रूरी है। शरीर क़ायम रखने के लिये, शीतकाल में मोटा-झोटा कपड़ा पहनना और नित्य थोड़ा बहुत रूखा-सूखा अन्न खाना भी ज़रूरी है। इस लिये भगवान् आज्ञा देते हैं, कि सब विषय-भोगों की सामग्री छोड़ कर, शरीर-निर्वाह के लिये ज़रूरी-ज़रूरी काम करने में हर्ज नहीं है।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ २२ ॥

बिना कोशिश के मिली हुई चीज़ पर सन्तोष कर लेने वाला, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, गर्मी-सर्दी, मान-अपमान को समान समझने वाला; किसी से ईर्षा-द्वेष न रखने वाला, कार्य की सिद्धि और असिद्धि में समान रहने वाला मनुष्य, काम करता हुआ भी, कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता ।

वह मनुष्य जो दैव-योग से मिली हुई, बिना माँगी या बिना उद्योग के मिली हुई, चीज़से राज़ी रहता है; जिस पर गर्मी-सर्दी, मान-अपमान, सुख-दुःख, खुशी और रञ्ज वग़ैरः द्वन्द्वोंका असर नहीं पड़ता ; यानी जिसे गर्मी सरदी आदि द्वन्द्व दुखी नहीं करते ; जो किसी से वैर-भाव या ईर्षाद्वेष नहीं रखता ; जो कामके सिद्ध हो

जाने और सिद्ध न होने में एकसा रहता है, जो शरीर-रक्षार्थ भोजन मिलने पर सुखी नहीं होता और न मिलने पर दुखी नहीं होता; जो कर्म में अकर्म और अकर्ममें कर्मको देखता है; जो आत्माको कर्त्ता नहीं समझता; जो यह समझता है कि आत्मा कुछ नहीं करता, आत्मा शरीरके निर्व्वाह के लिये भिक्षा भी नहीं माँगता,—वह शरीर-निर्व्वाहके लिये भिक्षादि कर्म्म करता हुआ भी बिल्कुल कर्म्म नहीं करता; इसीसे वह कर्म्म-पाशमें नहीं फँसता।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

जिस मनुष्य की आसक्ति दूर हो गई है, जो बन्धन के कारण धर्म-अधर्म से छुटकारा पा गया है, जिसका चित्त ब्रह्मज्ञान में लगा हुआ है, जो यज्ञ—परमेश्वर—के लिये ही कर्म करता है, उसके सारे कर्म ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

जिसका स्त्री-पुत्र, धन-दौलत आदिमें प्रेम नहीं रहा है, जो धर्म-अधर्म के झगड़े से छूट गया है, जिसका चित्त हर समय ब्रह्मज्ञानमेंही लगा रहता है, जो नारायणके लिये अथवा यज्ञके लियेही कर्म करता है, उसके सारे कर्म ब्रह्म में लीन हो जाते हैं; यानी बिल्कुल नाश हो जाते हैं। धर्म्म-रक्षा अथवा यज्ञ के लिये किये हुए कर्म, ज्ञानी को बन्धन में नहीं जकड़ते।

ज्ञानयज्ञ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

जो यह समझता है, कि स्रुवा जिससे हवन किया जाता है ब्रह्म है, घी वगैरः हवन की सामग्री भी ब्रह्म है, जिस अग्नि में हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म है, हवन करने वाला भी ब्रह्म है और जिसके लिये हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म ही है तथा जो कर्म में सदा ब्रह्म को देखता है, वह अवश्य ब्रह्म को प्राप्त होगा।

जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है वह समझता है, कि स्रुवा, जिस से हवनकी सामग्री घी वग़ैरः अग्निमें डाला जाता है, ब्रह्म है ; यानी वह ब्रह्मसे उसी तरह जुदा नहीं है, जिस तरह सीपी चाँदीसे अलग नहीं है। भ्रान्तिसे सीपी चाँदीसी जान पड़ती है ; किन्तु वास्तव में वह सीपीही है। लोग जिस स्रुवे को अग्नि में हवन-सामग्री डालनेका यन्त्र समझते हैं, वह ब्रह्मज्ञानी की समझमें यन्त्र नहीं है, बल्कि ब्रह्म है। घी वग़ैरः हवनके पदार्थ भी ब्रह्मज्ञानी की समझमें ब्रह्म हैं। इसी तरह अग्नि जिसमें घी वग़ैरः हवन-पदार्थ डाले जाते हैं, ब्रह्मज्ञानी की समझमें ब्रह्मही हैं। हवन करनेवाला भी ब्रह्मज्ञानीकी समझमें ब्रह्म है। हवन करनेका काम भी ब्रह्मके सिवाय और कुछ नहीं है। जो मनुष्य इस काम में ब्रह्म को देखता है, उस काम का फल भी ब्रह्मके सिवाय और कुछ नहीं है।

अगर कोई यह शङ्का करे, कि कर्म्म-फल तो विना भोगे नाश नहीं होता ; यानी कर्म्म-फल तो भोगनाही पड़ता है ; उसे समझना चाहिये कि, जिसके ये क्रिया, कर्ता, कर्म्म, करण और अधिकरण सबही ब्रह्म हैं, जिसके लिये ऐसा ज्ञान है, उसके सारे कर्म्म ब्रह्ममेंही लय हो जाते हैं। ऐसे ज्ञानीको कर्म्म-फल नहीं भोगना पड़ता। अगर यह कहा जाय, कि कर्म्म-फल हैही ; तो वह फल सिवाय ब्रह्म-प्राप्ति के और कुछ नहीं है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

कितने ही कर्मयोगी देवताओं के लिये देवयज्ञ करते हैं ; कितने ही तत्वज्ञानी अग्नि में आत्मा को आत्मा द्वारा हवन करते हैं।

इस श्लोक से पहले, भगवान् ने ज्ञानयज्ञ कहा था और यहाँ भगवान् ने उस ज्ञान-यज्ञको, उपरोक्त देव-यज्ञके साथ ज्ञान-यज्ञकी प्रशंसा करने की ग़रज़से कहा है। ज्ञान-यज्ञकी महिमा बढ़ानेके

लिये तथा और यज्ञोंसे उसकी श्रेष्ठता दिखाने के लिये, भगवान् और ग्यारह यज्ञोंका ज़िक्र करते हैं। इन ग्यारह यज्ञोंसे (जिनमेंसे एक ऊपर कहा गया है और बाक़ी दश आगे कहेंगे) ज्ञान-यज्ञकी प्राप्ति होती है। ज्ञान-यज्ञही मुख्य यज्ञ है ; ज्ञान-यज्ञसेही मोक्ष होती है।

खुलासा यह है, कि ब्रह्म-ज्ञानी लोग ब्रह्मरूपी अग्निमें आत्माको ब्रह्मज्ञानके सहारेसे हवन करते हैं। यह तो ज्ञान-यज्ञकी बात हुई। कुछ लोग ऐसे हैं जो ज्ञान-यज्ञ नहीं करते ; किन्तु हमेशा देव-यज्ञ करते हैं; यानी इन्द्र, वरुण, रामचन्द्र आदि साकार देवताओं की उपासना करते हैं। जिस यज्ञमें साकार देवताओंकी उपासना की जाती है, उसे देव-यज्ञ कहते हैं। ज्ञानी और उपासकोंमें यही फ़र्क़ है, कि उपासक तो सब देवताओंको, असलमें मूर्त्तिमान् समझते हैं ; वे देवताओंको निराकार, निर्विकार, नहीं समझते ; किन्तु ज्ञानी लोग सब देवताओंको निराकार, निर्विकार समझते हैं और मूर्त्तियोंको कल्पित समझते हैं।

सारांश में भगवान् यह समझाते हैं, कि ऊपर बयान किये हुए दोनों यज्ञोंमें ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। ज्ञान-यज्ञ और देव-यज्ञका मुक़ाबला करके यह दिखाते हैं, कि जीव और ब्रह्ममें भेद नहीं है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

कितने ही योगी अपनी आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को संयम रूपी अग्नि में होम देते हैं और कितने ही इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों को इन्द्रियरूप अग्नि म होम देते हैं।

पहले भगवान् कृष्णचन्द्रने दो यज्ञ कहे थे। अब इस जगह और दो यज्ञ फिर कहे हैं। तीसरा यज्ञ उन्होंने इन्द्रियोंको संयम करना अर्थात् जीतना कहा है और चौथा शब्द, रस, रूप आदि इन्द्रियोंके विषयोंको इन्द्रियरूपी अग्निमें हवन करना कहा है।

खुलासा मतलब यह है, कि इन्द्रियोंको जीत लेना, उनको अपने विषयोंकी तरफ़ न झुकने देना,—तीसरा यज्ञ है और वेदोक्त विषयोंका भोगना अथवा शास्त्रमें जिन विषयोंके भोगनेकी मनाही नहीं है उनका भोगना,—चौथा यज्ञ कहा है। मतलब यह है, कि जो वेद या शास्त्रकी आज्ञानुसार चलते हैं, यानी नियमानुसार इन्द्रियोंके विषयोंको भोगते हैं, उनका ऐसा करना भी "यज्ञ" अथवा इन्द्रिय-दमनही है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

कितने ही योगी सारी इन्द्रियों के कर्मों और प्राण, अपान आदि वायुओं के कर्मों को, ज्ञानसे प्रज्वलित, आत्म-संयम योगाग्नि में हवन करते हैं।

इस स्थानमें यह पाँचवाँ यज्ञ कहा गया है। इसका खुलासा मतलब यह है, कि कुछ योगी ज्ञानेन्द्रियोंकी वृत्तियोंको रोक कर तथा कर्मेन्द्रियों और प्राण, अपान आदि दस वायुयोंको अपने-अपने कर्मोंसे रोक कर, आत्माके ध्यान में मशगूल हो जाते हैं। और भी साफ़ मतलब यह है, कि कुछ योगी संसार की विषयवासनाओंसे अपना मन हटाकर, केवल आत्म-स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। इसे यों भी कह सकते हैं, कि जब योगी सब जगह से अपना मन हटा कर, आत्म-स्वरूप ब्रह्ममें लीन हो जाता है; तब इन्द्रियों और प्राण, अपान आदिके कर्म एकदम नष्ट हो जाते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कितने ही धन से यज्ञ करते हैं; कितने ही तपस्या से यज्ञ करते हैं; कितने ही योग से यज्ञ करते हैं; कितने ही वेद-शास्त्रों के पढ़ने से यज्ञ करते हैं और कितने ही ज्ञान की प्राप्ति से यज्ञ करते हैं। वे यज्ञ करनेवाले बड़े दृढ़व्रती हैं।

इस जगह भगवान् ने, इस एकही श्लोकमें, पाँच यज्ञ कहे हैं। खुलासा मतलब यह है, कि कुछ लोग उनको धनदान करते हैं, जिनको कि उसकी आवश्यकता है; अर्थात् अपने धनसे दीन-दुखियों का दुःख दूर करते हैं। कुछ लोग चान्द्रायण व्रत आदि करते हैं अथवा मौन व्रत धारण करते हैं। कुछ लोग अष्टाङ्गयोगका साधन करते हैं; अर्थात् प्राणायाम और प्रत्याहार वग़ैरः करते हैं; यानी प्राण-वायु आदिको रोकते हैं और बाहरी चीज़ोंसे मनको हटा लेते हैं। कुछ लोग नियमानुसार वेद-पाठ करते हैं, और कुछ लोग शास्त्रोंके विचारमें निमग्न रहकर ज्ञान उपार्जन करते हैं। मतलब यह है, कि धन दान करना, तपस्या करना, योगसाधन करना, वेद पढ़ना और शास्त्र-विचारसे ज्ञान प्राप्त करना,—ये पाँचों भी यज्ञही हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २६ ॥

कितने ही प्राण को अपान में होमते हैं और अपान को प्राण में होमते हैं। प्राण और अपान की चाल रोककर प्राणायाम में तत्पर हो जाते हैं।

इस जगह यह ग्यारहवाँ यज्ञ कहा है। इसका खुलासा मतलब यह है, कि कितने ही योगी अपानमें प्राणवायुको मिलाते हैं; यानी पूरक* करते हैं और कितनेही प्राणवायुमें अपान वायुको होमते या मिलाते : यानी रेचक † करते हैं। इसी भाँति कुछ प्राण और अपान वायुको चाल को रोक कर, प्राणोंमें प्राणको होमते ; यानी कुम्भक प्राणायाम ‡ करते हैं।

इसीको ज़रा साफ़ करके यों भी कह सकते हैं, कुछ लोग तो अपानवायुमें प्राणवायुको मिलाकर पूरक करते हैं। कुछ प्राणवायुमें अपानवायुको मिलाकर रेचक करते हैं और कुछ लोग नाक और

---

*पूरक=अन्दर भरना। † रेचक=खाली करना। ‡ प्राणायाम=साँस रोकना।

मुखको बन्द कर, हवाके बाहरी रास्तों को रोक देते हैं और उधर सामनेसे हवाके अन्दरूनी रास्तोंको भी बन्द करके कुम्भक प्राणायाम करते हैं।

बहुतही साफ़ मतलब यह है, कि प्राणकी गति रोकनेसे मन फ़ौरनही रुकता है; यानी प्राणकी गतिके रुकनेके साथही मनकी गति रुक जाती है; इसीलिये सिद्ध योगी लोग प्राणायाम में तत्पर रहते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

कुछ नियमित आहार करके प्राणोंको प्राणोंमें होमते हैं; ये सब यज्ञके जाननेवाले हैं। इनके पाप यज्ञसे ही नाश हो जाते हैं।

यहाँ आधे श्लोकमें बारहवाँ यज्ञ कहा है और आधेमें यज्ञ करने वालोंके लिये यज्ञका फल कहा है।

इसका खुलासा मतलब यह है, कि कुछ लोग थोड़ासा खाकर प्राणोंमें प्राणोंको होमते हैं। थोड़ा भोजन करने; यानी कम खाने से प्राणकी गति कम हो जाती है और प्राणकी चाल कम होनेसे मन रुकता है। इसीसे रेचक, पूरक और कुम्भक करनेवाले अल्प भोजन करते हैं। जो लोग नाक तक ठूँस लेते हैं, जिनके पेटमें हवा जानेको भी जगह नहीं रहती, उनसे किसी प्रकारका प्राणा-याम हो नहीं सकता और प्राणायाम न हो सकनेसे मन भी नहीं रुक सकता। मनकी गति न रुकनेसे मनुष्य आत्मस्वरूप ब्रह्ममें लीन नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञानमें लवलीन होनेवालोंके लिये थोड़ा खानाही उचित है; क्योंकि अल्पभोजीही प्राणकी गतिको संकुचित अथवा कम कर सकेगा और प्राणकी गति रुकनेसे ही मन की चाल बन्द होगी।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

जो यज्ञ से बचे हुए अमृत रूपी अन्न का भोजन करते हैं, वे सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं। हे अर्जुन! जो यज्ञ नहीं करते उनको न तो यह लोक है न परलोक।

इसका खुलासा मतलब यह है, कि जो लोग पहले बयान किये हुए यज्ञ करते हैं। समय पर, पहले बयान की हुई रीति से भोजन करते हैं; यानी यज्ञके अन्तमें बची हुई अमृत-समान सामग्री खाते हैं, वे उचित समय पर यदि मोक्ष चाहते हैं तो ब्रह्म में पहुँच जाते हैं। लेकिन जो पहले कहे हुए यज्ञोंमें से किसी को भी नहीं करते, उनके लिये यह दुनिया भी नहीं है, तब दूसरी दुनिया की तो बातही क्या है जो केवल बड़े-बड़े कठिन कर्मोंसे मिलती है?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्राह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

वेदमें इस तरहके बहुतसे यज्ञों का वर्णन है, उन सबकी उत्पत्ति कर्मसे समझ। ऐसा समझनेसे तेरी मुक्ति हो जायगी।

इसका खुलासा मतलब यह है, कि भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—"हे अर्जुन! वेदमें बहुत तरहके यज्ञ कहे गये हैं। उन सब की पैदायश शरीर, मन और वाणीसे है। आत्मासे उनका कुछ भी सरोकार नहीं है; क्योंकि आत्मा कर्म-रहित हैं; यानी आत्मा कुछ कर्म नहीं करता। अगर तू यह समझेगा कि, "ये मेरे कर्म नहीं हैं, मैं कर्म-रहित हूँ, मेरा कर्मोंसे कुछ सरोकार नहीं है," तो इस श्रेष्ठ ज्ञानके बलसे, तू दुःखोंसे छुटकारा पाकर, संसार के बन्धनसे छूट जायगा।

सब यज्ञोंसे ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

हे अर्जुन! सब प्रकारके द्रव्य-यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। फल सहित सब कर्म ज्ञानमें ही शामिल हैं।

मतलब यह है, कि सब प्रकारके द्रव्यों द्वारा किये हुए यज्ञोंसे ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है ; क्योंकि सबका निचोड़ "ज्ञान" है। जो यज्ञ द्रव्य आदिसे किये जाते हैं, उनका फल भी वही है ; किन्तु ज्ञानका फल वह नहीं है। ज्ञानका फल मोक्ष है। अतएव ज्ञान यज्ञ सब से ऊँचा है और उसमें सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं ; यानी ब्रह्म-ज्ञानसेही दुःखरूपी कर्म नाश होते हैं और किसी उपाय से कर्मों की जड़ नाश नहीं हो सकती।

तत्वज्ञानकी प्राप्ति किनसे और किस तरह हो सकती है?

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन! जब तू तत्वज्ञानी लोगों के पास जाकर उनको प्रणाम करेगा, उनसे पूछेगा और उनकी सेवा करेगा ; तब वे लोग तुझे तत्वज्ञान सिखावेंगे।

मतलब यह है, कि जिन्हें सर्वश्रेष्ठ ज्ञान—ब्रह्मज्ञान—की शिक्षा लेनी हो, उन्हें पूर्ण तत्वज्ञानी पण्डित और विरक्त संन्यासियोंके पास जाना चाहिये। उनको सादर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम आदि करना चाहिये। उनकी तन-मन से सेवा करनी चाहिये। जब वह लोग सेवा-टहल और आदर-सत्कार से प्रसन्न हो जायँ, तब उनसे ऐसे-ऐसे प्रश्न करने चाहियें—बन्धनका कारण क्या है? बन्धनसे छुटकारा पानेका उपाय क्या है? विद्या क्या है और अविद्या क्या है? जब महात्मा लोग प्रसन्न होंगे, तब अपने अनुभव किये हुए तत्वज्ञानका उपदेश करेंगे।

याद रखना चाहिये "ब्रह्मज्ञान" सहजमें नहीं मिलता। ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्तिके लिये ऐसे गुरुकी तलाश करनी चाहिये, जो सर्व शास्त्रोंके जानने और उनके समझनेवाला हो और साथही जो

ब्रह्म को भी प्रत्यक्ष में जानता हो। क्योंकि जो पुरुष ब्रह्मज्ञान-रहित होगा, वह अनुभव सहित उपदेश न कर सकेगा और जो केवल ब्रह्मज्ञानी होगा, किन्तु शास्त्रोंको न जानता होगा, वह दृष्टान्त, युक्तियों और प्रमाणों सहित उपदेश न कर सकेगा। वह, शास्त्र-ज्ञान न होनेसे, पूछनेवाले की शङ्काओंका समाधान न कर सकेगा। अतः ब्रह्मज्ञान उपार्ज्जन करने के लिये ऐसा गुरु तलाश करना चाहिये, जो शास्त्रमें पारदर्शी हो एवं ब्रह्म-ज्ञान का पूर्ण अनुभवी हो।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

उस (तत्वज्ञान) के ज्ञान जानेपर, तू ऐसी भूल न करेगा। उसी ज्ञानसे समस्त जीवोंको अपने आत्मामें और मुझमें देखेगा।

मतलब यह है, कि तत्वज्ञानी लोगोंसे तत्वज्ञान पाकर तुझे अब की भाँति मोह न होगा, तेरी घबराहट जाती रहेगी। उस ज्ञान के बल से तू ब्रह्म से लेकर चींटी तक को अपने आत्मा में देखेगा। तब तू समझेगा कि "यह सारा संसार मुझमें मौजूद है।" पीछे तू सब जीवोंको मुझ वासुदेव में देखेगा और इस तरह आत्मा और परमात्माकी एकता समझेगा। यह विषय सभी उपनिषदोंमें खूब अच्छी तरह समझाया है।

आगे चलकर ज्ञानकी उत्तमता और भी देखिये :—

ज्ञान समस्त पाप और कर्मोंका नाशक है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अगर तू सारे पापियों से भी अधिक पापी हो जायगा, तोभी तू इस ज्ञानरूपी नावसे पाप-समुद्रके पार हो जायगा।

मतलब यह है, कि, यह संसार समुद्रकी भाँति अथाह पाप-रूपी जलमें भरा हुआ है। इस पाप-सागर का पार कर जाना सहज काम नहीं है ; किन्तु जो मनुष्य तत्वज्ञान को जान जाता है, वह अपने ज्ञान-बलसे, बिना प्रयासही पाप-सागर के पार हो जाता है।

ज्ञान से पापोंका नाश किस भाँति होता है ?

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन ! जिस तरह जलती हुई अग्नि सूखी लकड़ियोंको जलाकर राख कर देती है ; उसी तरह ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मों को जलाकर ख़ाक कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

इस जगत् में ज्ञानके बराबर पवित्र वस्तु और नहीं है। कर्म-योगमें निपुण पुरुषमें, कुछ समय में ही, यह ज्ञान अपने-आप आ जाता है।

मतलब यह है, कि ज्ञानके समान चित्तको शुद्ध करनेवाला दूसरा उपाय नहीं है। मोक्ष के लिये ब्रह्मज्ञानही सब से श्रेष्ठ है। जिसने कर्म-योग और समाधि-योगका खूब अभ्यास किया है, उसे थोड़े समयमेंही, अभ्यास करते-करते अपने-आप वह ज्ञान हो जायगा।

ज्ञान प्राप्त करनेके निश्चित उपाय।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

जिसमें श्रद्धा है, जिसे ज्ञानकी चाह है, जिसने अपनी इन्द्रियों

को जीत लिया है, उसे ज्ञान मिलता है। जिसे ज्ञान हो जाता है उसे परम शान्ति जल्दी ही मिलती है।

जिस में श्रद्धा और विश्वास है, उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है; किन्तु यदि वह आलसी हो तो कुछ नहीं हो सकता; इसीसे यह कहा गया है, कि उसे हमेशा ज्ञानकी चाह होनी चाहिये; अर्थात् उसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अपने गुरुओंके पास हरदम डटा रहना और उनके उपदेश ध्यानपूर्व्वक सुनने चाहियें। लेकिन जिसमें श्रद्धा है और जो रात-दिन ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है, यदि उसने अपनी इन्द्रियों पर अधिकार न जमाया हो; यानी अपनी इन्द्रियोंको अपने वश न किया हो, तो ज्ञान प्राप्त हो नहीं सकता। इसीसे कहा गया है, कि उसे अपनी इन्द्रियाँ अपने वशमें कर लेनी चाहियें। मतलब यह है, कि जिसमें विश्वास या श्रद्धा है, जिसे ज्ञान पानेकी चाह है और जिसने अपनी इन्द्रियोंको अपने अधीन कर लिया है, उसे निश्चयही ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ज्ञान प्राप्त करनेके ये तीन साधन हैं। जिसमें इन तीनोंमेंसे एक भी नहीं है, उसे ज्ञान मिल नहीं सकता। इसी अध्यायके ३४ वें श्लोकमें दण्डवत् प्रणाम, गुरु-सेवा आदि जो उपाय बताये हैं, वे सब बाहरी साधन हैं। सम्भव है, कि उनसे ज्ञान-प्राप्ति न हो; क्योंकि उनको पाखण्डी लोग भी कर सकते हैं। लेकिन जिसमें श्रद्धा वगैरः हालके कहे हुए तीन साधन हों, उससे कपट नहीं हो सकता। इससे उपरोक्त तीन साधन ज्ञान प्राप्त करनेके निश्चित उपाय हैं। ज्ञान लाभ करनेका फल क्या है? इस प्रश्नका उत्तर यह है:—मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होने पर शीघ्रही परम शान्ति—मोक्ष—मिल जाती है। शुद्ध ज्ञानसे मोक्ष हो जाती है, यह बिल्कुल सच है। यही बात सब शास्त्रोंमें खोल-खोल कर समझायी गयी है।

ज्ञान सन्देह-नाशक है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

जो अज्ञानी है, जो श्रद्धारहित है और जिसे आत्मामें सन्देह है, वह नाश हो जाता है, उसे इस लोकमें और परलोकमें कहीं भी सुख नहीं मिलता ।

जिसपर अज्ञान का पर्दा पड़ा है; यानी जो आत्माको नहीं पहचानता वह, जिसे अपने गुरुओंके उपदेशों या वेदान्त शास्त्र पर विश्वास नहीं है वह, तथा जो सन्देहों में डूबा रहता है वह, ये तीनों ही नष्ट हो जाते हैं । अज्ञानी और श्रद्धा-हीन निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं । किन्तु उतने नहीं, जितना कि संशयों में डूबा रहनेवाला नष्ट होता है । सारांश यह कि, अज्ञानी और श्रद्धा-हीनों को ज्ञान नहीं होता ; तथापि सम्भव है, कि मूर्ख बुद्धिमान् हो जाय और अविश्वासी विश्वासी हो जाय; लेकिन सन्देहमें डूबा रहनेवाला नष्ट हुए बिना न रहेगा । मतलब यह है, कि जो मूर्ख होता है उसका गुरु और शास्त्रों में विश्वास होता है ; वह समय पाकर सुधर सकता है । इसी भाँति श्रद्धारहित और मूर्ख भी समय पाकर श्रद्धावान् और बुद्धिमान् हो सकता है ; लेकिन जो जान-बूझ कर सन्देह और तर्क किया करता है वह कभी सुधर नहीं सकता ; इसीसे उसे कभी सुख न होगा । भगवान् अर्जुन को समझाते हैं, कि तू सन्देह न कर ; क्योंकि सन्देह बड़ा भारी पाप है ।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

हे धनञ्जय ! जिसने योग-रीति से कर्मों को छोड़ दिया है, जिसके सब संशय ज्ञानसे छिन्न-भिन्न हो गये हैं, जो आत्मनिष्ठ है, वह कर्म-बन्धन में नहीं फँसता ।

वह मनुष्य जो परमात्मा को समझता है, योग-रीति अथवा परमात्मा के ज्ञानसे, तमाम कर्मों—धर्म्म और अधर्म्म—को त्याग देता है। मनुष्य इस दर्जे पर उस वक्त पहुँचता है, जब उसके सन्देह आत्मा और परमात्मा की एकता समझनेसे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जब वह यह समझने लगता है, कि समस्त कर्म्म सतोगुण आदि गुणोंके कारण से होते हैं, मैं कोई कर्म्म नहीं करता, तब कर्म उसे बन्धनमें नहीं बाँधते। जो सब कर्मोंको त्याग देता है और सदा अपने आत्मामें मग्न रहता है उस पर, उसके योगाभ्यास के कारण, कर्मोंका बुरा या भला प्रभाव नहीं पड़ता।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

हे भारत! तेरे दिलमें अज्ञानसे जो सन्देह आत्माके विषयमें उठ खड़ा हुआ है, उसे ज्ञानरूपी तलवारसे काट डाल और योगका सहारा लेकर उठ खड़ा हो।

भगवान् कृष्णचन्द्र अर्जुनसे कहते हैं:—"सन्देह करना सबसे बड़ा पाप है। सन्देह मूर्खता अथवा अज्ञान से पैदा होता है और बुद्धिमें रहता है। बुद्धि और आत्मा के शुद्ध ज्ञान से सन्देह को नष्ट कर दे।"

ज्ञानही अज्ञान और शोकादि का नाशक है। हे अर्जुन! तेरे नाशका कारण सन्देह है। तू उस सन्देहका नाश करके, कर्मयोग में लग जा, जिसके ज़रिये से शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति होती है। अब उठ, युद्ध कर।
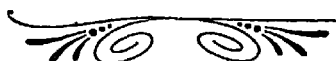
पाँचवाँ अध्याय।

अर्जुनने कहा :—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

हे कृष्ण ! आप कर्मोंके छोड़नेको अच्छा कहते हैं, फिर कर्मों के करने को अच्छा कहते हैं मुझे निश्चय करके यह बताइये कि, इन दोनोंमेंसे कौन अच्छा है

खुलासा—अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! आप कर्म-संन्यास ; यानी कर्मोंके छोड़ने की भी तारीफ़ करते हैं और साथही यह भी उपदेश देते हैं, कि कर्मोंका करना ज़रूरी और अच्छा है। आपके दो बातें कहने से, मेरे मनमें सन्देह उठ खड़ा हुआ है, कि उन दोनोंमें कौन अच्छा है, कर्म-संन्यास या कर्म-योग। कर्म-संन्यास और कर्म-योग; यानी कामोंका त्याग और उनका करना, दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं। अत: एकही समय में, एकही आदमी से, कर्म-संन्यास और कर्म-योग नहीं हो सकते। अतएव, कृपा करके, मुझे उनमेंसे एक तो बताइये। अगर आप कर्म-संन्यास को उत्तम समझें तो उसी की सलाह दीजिये और अगर आप कर्म-योग को अच्छा समझें तो उसके करने की सलाह दीजिये। मतलब यह है, कि दोनोंमें जो श्रेष्ठ हो मुझे उसेही बताइये।

अज्ञानी के लिये कर्म-योग संन्याससे श्रेष्ठ है।

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

भगवान् ने कहा :—

हे अर्जुन ! संन्यास और कर्म-योग दोनोंसे ही मोक्ष मिलती है, पर इन दोनोंमें संन्यास से कर्म-योग श्रेष्ठ है ।

पाठकों को खूब समझना चाहिये कि, "संन्यास" कर्मोंके छोड़ने को और "कर्म-योग" कामोंके करनेको कहते हैं।

भगवान् अर्जुन के दिलका शक दूर करनेके लिये कहते हैं, कि संन्यास और कर्म-योग, कामोंका छोड़ना और कामोंका करना, दोनोंही मोक्षके देनेवाले हैं ; क्योंकि दोनोंही से ब्रह्म-ज्ञान होता है। यद्यपि दोनोंहीसे मोक्ष होती है, तथापि मोक्ष-प्राप्तिके लिये ख़ाली कर्म-संन्यास—ज्ञानरहित कर्म-सन्यास—से कर्म-योगही श्रेष्ठ है।

भगवान् ने यद्यपि कर्म-योग को कर्म-संन्यास से अच्छा बताया है ; तथापि भगवान्का यह आशय नहीं है, कि सच्चे कर्म-सन्यास से कर्म-योग श्रेष्ठ है। उनका आशय है, कि सच्चा कर्म-संन्यास, जो ज्ञान सहित है, कर्म-योग से बहुत ऊँचे दरजे पर है। उनके कहनेका मतलब यह है, कि कर्म-योग कर्म-संन्यास से आसान है और इसीलिये ज्ञानरहित कर्म-संन्यास से अच्छा है।

कर्म करते-करते चित्तके शुद्ध होने से संन्यास होता है। बिना चित्तके शुद्ध हुए संन्यास अच्छा नहीं है। जिनको शोक-मोह नहीं है, जिनको ज्ञान हो गया है, उनके लिये तो कर्म-संन्यास ; यानी कर्मोंका त्यागही अच्छा है ; किन्तु रजोगुणी, तमोगुणी पुरुषों को, ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, कर्म-योग ; यानी कर्म करनाही

अच्छा है। मतलब यह कि अज्ञानीको ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कर्म, योगही अच्छा है। हे अर्जुन! तू क्षत्रिय है। क्षत्रियोंका धर्म युद्ध करना है। अतः तुझे युद्ध करनाही अच्छा है; क्योंकि विना कर्म-योग के तेरा अन्तःकरण शुद्ध न होगा।

संन्यासके लक्षण।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे महाबाहो! जो न किसी से घृणा—नफ़रत—करता है, न किसी चीज़की इच्छा करता है, वही पक्का संन्यासी है। वह सुख-दुःख से रहित संन्यासी, सहजहीमें, संसारी बन्धनों से छुटकारा पा जाता है।

जो कर्म्म-योगी किसी से नफ़रत नहीं करता और किसीसे प्रेम नहीं करता, किसी वस्तु की चाहना—ख्वाहिश—नहीं रखता, सुख और दुःखको समान भाव से देखता है, वह चाहे काम करता रहे, तथापि वह पक्का संन्यासी है। सारांश यह, कि राग-द्वेष छोड़ कर निष्काम कर्म करनेवाला संन्यासीही है।

सांख्य और योगमें भेद नहीं है।

(शङ्का) संन्यास और कर्म्म-योग जो दो प्रकार के लोगोंके लिये बताये गये हैं और जो आपस में एक दूसरेके विरुद्ध हैं, अगर ठीक-ठीक विचार किया जाय, तो दोनोंके फल भी जुदे-जुदे होने चाहियें। उन दोनोंकेही अनुष्ठानसे मोक्षका मिलना सम्भव नहीं जान पड़ता। इस शङ्काका उत्तर भगवान् आगे देते हैं:—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

सांख्य और कर्म-योग को बालकही अलग-अलग कहते हैं,

किन्तु बुद्धिमानोंकी रायमें ऐसी बात नहीं है। जो इन दोनोंमें से एक का भी साधन अच्छी तरह करता है, उसे दोनों का फल मिल जाता है।

भगवान् कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि बालक; यानी मूर्ख लोगही 'सांख्य और योग' को दो चीज़ और उनके जुदे-जुदे फल समझते हैं। लेकिन बुद्धिमान्—ज्ञानी—समझते हैं, कि उन दोनोंसे एक ही फल निकलता है; यानी सांख्य (जान-बूझकर कर्मोंका त्याग) और कर्म-योग (कर्मों का करना) दोनोंसेही मोक्षकी प्राप्ति होती है। भगवान् कहते हैं, जो अच्छी तरहसे सांख्य (संन्यास) अथवा कर्म-योग दोनोंमेंसे एक का भी आश्रय लेते हैं, उनको दोनोंकेही फल मिलते हैं। दोनों का फल एकही "मोक्ष" है। अतः सांख्य (संन्यास) और कर्म-योग दोनों में कुछ फ़र्क़ नहीं है।

(शङ्का) अभी तक तो "संन्यास" और "कर्म-योग" शब्दोंसेही सिलसिला चल रहा था, अब "सांख्य" और "योग" जिनसे हमारा अभी कुछ मतलब नहीं है, क्यों एकही फलके देनेवाले कहे गये हैं?

(उत्तर) इसमें कुछ भी भूल नहीं है। अर्जुन ने, वास्तवमें, साधारणतया, संन्यास और कर्म-योग के विषयमेंही प्रश्न किया था। भगवान्, संन्यास और कर्म-योग को बिना छोड़ेही, उनमें अपने और-और विचार मिलाकर, सांख्य (ज्ञान) और योग दूसरे नामों से उत्तर देते हैं। भगवान् की रायमें संन्यास और कर्म-योगही सांख्य और योग हैं, जबकि उनमें क्रमसे आत्माका ज्ञान और समबुद्धित्व मिला दिये जायँ। अतएव यह प्रसङ्ग बेमेल नहीं है।

अब यह सवाल पैदा होता है, कि संन्यास और कर्म-योग दोनों मेंसे केवल एक का भली भाँति साधन करनेसे दोनों का फल किस तरह मिल सकता है? इसका जवाब नीचे है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

जो फल सांख्यवालों को मिलता है, वही योगियों को मिलता है। जो सांख्य और योग को एक देखता है, वही देखता है।

सांख्य लोग वे हैं, जिनका ध्यान और प्रेम ज्ञानकी तरफ़ है और जिन्होंने संसारको त्याग दिया है। वे उस स्थानको पहुँचते हैं, जो 'मोक्ष' कहलाता है। योगी भी उसी स्थान को पहुँचते हैं, लेकिन ज़रा टेढ़े चलकर; यानी शुद्ध ज्ञान प्राप्त करके और कर्मों को त्याग कर। खुलासा यह है, कि जो योगी शास्त्रोंमें लिखी हुई रीति के अनुसार, ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, कर्म करते हैं और अपने कर्मों को ईश्वर के लिये समर्पण कर देते हैं एवं अपने स्वार्थ के लिये किसी फल की आशा नहीं रखते, वे शुद्ध ज्ञान के ज़रियेसे 'मोक्ष' पा जाते हैं।

(प्रश्न)—अगर यही बात है, तो 'संन्यास' 'योग' की अपेक्षा श्रेष्ठ और ऊँचा है। फिर यह बात क्यों कही गयी है, कि कर्म-योग, कर्म-संन्यास से अच्छा है?

(उत्तर) भगवान् कहते हैं, अर्जुन! तुमने मुझसे प्रश्न किया था कि, कर्म-योग और कर्म-संन्यास इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है, तुम्हारा वह प्रश्न साधारण कर्म-योग और साधारण कर्म-संन्यास के विषयमें था। जैसा तुम्हारा प्रश्न था, वैसाही मैंने उत्तर भी दिया। मैंने जो कर्म-योग को कर्म-संन्यास से अच्छा कहा है, वहाँ "ज्ञान" का लिहाज़ नहीं रखा है। लेकिन वह संन्यास जिसकी नींव "ज्ञान" पर है, मेरी समझमें, सांख्य है और सांख्यही सच्चा योग अथवा परमार्थ है। वेद-रीति से काम करनेवाला कर्म-योगी, ज्ञान प्राप्त करके, सच्चा योगी (सांख्य) हो जाता है; यानी कर्म-योगही मनुष्यको सच्चा योगी या संन्यासी बनाता है; इसीलिये कर्म-योग को कर्म-संन्यास से अच्छा कहा है।

फिर सवाल पैदा होता है, कि कर्म-योग संन्यास मिलने का वसीला किस तरह है? इसका जवाब नीचे दिया जाता है—

कर्म-योग संन्यासका वसीला है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

हे महाबाहो अर्जुन! बिना कर्म-योगके संन्यास का मिलना कठिन है। योगयुक्त मुनि ब्रह्म (संन्यास) को बहुत जल्द पा जाता है।*

ऊपरके कथनका खुलासा मतलब यह है, कि बिना कर्म-योग किये संन्यास होना कठिन है। जब तक राग-द्वेष आदि न हटेंगे, जब तक चित्त शुद्ध न होगा, तब तक संन्यास होना कठिन है। कर्म-योग करते-करते जब अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, तभी कर्मों का संन्यास—ज्ञान—होगा। इसीसे भगवान्‌ने कर्म-योग को श्रेष्ठ ठहराया है और संन्यास मिलनेका द्वारा या वसीला कहा है।

ज्ञानी कर्म-बन्धनोंसे अलग रहता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।

जो कर्मयोगी है, जिसका चित्त बिलकुल शुद्ध है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, जो अपनी आत्मा को समस्त प्राणियोंके आत्मा से अलग नहीं मानता,—वह कर्म करता हुआ भी कर्म-बन्धनोंसे अलग रहता है; यानी उनके बन्धनमें नहीं आता।

अगर कोई यह शङ्का करे कि, कर्म-योगी कर्म-बन्धनमें फँस जाता है; तो उसी की शङ्का दूर करनेको भगवान् कहते हैं, कि

* इस जगह "ब्रह्म" शब्द "संन्यास" के लिये इस्तेमाल हुआ है।

शास्त्रानुसार कर्म करनेवालेका चित्त शुद्ध हो जाता है, फिर वह अपने तईं अपने अधीन कर लेता है और सब जीवोंको अपने समान समझता है; यानी ब्रह्मासे लेकर घासके गुच्छे तकको अपनी आत्माके समान समझता है। ऐसी दशा में, वह लोक-रक्षा के लिये काम करता हुआ अथवा स्वभावसे काम करता हुआ, कर्मोंके बन्धनोंमें नहीं बँधता।

ज्ञानीके कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

कर्म करनेवाला तत्वज्ञानी देखता है, सुनता है, छूता है, सूंघता है, खाता है, चलता है, सोता है, साँस लेता है, बोलता है, छोड़ता है, पकड़ता है और आँखोंको खोलता तथा बन्द करता है; मगर वह यही समझता है कि "मैं कुछ भी नहीं करता"—वह समझता है कि इन्द्रियाँही अपने-अपने विषयोंमें लगी हुई हैं।

ऊपर, इस अध्याय के आठवें और नवें श्लोक का अर्थ एक साथ ही दिया है। 'तत्त्वज्ञानी' उसे कहते हैं, जिसे आत्मा का सच्चा ज्ञान हो।

ऊपरके दो श्लोकोंका खुलासा मतलब यह है, कि तत्त्वज्ञानी लोग देखना, सुनना, खाना, पीना, छूना आदि सब काम तो करते हैं; किन्तु अपने तईं इन कर्मोंका करनेवाला नहीं समझते। वे इन सब कामों को इन्द्रियोंका काम समझते हैं। उनका ख़याल है, कि देखना 'आँखों' का धर्म है, आत्माका नहीं। चलना 'पैरों' का धर्म है, आत्मा का नहीं। सुनना 'कानों' का धर्म है, आत्मा का नहीं। बोलना 'जीभ' का धर्म है, आत्मा का नहीं। इसी तरह मल त्यागना 'गुदा' का धर्म है, आत्मा का नहीं। मतलब यह है, कि

वे सारे कामोंको आँख, कान, नाक, जीभ आदि इन्द्रियोंका काम समझते हैं। आत्माको वे किसी कामका करनेवाला नहीं समझते; इसीसे वे कर्म-फाँस में नहीं फँसते। किन्तु अज्ञानी लोग सब कर्मोंको अपने आत्माका काम समझते हैं; इसीसे वे कर्म-बन्धनमें फसते हैं।

काम तो अज्ञानी भी करते हैं और ज्ञानी भी; लेकिन ज्ञानी लोग, आत्माका सच्चा स्वभाव जानने—उसे अकर्त्ता, असंग, निर्विकार और शुद्ध समझनेसे, कर्मोंके बन्धन में नहीं फँसते; किन्तु मूर्ख लोग इस असल तत्वके न समझनेसेही कर्म-बन्धनमें बँधते और जन्म-मरणके दुःख बारम्बार भोगते हैं।

अब यह शङ्का पैदा होती है, कि जो पुरुष कर्म तो करता है; किन्तु तत्वज्ञानी नहीं है, उसका भला कैसे होगा? तत्त्वज्ञान न होनेसे उसके दिलमें अभिमान रहता है। वह अपने तईं सब कामों का कर्त्ता समझता है। वह आत्माको कुछ भी न करनेवाला और इन्द्रियोंको काम करनेवाला नहीं समझता, ऐसा ब्रह्म-ज्ञान-रहित पुरुष कर्म-बन्धनमें फँसता है; क्योंकि उसको ब्रह्मज्ञान न होनेसे, अशुद्ध अन्तःकरण होनेसे, कर्मोंके संन्यासका अधिकार नहीं है। ऐसेही पुरुषके लिये भगवान् आगेके श्लोकमें ऐसी तरकीब बताते हैं, जिससे उसके कर्मफल (पाप और पुण्य) उसपर अपना प्रभाव न डाल सकें।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥

जो मनुष्य कर्म करता है, अपने कर्मों को ईश्वर के अर्पण कर देता है और अपने कर्म-फलोंकी इच्छा नहीं रखता, उस पुरुष को पाप इस तरह नहीं छूते, जिस तरह कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता।

इसका खुलासा यह है, कि वह तमाम कामोंको ईश्वरके अर्पण

करता है। उसका विश्वास है, कि जिस भाँति नौकर अपने मालिक के लिये काम करता है; उसी तरह मैं सब कर्म्म अपने मालिक—ईश्वर—के लिये करता हूँ। वह अपने किये कामोंके फलकी इच्छा नहीं रखता, यहाँ तक कि मोक्ष को भी नहीं चाहता। इस भाँति जो कर्म किये जाते हैं, उनका फल अन्तःकरणकी शुद्धि है। इसके सिवा और कुछ नहीं।

क्योंकि,—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ११॥

शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे योगी लोग, कर्म-फलकी इच्छा छोड़कर, आत्माकी शुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

इसका आशय यह है, कि योगी लोग केवल शरीरसे, केवल मनसे, केवल बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे काम करते हैं और उनके मनमें यह अटल विश्वास होता है, कि हम सब कार्य अपने मालिक—ईश्वर—के लिये करते हैं। वह अपने कामों को अपने लिये नहीं समझते और उनके फलोंकी चाहना नहीं रखते। वे अन्तःकरण की शुद्धिके लियेही काम करते हैं। इसके सिवाय और किसी फलकी इच्छा करनेसे बन्धनमें फँसना पड़ता है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

जो स्थिरचित्त पुरुष कर्म-फलकी चाहना छोड़कर काम करता है, उसे परम शान्ति मिल जाती है; लेकिन जो स्थिरचित्त नहीं है और फलोंकी कामना में मन लगाकर काम करता है, वह कर्म-बन्धन में बँध जाता है।

यहाँ यह शङ्का होती है, कि कार्य तो एकही है, फिर यह क्या वजह है, कि कोई कार्य करनेवाला तो मोक्ष पाजाता है और कोई

कर्म-बन्धनमें बँध जाता है। इसी शङ्काके उत्तरमें भगवान्ने ऊपर जो वचन कहा है, उसका आशय यह है—

जो लोग ऐसा दृढ़ विचार रखते हैं, कि "जो कुछ हम करते हैं वह सब ईश्वरके लिये करते हैं, अपने लिये कुछ नहीं करते" और: साथही कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग, स्त्री, पुत्र, धन आदि की वासना नहीं रखते, वह मोक्ष-रूपी शान्तिको पा जाते हैं। उनको ईश्वर की भक्तिमें रहते-रहते परम शान्ति, दर्जे-ब-दर्जे, इस भाँति मिलती है—पहले अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; उसके बाद उनको नित्य-अनित्य वस्तुका ज्ञान होता है; इसके भी पीछे, तीसरे दर्जे पर, उन्हें पूर्ण संन्यास हो जाता है; सबसे पीछे, उन्हें परम शान्ति रूपी मोक्ष मिल जाती है। किन्तु जो अनस्थिरचित्त हैं, जो अपने कर्मोंको ईश्वरके लिये नहीं समझते, जो अपने कर्मोंको अपने लिये समझते हैं, अपने कर्मोंके फलों की चाहना रखते हैं; यानी जिनके खयाल ऐसे हैं, कि हम ये कर्म अपने फायदेके लिये करते हैं, इन कर्मोंसे हमें स्वर्ग या स्त्री, धन वग़ैरः मिलेंगे, वह लोग कर्म-बन्धनमें मज़बूती से जकड़ जाते हैं। उन लोगोंको जन्मना और मरना पड़ता है; क्योंकि उनकी मोक्ष नहीं होती।

इस सबका खुलासा यह है, कि मनुष्य को कर्म छोड़नेसे कुछ लाभ नहीं है। उसे कर्म करके, अपने कर्मोंके फलकी इच्छा न रखने और अपने सभी कर्मोंको ईश्वरके लिये समझनेमें लाभ है। इसी रीतिसे कर्म करनेवाला, उपरोक्त विधिसे, दर्जे-ब-दर्जे, मोक्ष पा जाता है।

यहाँ तक भगवान्ने यह कहा है, कि जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, उसे कर्म-संन्याससे कर्म-योग अच्छा है। आगे, वह जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उसके लिये कर्म-संन्यास को अच्छा बतावेंगे।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३॥

शुद्ध अन्तःकरणवाला देहका मालिक—जीव—मनसे सारे कर्मोंका त्याग कर, न तो कुछ करता हुआ और न कुछ कराता हुआ, नौ द्वारके नगर—शरीरमें सुखसे रहता है।

कर्म चार प्रकारके होते हैं:—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्ध। वह पुरुष जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है; मन, वाणी और कर्मसे सारे कर्मों को त्याग देता है और विवेक-बुद्धिसे कर्म में अकर्म देखता हुआ सुखसे रहता है। उसके सुखसे रहनेका कारण यह है, कि उसने मन, वाणी और कर्मसे सारे कर्म त्याग दिये हैं। उसने किसी प्रकारका झंझट अपने साथ नहीं रक्खा है। उसका चित्त शान्त है। उसने आत्माके सिवाय और सबसे अपना सरोकार छोड़ दिया है।

सब झंझटोंसे अलग हुआ संन्यासी शरीरमें रहता है। शरीर में नौ सूराख़ हैं। दो छेद दोनों कानोंमें हैं, दो दोनों आँखोंमें, दो नाकमें और एक मुँहमें है। इस तरह यह सात छेद तो सिरमें हैं। दो छेद नीचे हैं—एक पेशाब का और एक मल त्याग करनेका। इस तरह कुल नौ छेद हुए। इन्हीं नौ छेदोंको नौ द्वार और शरीर को नगर कहते हैं। शरीर रूपी नगरमेंही संन्यासीका निवास है।

(शङ्का) संन्यासी, असंन्यासी सभी शरीरमें रहते हैं; केवल संन्यासीही तो शरीरमें नहीं रहता। फिर भगवान् केवल संन्यासी कोही नौ द्वारके नगररूपी शरीरमें रहनेवाला क्यों कहते हैं?

(उत्तर) भगवान् अर्जुनकी उपरोक्त शङ्का निवारण करनेके लिये कहते हैं, कि विद्वान् संन्यासी इस शरीर में रहता हुआ भी अपनी आत्माको देहसे अलग समझता है। वह अपनी देहको आत्मा नहीं मानता; इसीसे कहते हैं, कि वह शरीर में निवास करता है; किन्तु मूर्ख तो बिलकुल उल्टा समझता है। वह अपनी देहको आत्मा मानता है; इसीसे समझता है, कि मैं घरमें रहता हूँ, ज़मीन पर आराम करता हूँ अथवा चौकी पर बैठता हूँ।

वास्तवमें आत्मा देहमें रहता है। देहही ज़मीन पर सोती-बैठती और चलती-फिरती है। आत्मा तो उसके अन्दर जैसा सदासे है, वैसाही रहता है।

(शङ्का) जब ज्ञानी पुरुष सब कर्म छोड़ देता है, तो काम करने अथवा करानेकी शक्ति तो उसके आत्मा में रहती होगी?

(उत्तर) भगवान् कहते हैं—वह न तो स्वयं काम करता है और न शरीर तथा इन्द्रियोंसे काम कराता है।

(प्रश्न) क्या आपका यह मतलब है, कि काम करने और काम करानेकी शक्ति आत्मा में है और वह कामोंके छोड़ देने ; यानी संन्यासी होनेसे बन्द हो जाती है, अथवा यह मतलब है, कि आत्मा में कर्म करने और करानेकी शक्तिही नहीं है।

(उत्तर) काम करने अथवा करानेकी शक्ति आत्मा में नहीं है ; क्योंकि ईश्वर ने (२ अ० के २५ वें श्लोक में) उपदेश दिया है, कि आत्मा निर्विकार और अपरिवर्त्तनीय है। यद्यपि वह देहमें बैठा है, तथापि वह कुछ काम नहीं करता और न वह कर्म-फलमें लिप्त होता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

ईश्वर न कर्त्तापन को उत्पन्न करता है, न कर्मोंको उत्पन्न करता है और न कर्म-फलके सम्बन्धको उत्पन्न करता है ; किन्तु प्रकृतिही सब कुछ करती है।

आत्मा—शरीरका ईश्वर—कर्त्तापनको उत्पन्न नहीं करता; अर्थात् वह खुद किसी को काम करनेकी तरग़ीब नहीं देता ; यानी यह नहीं कहता, "यह करो"। न आत्मा स्वयं महल, मकान, गाड़ी, इत्यादि ज़रूरी चीज़ों को तय्यार करता है और न आत्मा उससे सम्बन्ध रखता है जो महल, मकान, गाड़ी इत्यादि बनाता है।

(प्रश्न) अगर शरीरमें रहनेवाला आत्मा न कुछ काम करता है और न किसी से कराता है, तो वह क्या है जो काम करता है और दूसरों से कराता है ?

(उत्तर) वह प्रकृति है, जो काम करती और कराती है। इस प्रकृति को ईश्वरीय माया भी कहते हैं। यह सतोगुण आदि गुणों से बनी हुई है। (देखो सातवें अध्यायका १४ वाँ श्लोक)

एक बात और समझनेकी है, कि इस श्लोकसे पहले जीव निर्विकार ठहराया जा चुका है। यहाँ ईश्वर भी निर्विकार ठहराया गया है। परमार्थमें जीव और ईश्वर दोनोंही निर्विकार हैं। जीव और ईश्वर नामसेही दो हैं। असलमें दोनों एकही हैं।

असल मतलब यह है, कि ईश्वर न तो कुछ करता है और न किसी से कुछ कराता है, न किसी को फल भुगाता है और न आप भोगता है। अज्ञान या अविद्यारूपी दैवी माया, जिसे प्रकृति भी कहते हैं, कार्य करती और कराती है। ईश्वर सूर्यकी तरह चमकनेवाला है। किसी से कुछ कराता नहीं। जिस चीज़ का जैसा स्वभाव है, वह अपने स्वभाव-अनुसारही काम करती है। सूर्य एक है, उसके उदय होने पर कमल खिल जाते हैं और कुमुद सुकड़ जाते हैं। सूर्य न किसी को खिलाता है और न किसी को सङ्कुचित करता है ; इसी तरह ईश्वर किसीसे कुछ नहीं कराता। अनेक पदार्थ तो चेष्टा नहीं करते; किन्तु मनुष्य आदि अनेक प्रकारकी चेष्टा करते हैं। कह चुके हैं, कि ईश्वर और जीवमें फ़र्क़ नहीं है। जिस तरह ईश्वर कुछ नहीं करता और किसी से कुछ कराता भी नहीं, उसी तरह शरीरमें रहनेवाला आत्मा भी कुछ नहीं करता और न कराता है; किन्तु शरीर और इन्द्रियाँ प्रकृतिके अधीन होकर; यानी स्वभावसेही सब प्रकारकी चेष्टाएँ करती हैं ; इसीसे कहते हैं, कि आत्मा शरीरसे अलग है। शरीर और इन्द्रियोंके कामों और कर्मोंके फलसे उसका सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञान और अज्ञान ।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ! ईश्वर न किसी के पापको ग्रहण करता है और न पुण्यको ग्रहण करता है । इस जीवके ज्ञान पर अज्ञानका पर्दा पड़ा है । इसीसे प्राणी मोहको प्राप्त होता है ।

मतलब यह है, कि ईश्वर न किसीके पापासे सरोकार रखता और न पुण्यसे । "किसीके" से मतलब यह है, कि वह अपने भक्तोंके पाप-पुण्यसे भी सरोकार नहीं रखता ।

(प्रश्न) तब भक्त लोग हवन, पूजा, यज्ञ और अन्यान्य पुण्य-कर्म किस लिये करते हैं ?

(उत्तर) इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं—ज्ञानको अज्ञानने ढक रक्खा है ; इसीसे अज्ञानी लोग संसारमें धोखा खाते और समझते हैं, "मैं करता हूँ, मैं कराता हूँ, मैं भोगता हूँ, मैं भुगाता हूँ" इत्यादि ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! जिनका अज्ञान आत्मज्ञान से नष्ट होगया है, उनका आत्मज्ञान उनके लिये सूर्यकी भाँति परब्रह्मको प्रकाशित करता है ।

जब कि पहले कहा हुआ अज्ञान, जिसने जीवोंके ज्ञान पर पर्दा डाल रक्खा है और जिससे लोग धोखा खाते हैं, आत्मज्ञानसे नाश हो जाता है ; तब वही आत्मज्ञान परब्रह्म को उसी भाँति दिखा देता है, जिस भाँति सूर्य, अन्धकारको नाश करके, दीखने योग्य चीज़ोंको दिखा देता है ।

यहाँ अर्जुनके मनमें यह शङ्का होती है, कि आत्मज्ञान द्वारा पर-

ब्रह्मके दीखनेपर क्या फल मिलता है ? उसीका जवाब भगवान् नीचे देते हैं :—

आत्मज्ञानीको और जन्म नहीं लेने पड़ते।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥

उस परब्रह्ममेंही जिनकी बुद्धि है, उसमेंही जिनका आत्मा है, उसमेंही जिनकी निष्ठा है, उसमेंही जो तत्पर रहते हैं, वही जिनका परम आश्रय है, जिनके पाप ज्ञानसे नाश हो गये हैं, वे जाकर फिर नहीं आते।

ऊपर आत्मतत्त्वके जाननेवालोंके लक्षण और ज्ञान का फल कहा गया है।

जो ब्रह्मज्ञानमें लगे रहते हैं, जो अपने आत्माको ही परब्रह्म समझते हैं, वे तमाम कर्मों को त्याग देते हैं और एकान्त ब्रह्ममेंही निवास करते हैं। उस समय परब्रह्मही उनका परम आश्रय होता है और वे अपने आत्मामेंही प्रसन्न रहते हैं, ऐसी दशामें, उनके समस्त पाप और संसारमें आने; यानी जन्म लेनेके कारण, ऊपर कहे हुए ज्ञानसे, नाश हो जाते हैं। वे इस चोलेको त्यागकर फिर देह धारण नहीं करते ; अर्थात् जन्म नहीं लेते। फिर जन्म न लेनेसेही उनको सुख दुःखसे छुटकारा मिल जाता है ; क्योंकि जन्म-मरणके साथही दुःख-सुखका मेल है। आत्मासे दुःख-सुखका कुछ भी सरोकार नहीं है।

अब यह सवाल पैदा होता है, कि जिनका आत्माके विषयका अज्ञान नाश हो जाता है ; यानी जो आत्माकी असलियतको समझ जाते हैं, उन ज्ञानियोंकी समझ कैसी हो जाती है ? इसका जवाब नीचे है :—

ज्ञानी सब जीवोंको अपने समान समझता है ।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

ज्ञानी लोग विद्या और नम्रतासे युक्त ब्राह्मणमें, गायमें, हाथीमें तथा कुत्ते और चाण्डालमें समान भावसे देखते हैं ।

मतलब यह है, कि वे ब्राह्मणको, जिसने अच्छी शिक्षा पाई है, जो संस्कारोंसे शुद्ध है और जिसमें सतोगुण प्रधान है, अपने आत्माके समान समझते हैं ; अथवा यों कहिये, कि उसमें वह परमात्माको देखते हैं । दूसरे दरजे पर गायको, जो न तो संस्कारोंसे शुद्ध है और जिसमें रजोगुणकी प्रधानता है, अपने आत्माके समान देखते हैं ; यानी उसमें भी परब्रह्मको देखते हैं । तीसरे दरजे पर, हाथी को लीजिये, जिसमें तमोगुण प्रधान है ; वे लोग हाथीको भी अपने आत्माके समान देखते हैं ; यानी उसमें भी एक परमात्मा को देखते हैं ।

सबका सारांश यह है, कि ज्ञानी लोग ऊँचे दरजेके ब्राह्मणसे लेकर नीचे दरजेके चाण्डाल और कुत्तेको भी अपने समान समझते हैं । उनका ख़याल है, कि जो आत्मा हममें है वही उन सबमें है ; अतः उनमें और हममें छुटाई-बड़ाई और कुछ भेद-भाव नहीं है ।

इहैव तैर्जितःसर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

जिनका मन समानता पर डटा हुआ है ; अर्थात् जो सबको सम दृष्टिसे देखते हैं, उन्होंने जीते जीही संसार जीत लिया है ; क्योंकि ब्रह्म दोष-रहित और समान है ; इसी कारण से वे ब्रह्ममें स्थित हो जाते हैं ।

इसका खुलासा यह है, कि संसार दोषोंसे भरा हुआ और

विषम है ; किन्तु ब्रह्म निर्दोष और सम है। बस इसी कारणसे, वे ब्रह्ममें स्थिर रहते हैं, ब्रह्ममें स्थिति होनेके कारणसेही, उन्होंने जग जीत लिया है। जगत् सदोष है और ब्रह्म निर्दोष है। निर्दोष ब्रह्ममें रहकर ही ज्ञानी इसी देहसे संसारको जीत लेते हैं।

ज़रा साफ़ करके यों कह सकते हैं, कि जिन ज्ञानियोंकी समझ में एक परब्रह्म है और जो समस्त प्राणियोंमें एक ब्रह्म मानते हैं ; यानी सब प्राणियोंके ब्रह्मको, चाहें वह ब्राह्मण हो, चाहें चाण्डाल, समान भावसे देखते हैं,किसी ब्राह्मणको पवित्र-अपवित्र, नीचा-ऊँचा नहीं समझते, वे, जीवित दशामेंही, जन्म लेनेके झंझटसे छुटकारा पा जाते हैं। जब उन्होंने जीते हुए दो भाव नहीं रखे ; यानी जीते हुएही सब प्राणियोंके ब्रह्मको समान समझ लिया, तब वे शरीर छोड़ने पर क्यों दो भाव समझेंगे ? क्योंकि परब्रह्म निर्दोष और सम है, वह जन्म-मरण आदि विकारोंसे रहित अद्वितीय रूप है तथा सदा एकसा रहनेवाला है ; इसीसे समदर्शी विद्वान् उस अद्वितीय ब्रह्ममें कुछ फ़र्क़ न समझकर, निश्चल भावसे, उसमें स्थित रहते हैं।

लेकिन मूर्ख अथवा अज्ञानी लोगोंका ख़याल है, कि कुत्ता और चाण्डाल वग़ैर: प्राणियोंके अपवित्र शरीरमें जो ब्रह्म है, वह उनकी अपवित्रतासे दूषित हो जाता है। लेकिन वास्तवमें ब्रह्म तो निर्विकार है। उसमें उन चाण्डाल वग़ैर: की अपवित्रतासे कुछ दोष नहीं लग सकता। ब्रह्म अनादि कालसे है। वह आरम्भसे जैसा है, सदा वैसा ही रहता है। उसमें कुछ भी तबदीली नहीं होती। भगवान्‌ने जो इच्छा वग़ैर:के विषयमें कहा है, उनका सम्बन्ध देह—शरीर—से है ; आत्मासे इच्छा वग़ैर: का कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने इसी गीताके तेरहवें अध्यायके ३१ वें श्लोकमें कहा है—"यह परब्रह्म अनादि है, गुणरहित है, अविनाशी है, हे अर्जुन ! यह शरीरमें रहता हुआ भी न तो कुछ कर्म करता है और न कर्म-फलों से दूषित होता है।"

चीज़ोंमें अपवित्रता दो भाँतिकी होती है—स्वभावसेही जो चीज़ें पवित्र होती हैं, वे अपवित्र चीज़ोंके साथ मिलनेसे अपवित्र हो जाती हैं; जिस तरह "गङ्गाजल"। मतलब यह कि, गङ्गाजल पवित्र है; किन्तु पेशाबके गढ़ेमें डाल देनेसे अपवित्र हो जायगा। लेकिन कुछ चीज़ें स्वभावसेही अपवित्र होती हैं, जैसे "पेशाव"। किन्तु ब्रह्मके विषयमें यह बात नहीं है। मूर्खोंका ख़याल है, कि कुत्ते और चाण्डाल वग़ैरः अपवित्र प्राणियोंके संसर्गसे ब्रह्म भी अपवित्र हो जाता है; परन्तु ब्रह्मके विषयमें उनका ऐसा ख़याल करना उनकी अज्ञानता है। ब्रह्म तो आकाश की भाँति असंग है। उस असंग ब्रह्मको किसी का दोष नहीं लग सकता।

ज्ञानीको रञ्ज और ख़ुशी नहीं होती।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

मोह-हीन, सन्देहरहित, ब्रह्मको जाननेवाला और ब्रह्ममें स्थित रहनेवाला प्यारी चीज़को पाकर खुश नहीं होता और अप्यारी अथवा बुरी चीज़को पाकर रंज नहीं करता।

खुलासा यह है, कि जो पुरुष अच्छी वस्तुके मिलनेसे खुश नहीं होता और बुरी वस्तुके मिलनेसे दुःखी नहीं होता, वही ब्रह्मज्ञानी है, वही मोह-रहित और स्थिरबुद्धिवाला है। और भी साफ़ मतलब यह है,—

चित्तको प्रसन्न और अप्रसन्न करनेवाली चीज़ें उसी पुरुषका चित्त प्रसन्न और अप्रसन्न कर सकती हैं, जो शरीरकोही आत्मा समझता है; किन्तु जो शरीरसे आत्माको जुदा समझता है, उसे बुरी और भली चीज़ें दुःखी और सुखी नहीं कर सकतीं। जो सबके आत्माको एक और एकसा तथा निर्दोष समझता है, वह भ्रम-रहित

है। वह उपरोक्त विधिसे ब्रह्ममें स्थित रहता है ; यानी वह कर्म नहीं करता है, उसने सारे कर्म छोड़ दिये हैं ; यही कारण है, कि ऐसे ज्ञानीको रञ्ज और खुशी नहीं होती।

ज्ञानीका अक्षय सुख ।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

जो अपनी बाह्य इन्द्रियों—कान, आँख आदि—को अपने अधीन करके, इन्द्रियोंके विषय—शब्द, रूप रस आदिमें मोह नहीं रखते, वे अपने अन्तःकरणमें शान्ति रूप सुखका अनुभव करते हैं। इस शान्तिसे—तृष्णारहित होकर—ब्रह्ममें ध्यान लगाकर, वे अक्षय सुख पाते हैं।*

खुलासा—जब कि पुरुषका अन्तःकरण इन्द्रियोंके विषय—शब्द-रूपरसादिसे प्रेम नहीं रखता और उन इन्द्रियोंके विषयोंसे दूषित नहीं होता ; तब उसके अन्तःकरणमें सुख होता है—चित्त एकदम शान्त हो जाता है। इस प्रकारकी शान्ति प्राप्त हो जानेके बाद, जब वह योग द्वारा समाधि लगाकर ब्रह्मके ध्यानमें लवलीन हो जाता है, तब उसे अक्षय—नाश न होनेवाला—सुख मिलता है। अतः जिसे आत्माके अमित या अनन्त आनन्दकी इच्छा हो, वह क्षणिक सुख देनेवाले विषयोंसे इन्द्रियोंको हटा ले।

नीचे लिखे कारणसे भी पुरुषके लिये अपनी इन्द्रियोंको विषयों से रोक लेना चाहिये—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

---

* आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा, ये बाह्य इन्द्रियाँ हैं। आँखका विषय देखना, कान का विषय शब्द सुनना, नाक का विषय गन्ध सूँघना, जीभका विषय रस चखना और त्वचा ; यानी चमड़ेका विषय छूना है।

क्योंकि इन्द्रियोंके विषयोंसे जो सुख होते हैं, वे सिर्फ दुःखके पैदा करनेवाले हैं । हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! उन सुखोंका आदि और अन्त है ; इसीसे ज्ञानी लोग विषयोंमें सुख नहीं समझते ।

इन्द्रियोंके संयोग और उनके विषयोंसे जो सुख मिलते हैं वे केवल दुःखके पैदा करनेवाले हैं । वास्तवमें, उनमें सुख नहीं है। अविद्या—अज्ञान—से उनमें सुख जान पड़ते हैं । खूब छानबीन और खोज करनेसे मालूम होता है, कि जितने दुःख हमें इस काया में उठाने पड़ते हैं, उन सबका कारण वही एकमात्र विषयोंसे उत्पन्न हुए सुख हैं । यह देखकर कि संसारमें सुखका लेश भी नहीं है, ज्ञानी लोग अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटा लेते हैं । एक बात औरभी है, कि उन सुखोंसे दुःखही नहीं होता ; बल्कि उनमें एक दोष और भी है । वह दोष यह है, कि उनका आदि और अन्त भी है ; यानी वह सुख पैदा भी होते हैं और नाश भी हो जाते हैं । इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संयोग होनेसे सुखका आरम्भ होता है और जब विषय और इन्द्रियोंकी जुदाई हो जाती है, तब सुखका अन्त हो जाता है । जिस सुखका इस तरह आरम्भ और अन्त होता है, वह क्षणस्थायी है । वह पुरुष जिसमें विचार-बुद्धि है, और जिसने परम आत्मा-तत्त्वको समझ लिया है, वह ऐसे चन्दरोज़ा—क्षणस्थायी—सुखोंमें सुख नहीं समझता । वह बिल्कुल अज्ञानी पशु हैं, जो इन्द्रियोंके विषय-भोगोंमें सुख समझते हुए देखे जाते हैं ।

निर्वाण-पथ ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो महापुरुष जीते जी, शरीर छूटनेके समय तक, काम और क्रोध के वेगोंको सह सकता है, वही योगी और वही सुखी है ।

मौतके समय तक की हद बाँधकर, भगवान् उपदेश देते हैं, कि काम और क्रोधका वेग जीवनमें अनिवार्य्य या दुर्निवार्य्य है ; क्योंकि काम और क्रोधके वेगके कारण अनगिन्ती है ; उनके वेगोंको मृत्युके ठीक समय तक टालना चाहिये। कामका अर्थ 'इच्छा' है। दिल खुश करनेवाली प्यारी चीज़की चाहना या इच्छा को "काम" कहते हैं। यह इच्छा हमें उस समय होती है, जब हमारी अनुभव की हुई प्यारी चीज़, हमारी इन्द्रियोंके सामने आती है अथवा हम उसके विषयमें सुनते या उसकी याद करते हैं। क्रोध अप्रिय चीज़से घृणा करनेको कहते हैं। जब कोई ऐसी चीज़ हमारे सामने आती है, जो हमारे मनके अनुकूल नहीं है अथवा हमारी इन्द्रियाँ उसे पसन्द नहीं करतीं, तब दुःख होता है। इसी तरह अप्रिय बातके सुनने अथवा याद करनेसे दुःख होता है। उस दुःखसे 'क्रोध' होता है।

कामका वेग अन्तःकरणकी उत्तेजना है। जिस समय यह वेग आता है, तब मनुष्यके रोएँ खड़े हो जाते हैं और चेहरे पर प्रसन्नता झलकने लगती है। क्रोधका वेग मनकी उत्तेजना है। क्रोध होनेसे मनुष्यका शरीर काँपने लगता है, पसीने आजाते हैं, आँखें सुर्ख़ हो जाती हैं और वह होठ काटने लगता है इत्यादि। वह मनुष्य जो काम और क्रोधके धक्के—वेग—सह लेता है ; यानी न तो किसी चीज़की इच्छा रखता है और न कभी प्रिय वस्तुके न मिलने या अप्रिय वस्तुके देखने आदिसे दुःखी होकर क्रोध करता है, वह मनुष्य योगी है और वही इस लोकमें सुखी है।

बुरे-भले, इस लोक सम्बन्धी या परलोक-सम्बन्धी, सभी पदार्थों की कामना—चाहना—अनर्थोंकी जड़ है। कामना से क्रोधकी पैदायश है। मनुष्यको चाहिये कि अपनी कामना और क्रोधके झटकोंको सहे। उन्हें अपने सिरपर न आने दे, उन्हें सदा दबाता रहे। कुछ दिन इसी तरह इन दोनोंके दबानेका अभ्यास करनेसे

ऐसी आदत पड़ जायगी कि, फिर न किसी चीज़की इच्छाही होगी और न क्रोधही आवेगा।

अधिकारी पुरुष काम क्रोध के झटके सहनेसेही मोक्ष नहीं पा जाता, इसके सिवाय उसका और भी कुछ कर्त्तव्य है, वही आगे कहा जाता है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जिसे अपने आत्मा में ही प्रसन्नता है, जो अपने आत्मा में ही विहार करता है और जिसकी दृष्टि अपने आत्मा पर ही है, वही योगी ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म के निर्वाण पदको पा जाता है।

खुलासा—काम-क्रोधके त्यागनेसे पुरुषको अखण्ड अन्तःसुख मिलता है, तब वह अपने आत्मामेंही सुखी रहता है। जब वह अपने आत्मामेंही सुखी रहता है, तब उसे विषय-भोगोंसे नफ़रत हो जाती है: यानी विषयके सुखको सुख नहीं समझता; इसीसे वह अपने आत्मामेंही विहार करता है और बाहरी पदार्थोंमें विहार नहीं करता। उसकी दृष्टि भीतर, अपने आत्मापरही रहती है; इसीसे उसकी नज़र गाने-बजाने वग़ैरः पर नहीं पड़ती। इस तरह अपने आत्मामेंही सुख मानता हुआ, उसीमें विहार करता हुआ, उसी पर नज़र रखता हुआ, महात्मा ब्रह्ममें लीलीन होकर ब्रह्मके निर्वाण; यानी मोक्षपदको पा जाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधायतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके पाप नाश हो गये हैं, जिनके सन्देह छिन्न-भिन्न हो गये हैं, जिन्होंने अपने अन्तःकरण को जीत लिया है, जो सब जीवोंकी भलाई चाहते हैं, वे ऋषि ब्रह्म-निर्वाण को पाते हैं।

जिन्होंने शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने सब कर्म त्याग

दिये हैं, ऐसे ऋषि लोग सारे पापोंके नाश हो जाने पर, मनके सारे सन्देहोंकी निवृत्ति हो जाने पर, आत्माके वशीभूत होने पर, सारे प्राणियोंकी भलाई चाहते हुए और किसी की भी बुराईकी इच्छा न करते हुए; ब्रह्मनिर्वाण—मोक्ष—पाजाते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

जो काम और क्रोध को पास नहीं आने देते, जिन्होंने अपने मन या अन्तःकरण को अपने अधीन कर लिया है और जो आत्माको पहचान गये हैं, उनके लिये सब जगह ब्रह्म निर्वाण मौजूद है।

जिन्होंने समस्त कर्म त्याग दिये हैं, जिन्होंने शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनके लिये, जीते हुए या मरकर, हर हालतमें, मोक्षरूपी परमानन्दही परमानन्द है।

ध्यान-योगसे ईश्वरकी प्राप्ति।

यह पहले कहा गया है, कि जो तमाम कर्मोंको छोड़कर शुद्ध ज्ञानमें स्थिरचित्त रहते हैं, उन्हें शीघ्रही मोक्ष मिलती है। यह भी कहा गया है, कि कर्म-योग जो ईश्वरमें भक्ति रखकर किया जाता है और जो उसीके अर्पण कर दिया जाता है; उससे रफ़ता-रफ़ता मोक्ष मिल जाती है—पहले अन्तःकरण शुद्ध होता है; तब ज्ञान होता है; पीछे कर्मोंका संन्यास होता है और अन्तमें मोक्ष मिलती है। अब भगवान् ध्यान-योग की कुछ विधि, संक्षेपसे, उदाहरणकी भाँति, आगेके दो श्लोकोंमें, कहते हैं; क्योंकि ध्यान-योग शुद्ध ज्ञानका निकटतम उपाय है। ध्यान-योगका विस्तार-पूर्वक वर्णन छठे अध्यायमें किया जायगा।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

इन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध आदि बाहरी विषयों को बाहर करके, नेत्रोंकी दृष्टिको दोनों भौंओं के बीच में ठहराकर, प्राण, अपान, वायु को समान करके, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको वशमें करके, मोक्ष को परम आश्रय समझनेवाला और काम, भय तथा क्रोध से दूर रहनेवाला, ऋषि निश्चय ही मुक्त हो जाता है ।

नोट—शब्द, रूप, रस आदि इन्द्रियोंके विषय हैं । ये विषय बाहरी हैं । ये अपनी-अपनी इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरणके भीतर घुसते हैं । जैसे, शब्द या आवाज़ कानके द्वारा भीतर जाती है और रूप आँखके द्वारा अन्तःकरणमें पहुँचता है । जब मनुष्य इन विषयोंकी ओर ध्यान नहीं देता, इनका ख़याल नहीं करता, तब यह विषय बाहर ही रहते हैं, भीतर नहीं घुस सकते ।

नेत्रोंकी दृष्टिको दोनों भौंओंके बीचमें रखनेकी बात इसलिये कही गयी है, कि आँखोंके बहुत खोलनेसे रूप आदि बाहरी विषयों पर मन चलता है और बन्द कर लेनेसे नींद आजानेका भय रहता है ; इसीलिये आँखोंके बहुत न खोलने और बहुत न बन्द करनेकी बात कही गई है ।

प्राण और अपान वायुको समान करनेसे यह मतलब है, कि बाहर निकलनेवाले साँस और भीतर जानेवाले साँसको, जो नाकके भीतर होकर जाते आते हैं, समान करके कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये ।

ऊपरके दो श्लोकोंका खुलासा यह है, कि इन्द्रियोंके बाहरी विषयोंको बाहर रखकर, दृष्टिको दोनों भौंओंके बीचमें ठहरा कर,

और प्राण अपान वायुओंको समान रखकर, कुम्भक प्राणायाम करनेवाला मोक्षको परम आश्रय समझ कर उसमें चित्त रखे। जो मुनि, सब कर्म त्याग कर, इस दशामें शरीरको रखता है और जीवन-भर इसी तरहका साधन जारी रखता है, वह निस्सन्देह मुक्ति पा जाता है। उसे मोक्ष के लिये और उपाय करने की दरकार नहीं है।

कुम्भक करने की विधि किसी सिद्ध योगीसे सीखनी चाहिये। किताबी ज्ञानसे ऐसे विषय आ नहीं सकते। जो मनुष्य ऊपर बयान की हुई रीतिसे शरीर साधकर प्राणायाम करता है, उसे ध्यान-योग में किसके जानने या ध्यान करनेकी ज़रूरत है? इसका जवाब भगवान् नीचे देते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

सब यज्ञों और तपों के स्वामी, सब लोकों के परमेश्वर, सब प्राणियों के मित्र, मुझे, जानने से उसे शान्ति मिलती है।

खुलासा—मैं नारायण हूँ, मैंही सारे यज्ञ और तपोंका कर्ता और भोक्ता हूँ, मैं सब जीवोंका मित्र हूँ। मैं सब जीवोंके साथ भलाई करता हूँ और बदलेमें कुछ नहीं चाहता। सब प्राणियोंके अन्दर मैंही हूँ। मैंही सब कर्म-फलोंका देनेवाला हूँ। मुझे जान जानेपर उसे शान्ति मिलती है; यानी संसारमें आना और यहाँसे जाना (जन्म-मरण) बन्द हो जाता है।

छठा अध्याय।

श्री भगवानुवाच।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

भगवान् ने कहा :—

जो पुरुष, कर्म-फलों की इच्छा त्याग कर, अपने करने लायक कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है ; न कि वह जो अग्निहोत्र और अपने कर्त्तव्य कर्म नहीं करता।

संसारमें दो प्रकारके काम करनेवाले हैं—एक तो वह जो अपने किये हुए कामोंका फल (इनाम) चाहते हैं और एक वह जो अपने किये हुए कामोंका कुछ फल नहीं चाहते। इस जगह उस पुरुषसे मतलब है, जो अपने नित्य कर्म तो करता है ; किन्तु उसके मनमें अपने किये हुए कर्मोंके फलकी चाहना नहीं है।

वह पुरुष जो अपने किये हुए कर्मोंके फलकी इच्छा त्यागकर, अग्निहोत्र, हवन आदि नित्य कर्म करता है ; यानी अपने कर्मोंके फल-स्वरूप स्वर्ग, स्त्री, पुत्र, राज-पाट आदि कुछ भी नहीं चाहता, उस पुरुषसे बहुत ऊँचा है जो अग्निहोत्र आदि नित्य-कर्म करके, उनके फल स्त्री, पुत्र आदि की चाहना रखता है। इस सत्य पर ज़ोर डालनेके लियेही, भगवान् कहते हैं, कि वह पुरुष जो कर्म-फलोंकी इच्छा छोड़कर, नित्य कर्त्तव्य-कर्म करता है, संन्यासी और और योगी है। उस पुरुषमें त्याग (संन्यास) और चित्तकी दृढ़ता

(योग) दोनों गुण समझने चाहियें। केवल उसी को संन्यासी और योगी न समझना चाहिये, जो न अग्निहोत्र करता है और न तपस्या वग़ैरः अन्यान्य कर्म करता है।

(शङ्का) श्रुति, स्मृति और योग-शास्त्र में साफ़ लिखा हुआ है, कि संन्यासी अथवा योगी वह है, जो न तो अग्निहोत्र के लिये आग जलाता है और न यज्ञ हवन आदि कर्म करता है। फिर क्या वजह है, कि भगवान् यहां यह अद्भुत उपदेश देते हैं, कि जो अग्नि जलाता है और कर्म करता है वह संन्यासी और योगी है?

(उत्तर) यह कोई भूल या ग़लती नहीं है। संन्यासी और योगी, ये दोनों शब्द यहां अप्रधान अर्थमें इस्तेमाल हुए हैं। वह पुरुष संन्यासी तो इसलिये समझा गया है, कि वह कर्मोंके फलके ख़यालको भी त्याग देता है और योगी इसलिये समझा गया है, कि वह योग-प्राप्तिके लिये कर्म करता है; क्योंकि कर्म-फलोंका ख़याल न छोड़ देनेसे चित्तमें स्थिरता नहीं आती। इसका आशय यह नहीं है कि, वह वास्तवमें संन्यासी और योगी है।

ख़ूब खुलासा यह है, कि जो पुरुष केवल आगको नहीं छूता अथवा कोई काम नहीं करता, वह संन्यासी नहीं हो सकता। ख़ाली इन कर्मोंके छोड़ देनेसे कुछ लाभ नहीं है। असलमें, वही सच्चा संन्यासी है जो कर्म और कर्म-फलोंको त्याग देता है।

भगवान् इस उलझनको आगे साफ़ करते हैं:—

> यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
> न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

हे अर्जुन! जिसे संन्यास कहते हैं, उसे ही योग कहते हैं। जिसने संकल्पों को नहीं त्यागा है, वह ठीक योगी नहीं।

खुलासा—हे अर्जुन! जिसे श्रुति-स्मृतियोंमें संन्यास कहा है वही योग है; क्योंकि योगमें भी सङ्कल्प—इच्छाओं—को त्यागना होता है और संन्यासमें भी।

(प्रश्न) योग कर्म करनेको कहते हैं और संन्यास कर्म छोड़नेको कहते हैं, इनकी समानता किस अंशमें पाई जाती है ?

(उत्तर) संन्यास और कर्म-योगमें किसी क़दर समानता है। संन्यासी उसे कहते हैं जो समस्त कर्म तथा कर्म फलोंके सम्बन्धके सङ्कल्प (जिससे कर्म करनेकी इच्छा होती है) को छोड़ देता है। कर्म-योगी भी कर्म तो करता है ; किन्तु कर्म-फलोंके सङ्कल्पोंको वह भी छोड़ देता है। कोई भी कर्म करनेवाला, जब तक वह अपने कर्मों के फलकी इच्छा नहीं त्यागता, योगी नहीं हो सकता। मतलब यह है, कि कर्म-फलकी इच्छा योगी और संन्यासी दोनोंको छोड़नी पड़ती है।

जब मनुष्य कर्म-फलोंकी इच्छा त्याग देता है, तभी वह कर्म-योगीकी पदवीको पहुँचता है। अगर कोई शख़्स बिना कर्म-फल त्यागेही कर्मोंको छोड़ दे; यानी संन्यासी हो जाय, तो वह वास्तवमें संन्यासी नहीं है। कर्म-योगही संन्यासका द्वार है। जो पुरुष कर्म-योगमें पक्के नहीं होते, बिना कर्म-फलोंकी इच्छाका त्याग कियेही संन्यासी हो जाते हैं; यानी सारे काम छोड़ देते हैं, वे किसी कामके नहीं रहते। उनके ऊपर "धोबीका कुत्ता, घरका न घाटका" वाली मसल बहुतही ठीक चरितार्थ होती है।

कर्म-योग ध्यान-योग की सीढ़ी है।

ऊपर भगवान्ने संन्यास और कर्म-योगकी समानता बतायी है, क्योंकि संन्यास और कर्म-योग दोनोंमेंही कर्म-फलोंका सङ्कल्प त्यागना होता है। इस छठे अध्यायके दूसरे मन्त्रमें भगवान्ने, कर्म योगको संन्यासके समान कहकर, कर्म-योगकी प्रशंसा की है। कर्म-योगकी प्रशंसा इस ग़रज़से की है, कि कर्म-योग जो कर्म-फलकी इच्छा त्याग कर किया जाता है, साधकको धीरे-धीरे ध्यान-योगके लायक़ कर देता है। अब भगवान् आगे यह दिखाते हैं, कि

किस तरह कर्म-योगसे मनुष्य ध्यान-योगके लायक होता है अथवा कर्म-योग ध्यान-योगका वसीला है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

जो मुनि योगारूढ़ होना चाहता है, उसे योग-प्राप्तिके लिये नित्यकर्म करने चाहियें। उसी मुनिको जब वह योगारूढ़ हो जाय, ध्यान-योगकी प्राप्तिके लिये, शम—रूप संन्यासका साधन करना चाहिये।

जब पुरुष कर्म-फलकी इच्छा त्यागकर कर्म करता है, तब उसका अन्तःकरण धीरे-धीरे शुद्ध हो जाता है। उस समय उसे योगारूढ़ कहते हैं।

जो पुरुष कर्म-फल त्याग देता है और जो योगारूढ़ होना चाहता है; यानी अपने अन्तःकरणको शुद्ध और दृढ़ बनाना चाहता है उसे योगारूढ़ होनेके लिये निष्काम कर्म करने चाहियें। जब उसे सब विषयोंसे वैराग्य हो जाय, उसका अन्तःकरण शुध हो जाय, तब उसे किसी प्रकारके कर्म न करने चाहियें। मतलब यह है, कि जब तक अन्तःकरण शुद्ध न हो जाय, तब तक उसे कर्म करने चाहियें। अन्तःकरणके शुद्ध होने पर कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं। उस हालतमें संन्यास—कर्मोंका त्याग—ही अच्छा है; क्योंकि संन्यासके ज़रियेसेही वह ध्यान-योगमें लग सकेगा।

योगी कौन है ?

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

जब मनुष्य, सारे संकल्पोंको छोड़कर, इन्द्रियोंके विषयों और कर्मोंको त्याग देता है, तब उसे योगारूढ़ कहते हैं।

खुलासा—जब योगी दृढ़चित्त होकर, इन्द्रियोंके विषय रूप,

रस आदिमें दिल नहीं लगाता और नित्य, नैमित्तिक, काम्य, अथवा प्रतिषिद्ध कर्मको, व्यर्थ समझ कर, करनेका ध्यान नहीं करता और जब उसे इस लोक और परलोक-सम्बन्धी इच्छाओंके पैदा करनेवाले सङ्कल्पोंके छोड़ देनेका अभ्यास हो जाता है, तब उसे योगारूढ़ कहते हैं ।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

मनुष्यको चाहिये कि अपने आत्माको ऊँचा चढ़ावे, उसे नीचा न गिरावे ; क्योंकि आत्माही आत्माका मित्र है और आत्माही आत्माका शत्रु है ।

खुलासा यह है, कि जीवात्मा संसारके झंझटोंमें फँसा हुआ है। ज्ञानीको चाहिये, कि अपने आत्माको संसारके झंझटोंसे निकाले, विषयोंसे किनारा खींचे ; क्योंकि आत्माको संसारी झंझटोंसे निकालनेसे, आत्मा द्वारा, उसकी मुक्ति हो जायगी। वह अपने आत्माको संसारी झंझटोंमें न फँसा रहने दे ; क्योंकि उसके झंझटोंमें फँसे रहनेसे उसको संसारी बन्धनोंमें भी फँसना पड़ेगा। आत्मासे ही आत्माकी मुक्ति होती है और आत्मासेही आत्माको बन्धनमें फँसना पड़ता है ; इसीसे भगवान्ने आत्माकोही एक मात्र मित्र और शत्रु ठहराया है। आत्माके सिवाय इस जगत्में प्राणीका न कोई शत्रु है और न मित्र ; यदि मनुष्यका आत्मा विवेक-बुद्धि-सहित और राग, द्वेष, मत्सर, ईर्ष्या आदिसे रहित हो तो वह मोह दिलाता है और यदि वही आत्मा विवेक-बुद्धि-रहित और राग-द्वेष-सहित हो तो बन्धनमें फँसाता है। जिस आत्मा द्वारा आत्माको मोक्ष मिले, वही आत्मा मित्र है और जिसके द्वारा आत्मा बन्धनमें फँसे वही आत्मा शत्रु है ।

नतीजा यह निकला, कि मनुष्यको योगारूढ़ होनेके लिये अपने आत्माको ऊँचा चढ़ाना चाहिये ; यानी उसे विषयोंसे विरक्त करना

चाहिये ; क्योंकि यदि वह शुद्ध हो जायगा तो परमपद मोक्ष तक पहुँचाकर अपना, मित्रकासा, काम पूरा कर सकेगा। अगर मनुष्य अपने आत्माको नीचा गिरावेगा, उसे विषय-वासनाओंमें फँसा रहने देगा, तो वही नीचे गिरा हुआ आत्मा उसको मोक्ष न होने देगा और उसे संसारके बन्धनोंमें फँसावेगा।

इसी बातको भगवान् अगले श्लोकमें साफ़ कर देते हैं :—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६

जिसने अपने आत्मासे आत्माको जीत लिया है, उसके लिये उसका आत्माही उसका मित्र है ; किन्तु जिसने अपने आत्मासे आत्माको नहीं जीता है, उसके लिये उसका आत्माही (बाहरी) दुश्मन की तरह दुश्मन है।

खुलासा—जिसने अपने शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणको अपने वशमें कर लिया है, उसके लिये उसका आत्मा ही उसका मित्र है ; किन्तु जिसने अपने शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण अपने वशमें नहीं किये हैं, उसके लिये उसका आत्मा ही, अन्यान्य बाहरी शत्रुओंकी तरह, हानि पहुँचाता है।

अन्तःकरणके वश करनेसे क्या लाभ होता है ?

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

जिसने अपने आत्माको जीत लिया है और जो शान्त है, उसका परम आत्मा सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, और मान-अपमानमें समान (अटल) रहता है।

जिसने अपने अन्तःकरणको वशमें कर लिया है और जो शान्त है वह, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी और मान-अपमान सबको समान

समझता है ; यानी उसे किसी हालतमें सुख-दुःख नहीं जान पड़ता। ऐसे निर्द्वन्द्व आत्माकाही 'परमात्मा' समाधिका विषय होता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञान से सन्तुष्ट है, जिसका मन चलायमान नहीं है, जिसने इन्द्रियोंको वश कर लिया है, उसे युक्त-योगी कहते हैं ; क्योंकि उसके लिये मिट्टी पत्थर और सोना समान है।

जो विषय गुरु या शास्त्रसे जाना जाय, उसे "ज्ञान" या "परोक्ष ज्ञान" कहते हैं। उसी विषयको जब मनुष्य युक्ति और शङ्काओंसे साफ़ करके अनुभव करता है, तब उसे, "विज्ञान" अथवा "परोक्ष ज्ञान" कहते हैं।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धु, साधु और असाधु को एक नज़रसे देखता है ; यानी सबको एकसा समझता है, वह योगियोंमें श्रेष्ठ है।

जिसमें ममता और स्नेह न हो और जो बिना प्रत्युपकारकी आशाके उपकार करे, उसे "सुहृद" कहते हैं। स्नेहके वश होकर जो भलाई करता है, उसे "मित्र" कहते हैं। जो सामने और पीठ पीछे बुरा चाहे और वैसाही करे भी, उसे "शत्रु" कहते हैं। जो दो के झगड़ेमें किसीका भी पक्ष न ले अथवा किसीकी भी बुराई या भलाई न चाहे, उसे "उदासीन" कहते हैं। जो दो आदमियोंके झगड़ेमें यथार्थ कहे; यानी दोनोंका भला चाहे, उसे "मध्यस्थ" कहते हैं। दूसरेका भला देखकर जो कुढ़े, उसे "द्वेषी" कहते हैं। जो शास्त्रकी आज्ञा अनुसार चले, उसे "साधु" कहते हैं और जो शास्त्रमें मना किये हुए भी कर्म करता है, उसे "असाधु" कहते हैं।

योगाभ्यास की विधि ।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

हे अर्जुन! योगारूढ़ पुरुषको चाहिये, कि एकान्त स्थानमें, अकेले रहकर, अन्तःकरण और शरीरको वशमें रखकर, किसी प्रकारकी इच्छा न रखकर, कोई चीज़ अपने पास न रखकर, अन्तःकरणको निरन्तर समाधान करे; यानी उसे समाधिमें लगावे।

सारांश यह है, कि योगी पुरुषको योगाभ्यास करने या समाधि लगानेके लिये किसी एकान्त स्थानमें रहना चाहिये। जहाँ मनुष्योंका आना-जाना, रहना-सहना अथवा भयानक जानवरोंका वास हो, वहाँ न रहना चाहिये। इस कामके लिये पर्वतकी गुफाएँ अच्छी हैं। अगर किसी गिरि-गुहामें भी रहे तो अकेलाही रहे, अपने साथ एक दो-चार आदमी न रखे; न वहाँ किसीको आने दे और न चेले-चेलीही बुलावे। एकान्त स्थानमें, अकेला रहकर, किसी भी पदार्थकी चाहना न रखे।

सारांश यह है, कि उसे घर, द्वार, स्त्री, पुत्र, धन, दौलत, राज-पाट आदि सबसे मुँह मोड़कर पूरा संन्यास ले लेना चाहिये।

आगे चलकर, योगाभ्यासीके लिये भगवान् बैठने, खाने और विश्राम आदि करनेके तरीके, जिनसे कि योगमें मदद मिलती है, बताते हैं। साथही योगारूढ़के विशेष चिह्न, योगके गुण और उसके सम्बन्धकी दूसरी बातें बताते हैं। सबसे पहले वह बैठने; यानी आसन जमानेका एक ख़ास तरीक़ा बताते हैं।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

साफ़ जमीनपर निश्चल आसन जमावे, ज़मीन न तो अत्यन्त

ऊँची हो और न अत्यन्त नीची हो, उसके ऊपर कुशा बिछावे, कुशा पर मृगचर्म बिछावे और मृगचर्म पर कपड़ा बिछावे।

योगाभ्यासीको, पहले, बैठनेको जगह ऐसी ढूँढ़नी चाहिये, जो साफ़ हो तथा ऊँची-नीची न हो। यदि कोई जगह स्वभावसे साफ़ न मिले, तो वह मिट्टी वग़ैरः से लीप कर साफ़ कर लेनी चाहिये। तख़्त वग़ैरः पर बैठकर योगाभ्यास नहीं बनता; क्योंकि लकड़ीकी बनी चीज़के हिलनेका खटका रहता है; किन्तु ज़मीन पर यह खटका नहीं रहता। ऊँची जगह पर बैठनेसे ध्यानमग्न योगीके गिर पड़नेका डर रहता है और नीची ज़मीनपर बैठनेसे ऊपरसे पत्थर वग़ैरःके पड़नेका डर रहता है; इसीसे अत्यन्त ऊँची-नीची ज़मीन अच्छी नहीं समझी गयी है। मतलब यह है, कि आसन ऐसी जगह लगावे, जहाँ कुछ तकलीफ़ न हो।

आसन जमाकर क्या करना चाहिये?

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

योगी उस आसन पर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंके कामोंको रोककर, चित्तको एकाग्र करके, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, योगका अभ्यास करे।

चित्तका स्वभाव है, कि वह अगली-पिछली बातोंको याद करता है। इन्द्रियोंका स्वभाव है, कि वे अपने-अपने विषयोंकी तरफ़ झुकती हैं। कान आवाज़ होनेसे उसे सुनना चाहता है, आँखें नयी चीज़ देखना चाहती हैं; इसी तरह प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयकी ओर झुकती है। अतः योगाभ्यासीके लिये अपने चित्तको तथा अपनी इन्द्रियोंको, उनके कर्मोंसे हटाकर, अपने अधीन कर लेना चाहिये। बिना चित्तके एक तरफ़ हुए और बिना इन्द्रियोंको उनके कामोंसे रोके, योगाभ्यास नहीं हो सकता।

यहाँ तक भगवान्‌ने आसनकी विधि कही ; अब वह यह बता-वेंगे, कि शरीरको किस ढँगसे रखना चाहिये ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

शरीर, सिर और गर्दनको स्थिर करके सीधा रक्खे, अपनी नाक के अगले भागपर दृष्टि रखे और इधर-उधर न देखे ।

मतलब यह है, कि योगाभ्यासी पुरुष अपने धड़, सिर और गर्दनको सीधा रक्खे ; इन्हें सीधा रखनेसे दाहिने-बायें किसी ओर नज़र न जायगी । लेकिन सीधा-रखा हुआ शरीर हिल सकता है ; इसीलिये भगवान्‌ने उसे स्थिर—अचल—रखनेको कहा है । शरीर तथा सिर और गर्दनको टेढ़ा रखने तथा उनके हिलते रह-नेसे ध्यान नहीं जम सकता ; इसलिये उन्हें सीधा और अचल रखना चाहिये । नाकके अगले भाग पर दृष्टि रखे ; यानी नाकके अगले हिस्सेको आँखसे देखता रहे, इसका यह मतलब नहीं है, कि नाकके अगले भागको ही देखता रहे । भगवान्‌का मतलब यह है, कि दृष्टिको आत्मामें लगावे और उसे बाहरी पदार्थोंके देखनेसे रोके ; क्योंकि नाक पर दृष्टि रखनेसे समाधि नहीं लगेगी । वहाँ नज़र रखनेसे मन नाकके अगले भाग परही लगा रहेगा, आत्मामें नहीं लगेगा । नाकके अगले भागपर मनके रहनेसे कुछ भी लाभ न होगा । मतलब तो चित्तके आत्मामें लगानेसे है । नाकके अगले भागपर दृष्टि रखनेका मतलब यही है, कि योगी किसी ओर न देखे, एक-चित्त हो जावे और आत्मामें ध्यान लगावे । शरीरको सीधा रखने, अचल रखने और नाकके अगले भागको देखने की बात केवल इसलिये कही गयी है, कि समाधि लगानेवाला शरीरको हिलावे नहीं और किसी तरफ़ न देखे, यहाँतक कि अपने शरीरको भी न देखे । अगर किसी ओरसे भयानक शब्द हो या कोई जीव-

जन्तु काटे तोभी उसका ध्यान न छूटे। असल मतलब यह है, कि चित्तको सब तरफ़से हटाकर, उसे एक दम आत्मामें लगा देना चाहिये। यही बात भगवान्ने इसी अध्यायके २५ वें मन्त्रमें कही है। अब साफ़ तौरपर साबित हो गया, कि नाकके अगले भागपर दृष्टि रखनेका मतलब आत्मा पर दृष्टि रखनेका है।

और भी कहा है—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

मनको शान्त करके, निर्भय होकर, ब्रह्मचर्य्य व्रतमें स्थित होकर, मनको वशमें करके, मुझमें चित्त लगाकर, मुझे सर्व्वोत्कृष्ट या अपना पुरुषार्थ समझता हुआ, आसन पर बैठे।

खुलासा—राग, द्वेष, ईर्ष्या आदिसे मनको शान्त करके, मनको शङ्का या आपत्तियोंसे निर्भय करके, गुरुकी सेवा-टहल करता हुआ और माँगकर खाता हुआ, मनको विषय-भोगोंसे हटाकर, मुझ परमानन्द-स्वरूप परमेश्वरमें ध्यान लगाकर, योगाभ्यास करे। उसे हमेशा मुझ, परमेश्वर, परमात्मा, का ध्यान करना चाहिये। उसे चाहिये, कि वह मुझे सर्व्वोत्कृष्ट अथवा परम आराध्यरूप समझे। स्त्री-प्रेमी सदा स्त्रीका ध्यान रख सकता है; किन्तु वह उसे परम आराध्य नहीं समझता। वह अपने राजाको या महादेवको या अन्य किसी देवको परम आराध्य समझ सकता है; किन्तु योगी इसके विपरीत हमेशा मेरा ध्यान करता है और मुझेही परमात्मा भी समझता है।

आगे भगवान् योगका फल बताते हैं :—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

मनको वशमें रखकर, जो योगी पहले कही हुई रीतिसे योगा-

भ्यास करता है, वह मुझमें रहनेवाली शान्तिको पाता है ; यानी उसकी मोक्ष हो जाती है।

आगे भगवान् योगीके भोजन वग़ैरःके नियम बताते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! जो बहुत ज़ियादा खाता है, जो बिल्कुलही नहीं खाता, जो बहुत सोता है और बराबर जागता रहता है, उसे योग सिद्ध नहीं होता।

खुलासा—जो ज़रूरतसे अधिक या शास्त्रके नियम-विरुद्ध अनाप-शनाप नाक तक ठूँस लेता है, उसे योग सिद्ध नहीं होता। जो बिल्कुलही नहीं खाता ; यानी निराहार रहता है, उसे भी योग सिद्ध नहीं होता। जो ज़रूरतसे ज़ियादा सोता है, उसे भी योग सिद्ध नहीं होता और जो सोताही नहीं ; किन्तु जागताही रहता है, उसे भी योग सिद्ध नहीं होता :—

"शतपथ ब्राह्मण" में लिखा है :—

जो भोजन जिसके अनुकूल है वही उसकी रक्षा करता है; उससे हानि नहीं पहुँचती। बहुत भोजन हानि करता है और कम भोजन रक्षा नहीं करता ; अतः योगीको न तो ज़रूरतसे अधिक खाना चाहिये न कम। योगीको चाहिये, कि आधे पेट भोजन करे, एक चौथाई जलसे और शेषका चौथाई हवाके घूमनेको ख़ाली रखे।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

जो मनुष्य नियमानुसार आहार-विहार करता है, नियमानुसार कर्म करता है, नियमानुसारही जागता और सोता है, उसका योग उसके दुःखोंका नाश कर देता है।

योगीको चाहिये, कि शास्त्रके नियमानुसार इतना खाय, जिससे

रोग न हो और शरीर ठीक बना रहे। जो लोग अधिक खा लेते हैं, उन्हे अजीर्ण ज्वर आदि रोग हो जाते हैं। रोगी शरीरमें योग-साधन हो नहीं सकता ; इसी भाँति जो कम खाते हैं या निराहार रह जाते हैं, उनकी अग्नि उनकी धातुओंको जला देती है ; इससे वे निर्बल और निस्तेज हो जाते हैं और योगाभ्यास नहीं कर सकते। इसी तरह बहुत चलना भी न चाहिये। शास्त्रमें एक योजन ; यानी ४ कोससे अधिक चलना ठीक नहीं कहा है। इसी भाँति रातको चार या साढ़े चार घण्टे सोना चाहिये और बाक़ी समय जागना चाहिये। बिल्कुल न सोनेसे काया क़ायम नहीं रह सकती और बहुत सोनेसे योग-साधनमें रुकावट पड़ती है। सारांश यह है, कि योगीको खाना, पीना, चलना, फिरना, जप वग़ैरः करना और सोना-जागना नियम या प्रमाणसे करना चाहिये। नियम पूर्व्वक खाने-पीने आदिसे शरीर ठीक रहता है और योगाभ्यासमें विघ्न नहीं होता। योगाभ्यासके बराबर चले जानेसे, अविद्या नाश होकर, ब्रह्मविद्याकी उत्पत्ति होती है। ब्रह्मविद्यासे अविद्या सहित सारे दुःख नाश हो जाते हैं।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

जब मनुष्य अपने जीते हुए मनको एक मात्र आत्मामें लगा लेता है और किसी प्रकारकी कामना—इच्छा—नहीं रखता, तब वह सिद्ध योगी कहलाता है।

मतलब यह है, कि जब मनुष्यका चित्त एकाग्र होकर एकमात्र आत्मानन्दमें मग्न हो जाता है, तब उसे संसारी चीज़ोंसे कुछ सरोकार नहीं रहता और न उसे देखी या अनदेखी चीज़ोंकी चाहना रहती है, तब वह सिद्धयोगी कहलाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जिस योगीने अपना चित्त वशीभूत कर रक्खा है और जो आत्मामें ध्यानयोगका अभ्यास करता है, उसका चित्त निर्वातस्थानके दीपकके समान अचल होता है।

खुलासा—जिस तरह पवनरहित स्थानमें रखा हुआ दीपक बिना हिले-डोले जलता है; उसी भाँति आत्मध्यानमें रत योगीका चित्त कभी हिलता-डोलता नहीं; यानी चलायमान नहीं होता। यहाँ आत्मध्यानमें लगे हुए योगीके चित्तकी स्थिरता की उपमा उस दीपक से दी है, जो बिना हवाके स्थानमें स्थिरतासे जलता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

जब योगाभ्यासके कारणसे रुका हुआ चित्त शान्त हो जाता है, तब योगी समाधियों द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरणसे परम चैतन्य ज्योतिः स्वरूप आत्माको देखता है और अपने आत्मामेंही सन्तुष्ट रहता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवाऽयं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

बुद्धिमान् जब उस अनन्त सुखको अनुभव कर लेता है, जो केवल बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, जो इन्द्रियोंके विषयोंसे दूर है; यानी इन्द्रियोंसे स्वतन्त्र है, तब वह अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर होकर उससे कभी नहीं डिगता।

खुलासा—जब बुद्धिमान् उस सुखको जान जाता है, जो अनन्त है, जो इन्द्रियोंके विषयोंसे नहीं हो सकता, केवल शुद्ध बुद्धिसेही ग्रहण किया जा सकता है; तब वह अपने आत्मामेंही स्थिर हो जाता है और वहाँसे कभी चलायमान नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियों-द्वारा वह सुख हरगिज़ नहीं जाना जा सकता। वह सुख इन्द्रियोंके सुखसे बिल्कुल स्वतन्त्र है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ २२ ॥

जब वह उस सुखको पा जाता है, तब उससे अधिक किसी लाभको नहीं समझता। उस सुखमें स्थित होकर वह, बड़ा भारी दुःख पाकर भी, विचलित नहीं होता।

इसका आशय यह है, कि जब योगी उस अनन्त सुखको जान जाता है, तब वह आत्मामेंही मगन रहता है। उसे और सारे सुख आत्मामें रत रहनेके सुखसे हेच मालूम होते हैं। जब उसका चित्त आत्मामें लग जाता है, तब वह तलवार आदिके आघात होने पर भी उससे चित्तको नहीं हटाता।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

जिस अवस्थामें ज़रा भी दुःख नहीं रहता, उस अवस्थाका नाम ही 'योग' है। उस योगका अभ्यास स्थिरचित्त होकर तथा उद्वेग-रहित होकर अवश्य करना चाहिये।

योगाभ्यास-सम्बन्धी और बातें।

संकल्पप्रभावान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४ ॥
शनैःशनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली तमाम इच्छाओंको बिल्कुल त्यागकर, विवेकयुक्त मनके द्वारा सब इन्द्रियोंको सब ओरसे रोककर, धीरे-धीरे, दृढ़ बुद्धिसे, सबसे मन हटाकर, आत्मामें मनको लगाना चाहिये और किसी भी विषयकी चिन्ता न करनी चाहिये।

खुलासा—"जो कुछ है, वह आत्माही है, आत्माके सिवा और

कुछ भी नहीं है," यह सिद्धान्त मनमें रखकर पुरुषको बराबर आत्मामेंही लीन रहना चाहिये। यही योगका सबसे ऊँचा भेद है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत ॥ २६ ॥

मन अपनी स्वाभाविक चंचलताके कारणसे भटकने लगता है। यह मन जहाँ जाय, वहाँसे इसे लौटाकर आत्माके अधीन करना चाहिये।

खुलासा—मनका स्वभाव ही चञ्चल है; अतः वह अपनी स्वाभाविक चञ्चलताके कारण से एक जगह नहीं ठहरता। शब्द आदि विषय इस मनको एक जगह नहीं ठहरने देते। अगर मनमें यह स्वाभाविक कमज़ोरी न होती, तो मनका आत्मामें लगा लेना कुछ मुश्किल न होता। मनका इन्द्रियोंके विषयोंसे चञ्चल हो जानाही आत्मामें लौ लगानेमें रुकावट करता है।

किन्तु मनको, विषयोंका थोथापन, उनमें कुछ भी सुखका न होना, संसारी पदार्थोंकी असारता आदि, समझा कर, इनकी ओर जानेसे रोकना चाहिये। अगर वह अपने स्वभावके कारण विषयों की ओर चलाही जाय, तो उसे लाकर फिर आत्मामें लगा देना चाहिये। मन सहजमें वश न होगा, धीरे-धीरे अभ्यास करनेसे और बार-बार विषयोंसे हटाकर लानेसे वश होगा। सारा दार-मदार मनके वश करने परही है; अतः मनपर सदा नज़र रखनी चाहिये। अभ्यास करते-करते चञ्चल मन आत्मामें पकाईसे ठहर जायगा; जब वह आत्मामें लग जायगा, तब उसे शान्ति मिलेगी, दुःखका लवालेश भी न रहेगा।

ध्यान-योगका फल।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

जिसका मन बिल्कुल शान्त हो गया है, जिसका रजोगुण नष्ट हो गया है, जो ब्रह्ममय और निष्पाप होगया है, उस योगीको, निश्चय ही, उत्तम सुख मिलता है ।

खुलासा—जिसका मन एकदम शान्त हो गया है; यानी जिसमें राग-द्वेष आदि दुःखके कारण बिल्कुल नहीं रहे हैं, जो जीवन्मुक्त हो गया है, (जिसको मुक्ति जीते जीही हो गयी है,) यानी जिसके मनमें यह दृढ़ विश्वास हो गया है, कि 'सबही ब्रह्म हैं' और इसी विश्वासके कारण जो निष्पाप हो गया है ; यानी जिसमें धर्म-अधर्म की छूत नहीं रह गयी है, ऐसे योगीको उत्तम सुख मिलता है ।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

इस तरह सदा अपने मनको आत्मामें लगानेवाला, धर्म-अधर्म से रहित योगी, आसानीसे, ब्रह्ममें मिलनेका अखण्ड-अनन्त—सुख पाता है ।

मतलब यह है, कि सदा बिना विघ्न-बाधाओंके योगाभ्यास करनेवाला; अथवा लगातार मनको आत्मामें लगानेवाला ब्रह्ममें मिल जाता है और उसे ऐसा सुख मिलता है, जिसका कभी नाश नहीं हो सकता, क्योंकि इस मौक़ेपर जीव और ब्रह्मकी एकता हो जाती है ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

जिसका चित्त—अन्तःकरण—योगमें पक्का हो गया है और जो सबको समान दृष्टिसे देखता है, वह सब जीवोंमें अपने आत्माको और अपने आत्मामें सब जीवोंको देखता है ।

खुलासा—जिसका अन्तःकरण योगमें दृढ़ हो जाता है, वह समझने लगता है, कि ब्रह्मासे लेकर घासके गुच्छे तकमें एकही

आत्मा है, किसीमें भेद-भाव नहीं है, कोई अपना-पराया नहीं है। आत्मा और परमात्मा एकही है ; इसी से उसे सारे जगत्में, हर प्राणीमें, परमात्मा-ही-परमात्मा दिखायी देने लगता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो सब प्राणियोंमें मुझे देखता है और सब प्राणियोंको मुझमें देखता है, मैं उसकी नज़रसे ओट नहीं होता और न वह मेरी नज़र से ओट होता है ।

जो मनुष्य, सब प्राणियोंके आत्मा, मुझ, वासुदेवको, सब प्राणियोंमें देखता है और जो, ब्रह्मा—सृष्टिके रचनेवाले—तथा सब प्राणियोंको, सबके आत्मा, मुझमें देखता है, उस आत्माकी एकता देखनेवालेके पाससे मैं—ईश्वर—कभी दूर नहीं होता और न वह बुद्धिमान्‌ही मुझसे दूर होता है ; यानी वह सदा मेरे पास रहता है और मैं सदा उसके पास रहता हूँ ; क्योंकि उसका आत्मा और मेरा आत्मा एकही है। जब उसका आत्मा और मेरा आत्मा एकही है, तब दोनोंके आत्मा एक दूसरेमें सदा मौजूद रहेंगे, इसमें क्या सन्देह है ?

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

जो सबको एक समझता है, सब जीवोंमें रहनेवाले मुझको भजता है, वह चाहे जिस तरह ज़िन्दगी क्यों न बसर करे, वह मुझमेंही रहता है ।

ब्रह्मके साथ एकताको प्राप्त हुआ ज्ञानी ; यानी अपने आत्माको ब्रह्म समझनेवाला; अथवा सब जीवोंमें मुझे देखनेवाला और मुझमें सबको देखनेवाला, चाहे जिस तरीक़ेसे जीवन क्यों न चलावे, मुझमें ही रहता है। वह सदा जीवन्मुक्त है (जीता हुआ ही मुक्त है)। उसकी मुक्तिकी राहमें कोई चीज़ रुकावट नहीं पैदा कर सकती।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

हे अर्जुन ! जिसे सबकी एकतामें विश्वास है, जो सबके दुःख-सुखको अपने दुःख-सुखके समान समझता है, वह निश्चयही सबसे बड़ा योगी है।

जिसकी समझमें सब आत्मायें एक हैं, वह समझता है, कि जिससे मुझे सुख होगा, उससे दूसरोंको सुख होगा और जिससे मुझे दुःख होगा, उससे दूसरोंको दुःख होगा। ऐसा ज्ञानी किसी प्राणीको दुःख नहीं पहुँचाता। जिसमें यह शुद्ध ज्ञान है, वह योगियोंमें श्रेष्ठ है ; यानी मैं उसे सब योगियोंसे ज़ियादा पसन्द करता हूँ।

अभ्यास और वैराग्य योगके निश्चित उपाय हैं।

अर्जुन उवाच।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अर्जुन ने कहा :—

हे मधुसूदन ! आपने जो सबको एकसा समझनेका योग बताया, वह मनकी चंचलताके कारण सदा मनमें नहीं रह सकता।

सभी जानते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

हे कृष्ण ! मन चंचल, बलवान्, हठी और बखेड़िया है। मेरी रायमें, जिस भाँति हवाका रोकना कठिन है ठीक उसी तरह इस मनका रोकना भी कठिन है।

मन ख़ाली चञ्चलही नहीं है, लेकिन बखेड़िया भी है। वह शरीर और इन्द्रियोंमें हलचल मचा देता है और उन्हें दूसरोंके अधीन कर देता है। वह किसी तरह भी दबाने योग्य नहीं है।

इसीसे कहता हूँ, कि हवाको रोकना या अधीन करना जितना मुश्किल है ; मनका रोकना या अधीन करना भी उतनाही बल्कि उससे कहीं अधिक, कठिन है ।

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

भगवान्ने कहा :—

हे महाबाहो ! यह बिल्कुल सच है, कि मन चंचल है और इसका वश करना बहुत ही कठिन है ; लेकिन हे कुन्तीपुत्र ! अभ्यास और वैराग्य से मन वश में हो सकता है ।

मन अपने चञ्चल स्वभावके कारण बारम्बार भटकता है । वह जितनी बार भटक कर कुराहमें जाय, उसे उतनीही बार सुराहमें लाकर लगा लेना चाहिये ; इसीको 'अभ्यास' कहते हैं । मनुष्यके मनमें देखी और अनदेखी सुखकी चीज़ोंकी इच्छा पैदा होती है । उन चीज़ोंमें दोष निकाल कर, उनकी इच्छा न करनाही 'वैराग्य' कहलाता है । 'अभ्यास' और 'वैराग्य' द्वारा संसारी पदार्थोंसे मनकी गति रोकी जा सकती है । योगाभ्यासीके मनमें पहले वैराग्य होना चाहिये; पीछे अभ्यास । बिना वैराग्य हुए, अभ्यास काम न देगा ।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

हे अर्जुन ! जिसने मन वश में नहीं किया है, उसे योग प्राप्त होना कठिन है ; लेकिन जो मनको वशमें करके योगकी चेष्टा करता है, वह योगको प्राप्त कर लेता है ।

जान लेना चाहिये, कि जीव और ब्रह्मकी एकताको 'योग' कहते हैं । जो पुरुष मनको बिना वश कियेही योग करता है, उसे योग नहीं मिलता ; लेकिन जो वैराग्य और अभ्याससे मनको वशमें कर लेता है, उसे योग—अनन्त सुख—मिल जाता है । बिना वैराग्य

और अभ्यासके, मन वशमें नहीं होता और मनके बिना वश हुए हरगिज़ योग सिद्ध नहीं हो सकता। मालूम हुआ कि मनके वशमें करनेके 'वैराग्य और अभ्यास' ये दो पक्के उपाय हैं।

योग-पथ से गिरजानेवाले की हालत ।

अर्जुनके मनमें यह ख़याल आया, कि अगर कोई पुरुष योगाभ्यास में लग जाय ; यानी योग-साधनकी कोशिश करने लगे और लोक-परलोक-साधनके सारे कामोंको छोड़ दे ; अगर उस पुरुषको योगसिद्धिका फल और मोक्षका ज़रिया—जीव और ब्रह्मकी एकताका शुद्ध ज्ञान—प्राप्त होनेके पहलेही, दैवयोगसे मौत आ दबावे और मृत्यु-समयमें उसका मन योगकी राहसे भटककर विषयोंमें जा लगे, तो उसकी क्या हालत होगी ? क्या योग-मार्गसे गिरा हुआ पुरुष नष्ट हो जायगा ? इस सन्देहके दूर करनेके लिये,

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अर्जुन ने कहा :—

हे कृष्ण ! जो पुरुष अभ्यास नहीं करता है ; किन्तु योग में विश्वास—श्रद्धा—रखता है, अगर ऐसे पुरुषका मन तत्वज्ञान—जीव ब्रह्म की एकताका ज्ञान—पानेके पहले ही योगसे हट जाय ; तो उसकी क्या गति होगी ?

खुलासा—जिसका योगके बल या प्रभावमें विश्वास हो ; लेकिन वह योगमार्गमें चेष्टा न करता हो ; जीवनके अन्तिम समयमें, उसका मन योगसे हट जाय ; तो योगका फल—शुद्ध ज्ञान—जीव ब्रह्मकी एकताका ज्ञान—पाये बिना उसकी क्या गति होगी ?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढ़ो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

हे महाबाहो! दोनों से भ्रष्ट हुआ और ब्रह्ममार्ग से विमूढ़ हुआ वह पुरुष, क्या निराधार बादलके टुकड़े की तरह नष्ट नहीं हो जाता?

मतलब यह है कि कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनोंसे भ्रष्ट हुआ और ब्रह्म-मार्गसे विचलित हुआ पुरुष क्या उस बादलके टुकड़ेकी तरह नाश नहीं हो जाता, जो और बादलोंसे अलग होकर, हवाके ज़ोरसे नाश हो जाता है? क्योंकि वह न तो कर्म करके स्वर्ग आदि ही पा सका और न शुद्ध ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष-भागी हो सका। क्या वह दोनों मार्गोंसे गिरकर—बहँक कर—नष्ट नहीं होगा?

एतं मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते॥ ३९॥

हे कृष्ण! आप मेरे इस सन्देहको बिलकुल दूर कर दीजिये; क्योंकि आपके सिवा और कोई ऐसा नहीं है, जो सन्देहको दूर कर सके।

खुलासा—अर्जुन कहता है, कि हे भगवन्! मेरे इस सन्देहको न तो ऋषि-मुनिही दूर कर सकते हैं और न कोई देवताही दूर कर सकता है। एक मात्र आपही इस सन्देह को दूर कर सकते हैं।

श्रीभगवानुवाच।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृतकश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

भगवान् ने कहा:—

हे पार्थ! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें, कहीं भी नाश न होगा; हे तात! निश्चय ही, किसी भी अच्छा काम करनेवाले की बुरी गति कभी नहीं होती।

भगवान्‌के कहनेका सारांश यह है, कि जो योग-भ्रष्ट हो जाता है, उसे वर्त्तमान जन्मसे बुरा जन्म नहीं मिलता।

अर्जुन फिर सवाल करता है, कि जब योग-मार्गसे भ्रष्ट होनेवालेकी बुरी गति न होगी—वर्त्तमान जन्मसे बुरा जन्म न मिलेगा—तब उसका क्या हाल होगा? भगवान् जवाब देते हैं :—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीःसमाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

जो योगभ्रष्ट हो जाता है, वह मरनेके बाद पुण्यवानोंके लोकोंमें पहुँचकर, वहाँ अनगिन्ती वर्षोंतक वास करता है और पीछे किसी पवित्र और किसी धनवान्‌के घरमें फिर जन्म लेता है।

भगवान्‌ने यह बात ध्यान-योगमें लगे हुए संन्यासीके विषयमें कही जान पड़ती है। मतलब यह है, कि जो योग-मार्गसे बहँककर मर जाता है, वह मरनेके पीछे उस लोक में जाता है, जिसमें अश्वमेध-यज्ञके करनेवाले जाते हैं। वहाँ वह पूर्ण सुख भोग कर, फिर, इस मृत्युलोकमें, किसी वेदोक्त विधिसे कर्म करनेवाले धनवान्‌के घरमें, जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा, वह बुद्धिमान् योगियोंके कुटुम्बमें ही जन्म लेता है। ऐसा जन्म इस लोकमें कठिनता से होता है।

मतलब यह है, कि अगर वह धनवान्‌के घरमें जन्म नहीं लेता; तो किसी निर्धन, परन्तु बुद्धिमान्, योगीके घरमें जन्म लेता है। लेकिन धनवान्‌के घर की अपेक्षा निर्धन योगीके घरमें जन्म बड़े भाग्यसे मिलता है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

वहाँ उसे पहले जन्ममें अभ्यास की हुई विद्या का संयोग हो

जाता है; तब वह पहले की अपेक्षा अधिक उत्साह से मुक्ति पाने की चेष्टा करता है।

खुलासा—जब वह किसी बुद्धिमान् योगीके घरमें अथवा वेद-विधिसे चलनेवाले धनीके घरमें जन्म लेता है; तो वहाँ उसकी पहले जन्मकी अभ्यास की हुई ब्रह्म-विद्या, फिरसे संयोग पाकर, ताज़ा हो जाती है। उस समय वह मोक्ष पानेके लिये पहिले जन्ममें की हुई कोशिशोंकी बनिस्बत औरभी उत्साह—जोश—से कोशिश करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

अवश होने पर भी, पूर्वजन्मका अभ्यास उसे योगमार्ग की ओर झुकाता है। वह पुरुष भी जो केवल योगके विषयको जानना चाहता है, शब्द-ब्रह्म से ऊपर पहुँच जाता है।

खुलासा—जबकि योग-भ्रष्ट पुरुष किसी राजा-महाराजा अथवा बुद्धिमान्के घरमें जन्म ले, तब सम्भव है, कि वह अपने मा, बाप, स्त्री, पुत्र, धन आदिके मोहमें फँस जावे, विषयोंके अधीन हो जावे, विषयोंके सामने उसका कुछ वश न चले; तोभी उसका पहले जन्मका योग-साधनका अभ्यास उसे योग-मार्गकी ओर झुकाता है। अगर उस पुरुषने कोई अधर्म न किया हो, तो योगके असरकी फ़ौरन जीत होती है। अगर उसने अधर्म किया हो, तो कुछ दिन योगका असर दबा रहता है; लेकिन ज्योंही अधर्मका नाश हो जाता है, त्योंही योगका असर अपना ज़ोर करने लगता है। योगका असर कुछ दिनके लिये अधर्मके ज़ोरके मारे छिप जाता है, परन्तु उसका नाश नहीं होता।

सारांश यह है, कि जो योगी पूर्वजन्ममें योगभ्रष्ट हो जाता है, वह अपने पहले योगाभ्यासके असरसे, विषय-वासनाओंको छोड़कर, योग-मार्गमें काम करने लगता है। वह, केवल योग-रीति जानने की इच्छा करनेके कारण, शब्द ब्रह्मसे छुटकारा पा जाता है; यानी

वेदमें कहे हुए कर्म-काण्डोंसे छुटकारा पा जाता है; तब उसका तो कहनाही क्या है, जो योगको जानता है, रात-दिन स्थिरचित्त होकर योगकाही अभ्यास करता है? अर्थात् योगाभ्यासीके कर्म-काण्डोंसे छुटकारा पानेमें तो सन्देहही क्या है?

खूब खुलासा यह है, कि जो पुरुष, भूलसे भी, क्षण भरके लिये, ऐसा विचार करता है, कि "मैं ब्रह्म हूँ" वह जन्मजन्मान्तरके पापोंसे छुटकारा पा जाता है और जो क़ायदे से योगाभ्यास करता है, ब्रह्मके विचारमें दृढ़ चित्तसे लीन रहता है, उसकी मुक्ति होनेमें क्या शक है?

योगीका जीवन क्यों अच्छा है?

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

जो योगी परिश्रम-पूर्वक इस तरहकी चेष्टा करता है, वह पापोंसे शुद्ध होकर और अनेक जन्मोंमें योग-सिद्धि लाभ करके, उत्तम गति को पहुँच जाता है ।

खुलासा—वह बारम्बार जन्म लेता है और धीरे-धीरे हर जन्ममें योगमें निपुणता प्राप्त करता रहता है। अन्तमें, अनेक जन्मोंमें लाभ की हुई योग-निपुणताके मिल जानेसे उसे योग-सिद्धि हो जाती है। योग-सिद्धि होनेपर उसे शुद्ध ज्ञान हो जाता है। शुद्ध ज्ञानके हो जानेपर उसको मोक्ष मिल जाती है; अर्थात् उसे फिर मरना और जन्म लेना नहीं पड़ता।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

हे अर्जुन ! योगी तपस्वियों से, ज्ञानियों से और अग्निहोत्र कर्म करनेवालों से श्रेष्ठ है; इसलिये तू योगी हो ।

खुलासा—जो पञ्चाग्नि तपते हैं, जो रात-दिन धूनी लगाये

रहते हैं, जो नदियोंमें खड़े-खड़े जप किया करते हैं; जो व्रत-उपवास कर-करके अपनी देहको क्षीण कर डालते हैं, जो रात-दिन शास्त्रोंके अर्थ-विचारमें लगे रहते हैं, जो अग्निहोत्र आदि कर्म करते हैं, जो कुएँ तालाब, बावड़ी आदि खुदाते हैं, धर्मशालायें बनवाते हैं, उन सबसे योगी उत्तम है।

इसका मतलब यह नहीं है, कि उपरोक्त कर्म करने वाले तपस्वी, विद्वान्, व्रत करनेवाले, कूएँ-तालाब आदि बनवानेवाले ख़राब हैं अथवा ये कर्म न करने चाहियें। भगवान्‌ने इन सब कर्म करनेवालोंसे योगीका मुक़ाबला किया है और इन सबसे योगीको श्रेष्ठ ठहराया है। तात्पर्य्य यह है, कि उपरोक्त कर्म करने वाले भी दर्जे-ब-दर्जे अच्छे हैं; मगर योगीसे उन सबका दर्जा नीचा है।

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
> श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

जो श्रद्धापूर्वक, मुझमें दृढ़तासे चित्त लगाकर, मुझको भजता है; उसे मैं सब योगियों से उत्तम समझता हूँ।

खुलासा—जो योगी रुद्र-आदित्य आदिका ध्यान करते हैं, उन सबसे वह योगी, जो एकमात्र मुझ, वासुदेव, में श्रद्धा-पूर्व्वक चित्त लगाता है और मेराही भजन करता है, उत्तम है। और भी साफ़ यों कह सकते हैं, कि महादेव, सूर्य्य आदि देवताओंकी भक्ति करने वालोंसे, मुझमें, अपनेमें और संसारके प्राणीमात्रमें भेद न समझने वाला, सबको ब्रह्म समझनेवाला, एक मात्र ईश्वर, मुझ वासुदेवके भजनेवालेका दर्जा ऊँचा है।

सातवाँ अध्याय ।

ध्यानसे ईश्वर की प्राप्ति ।

छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकसे कई प्रश्न उठते हैं, किन्तु अर्जुन ने एक भी प्रश्न नहीं किया। अर्जुनके बिना पूछेही, उसके मनमें उठे हुए प्रश्न और शङ्काओंका जवाब भगवान् इस सातवें अध्याय में देते हैं। जिसका ध्यान या भजन किया जाय, उसका स्वरूप जानना बहुतही ज़रूरी और सबसे पहली बात है; इसीसे भगवान्ने कहा—

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

भगवान् ने कहा :—

हे अर्जुन ! अपना चित्त मुझमें लगाकर, योग साधन करता हुआ, मेरी शरण आकर, मुझे, तू पूर्णरूपसे, सन्देह-रहित होकर, जिस तरह जानेगा सो सुन ।

खुलासा—योगी योग-साधन करता है; अथवा चित्तकी दृढ़ता का अभ्यास करता है और मेरा आश्रय लेता है, मेरी शरणमें आता है; किन्तु जो मानवीय फल प्राप्त करना चाहता है, वह अग्निहोत्र, तपस्या, दान वग़ैरः कर्म करता है। योगी इसके विपरीत सब उपायोंको छोड़कर, अपना चित्त एक मुझमें लगाकर, मेरीही शरण लेता है। हे अर्जुन! ध्यान लगाकर सुन, मैं तुझे वह तरकीब बतानेवाला हूँ, जिससे तू पहले कहे हुए कर्मों को करता हुआ,

मुझे, पूरे तौरपर, बिना किसी प्रकारके संशयके जान जायगा ; यानी तुझे इस बातका ज्ञान निस्सन्देह हो जायगा, कि भगवान् ऐसे हैं।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तुझे इस ज्ञानको अनुभव और युक्तियों सहित सिखाऊँगा, जिसके जान लेने पर, यहाँ, और कुछ जानने को बाकी नहीं रहता।

खुलासा—इस ईश्वरीय ज्ञानको मैं तुझे खाली शास्त्रोंके ढँगसे नहीं सिखाऊँगा ; बल्कि अनुभव और युक्तिओंसे सिखाऊँगा। वह ज्ञान ऐसा है, कि उसको जाननेवाला सर्वज्ञ और सर्व्वदर्शी हो जाता है। उसके जान जानेवालेको फिर इस जगत्में और कुछ भी जाननेकी ज़रूरत नहीं रहती ; उसके जाननेसे मोक्ष मिल जाती है। मोक्षके उपाय जाननेके सिवा और जाननेकी बातही क्या है ? लेकिन इस ज्ञानका प्राप्त करना है कठिन।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हज़ारों मनुष्योंमें से कोई एक कदाचित् इस ज्ञानके जानने की कोशिश करता है ; कोशिश करनेवालोंमें से कोई एक शायद मेरे स्वरूप को ठीक-ठीक जानता है।

ईश्वरीय प्रकृति से सृष्टिका फैलाव।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेवच।
अहङ्कार इतीयंमे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इस तरह मेरी प्रकृति आठ प्रकार की है।

खुलासा—यहाँ "पृथ्वी" शब्द "गन्ध" तन्मात्राके लिये, "जल" शब्द "रस" तन्मात्राके लिये, "अग्नि" शब्द "रूप" तन्मात्रा के लिये,

"वायु" शब्द "स्पर्श" तन्मात्राके लिये और "आकाश" "शब्द" तन्मात्राके लिये प्रयोग किया गया है। मतलब यह है, कि ऊपर जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश लिखे गये हैं, उनसे उनके मूल तत्व—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द समझने चाहियें। इसी भाँति "मन" अपने कारण "अहङ्कार" की जगह आया है। "बुद्धि" "महत्तत्व" के लिये आयी है, क्योंकि महत्तत्व अहङ्कारका कारण है; और "अहङ्कार" "अव्यक्त" की जगह आया है। जिस तरह विष मिला हुआ भोजन विष कहलाता है; उसी तरह अव्यक्त, प्रथम कारण, अहङ्कारकी वासनासे मिलकर अहङ्कार कहलाता है; अहङ्कारसेही शब्द, रस, रूप आदि पैदा हुए हैं; हमको अपने साधारण अनुभवसे भी मालूम होता है, कि हर जीवकी चैतन्यताका कारण "अहङ्कार" है।

खूब खुलासा यह है, कि अव्यक्तसे महत्तत्व, महत्तत्वसे अहङ्कार और अहङ्कारसे गन्ध, रस, रूप आदि पैदा हुए और इन सबसे यह जगत् रचा गया है।

सारांश यह है, कि ईश्वरकी प्रकृति इन आठ भागोंमें बँटी हुई है—(१) गन्ध (२) रस (३) रूप (४) स्पर्श (५) शब्द (६) अहङ्कार (७) महत्तत्व (८) अव्यक्त। इस आठ प्रकारकी प्रकृतिके अन्तर्गतही यह सारा जड़ प्रपञ्च है। यों भी कह सकते हैं, कि यह सारा जगत् इसी आठ प्रकारकी प्रकृतिसे रचा गया है। इसी को ईश्वरीय माया भी कहते हैं।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

यह अपरा प्रकृति है; इससे भिन्न मेरी जीवरूप परा प्रकृति है, जिसने इस जगत् को धारण कर रक्खा है।

खुलासा—मेरी प्रकृतियाँ दो भाँति की हैं। दोनोंमें बिल्कुल समानता नहीं है। एक दूसरीमें उतनाही भेद है, जितना कि रात

और दिन में । इन दोनोंमें एक जड़ और दूसरी चेतन है ।

जिस आठ प्रकारकी प्रकृतिका ज़िक्र मैं अभी-अभी कर चुका हूँ, वह "अपरा" प्रकृति है । यह प्रकृति नीचे दर्जेकी है ; क्योंकि यह अनेकानेक अनर्थ करानेवाली, संसार-बन्धनमें फँसानेवाली और जड़ है ।

इस "अपरा" प्रकृतिके सिवा जो मेरी एक प्रकृति और है, वह "परा" प्रकृति है । वह प्रकृति ऊँचे दर्जे की है ; क्योंकि वह शुद्ध है, मेरी आत्मस्वरूप है, उसीने इस जड़ जगत्को धारण कर रक्खा है ।

मतलब यह है, कि मेरी इन जड़ और चेतन दोनों प्रकृतियोंसे ही जगत्की रचना हुई है । इन दोनों प्रकृतियोंमें मेरी "परा" प्रकृति श्रेष्ठ है ; क्योंकि उसीसे जीवका इन्द्रियोंमें चेतन्यता है, वह मेरी खास आत्मा है । "अपरा" प्रकृति चित्ररूप है और "परा" प्रकृति उसमें जीव-रूप चैतन्य है ।

सारांश यह है, कि इस जड़ जगत्में—प्राणीकी कायामें—मैं, भगवान्, ही जीवरूपसे घुसा हुआ हूँ ।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! तू इस बातको जान रख, कि सारे प्राणी इन दोनों प्रकृतियों से ही पैदा हुए हैं ; इसलिये मैं ही सारे जगत्को पैदा करनेवाला और नाश करनेवाला हूँ ।

खुलासा—मेरी 'अपरा' और 'परा' दोनों प्रकृतियोंसेही समस्त प्राणी पैदा होते हैं ; यानी मेरी प्रकृतियाँ ही सब प्राणियोंकी उत्पत्तिस्थान—गर्भकोष—हैं ; इसलिए मैंही इस जगत्का आदि और अन्त हूँ ; यानी इन दो प्रकारकी प्रकृतियोंके द्वारा, मैं सर्व्वज्ञ सर्व्वदर्शी ईश्वर जगत्की रचना करता हूँ ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७॥

हे धनंजय! मुझ परमात्मासे ऊँचा और कोई नहीं है; जिस तरह सूतमें मणियोंके दाने पोये रहते हैं; उसी तरह यह जगत् मुझमें पोया हुआ है।

खुलासा—मुझ परमात्माके सिवा जगत्‌का और कोई कारण नहीं है; यानी मैं अकेलाही इस जगत्‌का कारण हूँ। इसीसे सारे प्राणी और तमाम संसार मुझमें उसी तरह गुँथा हुआ है, जिस तरह तानेमें कपड़ा अथवा डोरेमें मनिये गुँथे रहते हैं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८॥

हे कुन्तीपुत्र!! जलोंमें रस मैं हूँ; सूर्य्य और चन्द्रमा में प्रभा—चमक—मैं हूँ; सब वेदोंमें ओंकार मैं हूँ; आकाशमें शब्द मैं हूँ; मनुष्योंमें पुरुषार्थ मैं हूँ।

जलका सार 'रस' है। वह रस मैं हूँ। जिस तरह मैं जलमें रस हूँ, उसी तरह मैं चाँद और सूरजमें रौशनी हूँ। सब वेदोंमें जो ओंकार-रूप प्रणव है, वह मैं हूँ। इसी तरह मनुष्यों में मनुष्यता मैं हूँ; यानी मनुष्यों में वह चीज़ मैं हूँ जिससे मनुष्य, मनुष्य समझा जाता है। आकाशका सार 'शब्द' है, वह शब्द मैं हूँ।

सारांश यह है, कि जलका रस, सूरज, चाँद, प्रणव, मनुष्य और शब्द—ये सब मेरे शरीर हैं और मैंही इनमें रहनेवाला शरीरी हूँ। मेरे बिना इनमें कुछ नहीं है। मेरे बिना जलमें रस नहीं है। रस-हीन जल कुछ भी नहीं है। मेरे बिना सूरज और चन्द्रमामें रौशनी नहीं है। बिना रौशनीके सूरज और चन्द्रमा कुछ भी नहीं हैं। मनुष्य-शरीरमें मेरे रहनेसेही मनुष्य, मनुष्य है। अगर उसमें मैं न रहूँ, तो वह मनुष्य नहीं मिट्टी है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथ्वीमें पवित्र गन्ध मैं हूँ, आगमें चमक मैं हूँ, सब प्राणियोंमें जीवन मैं हूँ और तपस्वियोंमें तप मैं हूँ ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

हे पार्थ ! मुझे सब प्राणियोंका सनातन बीज समझ; बुद्धिमानों-में बुद्धि मैं हूँ ; तेजस्वियों में तेज मैं हूँ ।

खुलासा—सब प्राणियोंकी पैदायशका नित्य कारण मैं हूँ । बुद्धिमानोंकी विवेकशक्ति मैं हूँ । तेजस्वियोंका तेज मैं हूँ ।

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! बलवानोंमें, काम और रागरहित, बल मैं हूँ ; सब प्राणियों में, धर्म-अविरुद्ध, कामना मैं हूँ ।

खुलासा—जो चीज़ें इन्द्रियोंके सामने नहीं हैं ; यानी जो प्राप्त नहीं हुई हैं, उनकी चाहना को "काम" कहते हैं और जो चीज़ें इन्द्रियोंके सामने मौजूद हैं; यानी जो मिल गयी हैं, उनसे प्रेम कर-नेको "राग" कहते हैं । मतलब यह है, कि मैं वह बल हूँ जो शरीर क़ायम रखनेके लिये ज़रूरी है ; किन्तु निश्चयही मैं वह बल नहीं हूँ, जो इन्द्रियोंके विषयोंमें चाहना और प्रेम पैदा करता है ; अर्थात् संसारी नाशमान् पदार्थोंकी चाह और उनमें मुहब्बत पैदा करता है । अतः मैं वह कामना हूँ, जो शास्त्रोंके विरुद्ध नहीं है ; यानी मैं खाने-पीने वग़ैर: की कामना हूँ, जो शरीर-पोषणके लिये आवश्यक है ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

शम दम आदि सतोगुणी भाव, हर्ष गर्व आदि रजोगुणी भाव

और शोक मोह आदि तमोगुणी भावोंको मुझसे ही पैदा हुए जान; तथापि मैं उनमें नहीं हूँ; वे मुझ में हैं।

खुलासा—विद्या कर्म आदिके कारणसे प्राणियों में सात्विक, राजस और तामस भाव उत्पन्न होते हैं। ये सब भाव मेरी प्रकृतिके गुणोंके कार्य हैं; अतः इन्हें मुझसेही पैदा हुए जानो। यद्यपि ये भाव मुझसेही पैदा हुए हैं, तथापि मैं इनमें नहीं हूँ; यानी मैं संसारी जीवोंकी भाँति इनके अधीन नहीं हूँ, परन्तु ये मेरे अधीन हैं।

मायाके जीतनेकी विधि।

अब भगवान् इस बातपर खेद प्रकट करते हैं, कि दुनिया उसको नहीं जानती, जो इस जगत्का रचनेवाला और परमेश्वर है, जो अनन्त है, शुद्ध है, निराकार है, निर्विकार है, जो निर्गुण अथवा सब उपाधियोंसे रहित है, जो सब प्राणियोंका आत्मा है, जो बिल्कुल नज़दीक है, जिसके जाननेसे संसारी लोग जन्म-मरण या संसारमें आने-जानेके कष्टसे मुक्त हो सकते हैं। संसारी लोगोंमें यह अज्ञानता क्यों है? सुनो—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

इन तीन गुणोंसे बने हुए भावोंसे मोहित होकर, जगत् मुझे इन भावोंसे अलग और निर्विकार—अपरिवर्त्तनीय—नहीं जानता है।

सत्व, रज और तम, ये तीन गुण हैं। इन तीनोंके तीन प्रकार के भाव हैं; जैसे हर्ष, शोक राग, द्वेष, इत्यादि। इन भावोंनेही संसारको अज्ञान बना रक्खा है। इनकी वजहसे ही प्राणी नित्य-अनित्य, सार-असार वस्तुका विचार नहीं कर सकते और इन्हींके कारणसे ही मुझ परमात्माको नहीं जानते।

विष्णुकी मायाके सत्व, रज और तम, ये तीन गुण हैं। इन तीनों

से जगत् बँधा हुआ है। अतः इन तीनों गुणोंसे बनी हुई विष्णुकी दैवी मायाको प्राणी किस तरह जीत सकता है? सुनो—

> दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
> मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

निश्चयही, सत्व रज और तम इन तीनों से बनी हुई मेरी दैवी माया को जीतना कठिन है; किन्तु जो मेरी ही शरण में आते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं।

यह तीन गुणोंसे बनी हुई माया, मुझ, विष्णु, परमात्मामें वर्त्तमान रहती है; इस कारणसे जो सब धर्मोंको त्याग कर, एकमात्र मेरीही शरण आते हैं; अथवा मुझेही भजते हैं, वे सब जीवोंको मोहित करनेवाली मायाको जीतकर, उसके पार हो जाते हैं; यानी संसारके बन्धनसे छुटकारा पा जाते हैं।

(प्रश्न)—अगर मनुष्य आप—परमेश्वर—की शरण जावें और रात-दिन आपका भजन करनेसे मायाके पार हो सकते हैं, तब क्या वजह है, कि सब आफ़तोंकी जड़ इस मायाके नाश करनेके लिये वे आपकी शरण नहीं आते? इस प्रश्नका उत्तर भगवान् नीचे देते हैं:—

> न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
> माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

हे अर्जुन! पापी, मनुष्यों में नीच और मूढ, मनुष्य मुझे नहीं भजते; क्योंकि मायाने उन्हें ज्ञानहीन बना दिया है। ज्ञानहीन होने के कारण से वे असुरोंकीसी चालपर चलते हैं।

मतलब यह है, कि जो मूढ़ हैं वे अपनी मूर्खताके कारणसे रात-दिन पाप-कर्ममें लगे रहते हैं। अपनी मूर्खताके कारणसे उन्हें नित्य-अनित्य, सत्य-असत्यका ज्ञान नहीं है। मायाने उनकी बुद्धि पर पर्दा डाल रक्खा है; इससे वे इस शरीरकोही सब कुछ समझ

कार इसके पोषणके लिए अनेकानेक पाप करते हैं। उनकी समझमें शरीरही सब कुछ है, आत्मा, परमात्मा कोई चीज़ नहीं है।

चार प्रकारके भक्त।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

हे अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यशील मनुष्य मुझे भजते हैं—(१) आतुर, (२) जिज्ञासु, (३) अर्थार्थी, और (४) ज्ञानी।

खुलासा—मतलब यह है, कि भगवान्‌को भजनेवाले चार तरह के होते हैं। एक तो वह जिन पर किसी प्रकारका सङ्कट होता है; दूसरे वह जिनको आत्मज्ञानकी चाहना होती है; तीसरे वह जिनको धन-दौलत की ज़रूरत होती है; चौथे वह जो परमात्माके असल स्वरूपको जानते हैं; यानी जो परमात्माको शुद्ध, सच्चिदानन्द, निर्विकार, नित्य, अनन्त, जानते हैं और उसे अपनेसे अलग नहीं समझते।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥

इन चारों में से ज्ञानी, जिसका चित्त दृढ़ता से एक परमात्मा में लगा रहता है, सबसे उत्तम है; क्योंकि ज्ञानी के लिये मैं बहुत प्यारा हूँ और मेरे लिये ज्ञानी प्यारा है।

खुलासा—इन चार तरहके भक्तोंमें से ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि उसका दिल, एकमात्र मुझमें, दृढ़तासे, लगा रहता है। वह एक मेरे सिवाय किसी की भक्ति नहीं करता। जो केवल मुझको भजता है, वह सबसे ऊँचा है; क्योंकि मैंही उसका आत्मा हूँ, मैं ज्ञानीके लिये निहायत प्यारा हूँ। सभी जानते हैं, कि इस दुनियामें आत्मा सबको प्यारा है। ज्ञानी अपने आत्माको वासुदेव समझता है, इसीसे उसे वासुदेव बहुत प्यारा है।—और ज्ञानी मेरा आत्मा है, इसीसे वह मुझे बहुत प्यारा है।

तब क्या शेष तीनों भक्त वासुदेवको प्यारे नहीं हैं ?—नहीं, यह बात नहीं है ।—तब क्या है ?

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

असल में, ये सब ही अच्छे हैं ; लेकिन ज्ञानी, मेरी समझ में, मेरा ही आत्मा है ; क्योंकि उसका चित्त सदा मुझ में ही लगा रहता है और सर्वोत्तम गतिरूप मेरी ही शरण में रहता है ।

खुलासा—निश्चयही ये सब अच्छे हैं ; यानी ये तीनों भी मेरे प्यारे हैं । मेरा कोई भक्त ऐसा नहीं है, जो मुझ—वासुदेवको, प्यारा न हो । लेकिन इन सबमें भेद ज़रूर है—ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्यारा है । ज्ञानी अधिक प्यारा क्यों है ? मेरा विश्वास है, कि ज्ञानी मेराही आत्मा है और मुझसे अलग नहीं है । ज्ञानी मेरे पास पहुँचनेकी चेष्टा करता है । उसका पक्का विश्वास है, कि मैं स्वयं पूर्ण ब्रह्म, सच्चिदानन्द, नित्य, मुक्त हूँ । वह मुझ, परमब्रह्म, कोही ढूँढ़ता है । वह मुझेही सर्व्वोत्तम गति समझता है ।

आगे और भी ज्ञानकी प्रशंसा की जाती है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १६ ॥

बहुत से जन्मों के अन्त में, जो ज्ञानी, सब चराचर जगत् को वासुदेवमय समझता हुआ, मेरे पास आता है, वह महात्मा है । ऐसे महात्मा कठिन से मिलते हैं ।

खुलासा—मनुष्य अनेक जन्मोंमें ज्ञान प्राप्त करनेके लिये चेष्टा करता-करता, जब यह समझने लगता है, कि सब कुछही वासुदेव है, वासुदेवके सिवा जगत्में और कुछ नहीं है । वासुदेवकोही सब कुछ समझकर, जो मुझ, नारायण, सबके आत्मा, को भजता है, वह महात्मा है । उस ज्ञानीके बराबर या उससे श्रेष्ठ कोई नहीं है ; लेकिन ऐसे प्राणीका मिलना कठिन है । इसी अध्यायके तीसरे

श्लोकमें पहलेही कह दिया गया है—"हज़ारों मनुष्योंमेंसे कोई एक कदाचित् इस ज्ञानके जाननेकी कोशिश करता है; कोशिश करनेवालोंमें से कोई एक शायद मेरे स्वरूपको ठीक-ठीक जानता है।"

मूर्ख लोग ही छोटे-मोटे देवताओंको पूजते हैं।

आगे यह दिखलाया जाता है, कि क्यों लोग अपने आत्मा; अथवा एकमात्र वासुदेवको नहीं जानते और क्यों दूसरे देवताओंकी शरण जाते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

जिनकी बुद्धि इस या उस कामना से बहक जाती है, वे अपनी ही प्रकृति की प्रेरणा से, तरह-तरह के अनुष्ठान करते हुए, दूसरे देवताओं की उपासना करते हैं।

खुलासा—जो लोग सन्तान, धन, सुन्दर स्त्री, स्वर्ग इत्यादिकी कामना—इच्छा—करते हैं, उनकी बुद्धि इन कामनाओंके कारणसे नष्ट हो जाती है। जब उनकी बुद्धि मारी जाती है, तब वे अपने आत्मा, वासुदेव, को छोड़कर, दूसरे-दूसरे देवताओंकी उपासना करने लगते हैं। वे रात-दिन उन देवताओंके सम्बन्धके अनुष्ठान आदिमें लगे रहते हैं। पूर्व जन्मोंके संस्कारोंके कारणसे, अपनी प्रकृतिके वशीभूत होकर, वे ऐसा करते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

जो मनुष्य विश्वास सहित जिस देवता की उपासना किया चाहता है, उस मनुष्य के विश्वास को मैं उसी देवता में पक्का कर देता हूँ।

खुलासा—जिस मनुष्यकी जैसी इच्छा होती है, मैं वैसाही करता हूँ। जो लोग अपनी कामना-सिद्धिके लिये शिवको भजते

हैं, उनको श्रद्धा मैं शिवमेंही पक्की कर देता हूँ। जो हनुमानमें विश्वास रखते हैं, उनका विश्वास हनुमानमेंही जमा देता हूँ। जो निष्काम होकर, मुझ वासुदेवकीही आराधना करते हैं, उन्हें सन्मार्ग में लगा देता हूँ, जिससे उनको मोक्ष हो जाती है।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

तब वह विश्वास—श्रद्धा—सहित उसी देवताकी उपासना करता है और उसीसे अपने मन-चाहे फल, जिनको मैं निर्दिष्ट करता हूँ, पा लेता है।

खुलासा—मनुष्यको अपनी कामना-सिद्धिके लिये जिस देवताके भजनेकी इच्छा होती है, मैं उसी देवतामें उसकी श्रद्धा जमा देता हूँ। तब वह मनुष्य उसी देवतामें दृढ़ भक्ति रखकर उसीको भजता है और उसी देवतासे, मेरे द्वारा ठहराए हुए, फलको पा लेता है। फल ठहरानेवाला मैंही हूँ; क्योंकि मैंही परमेश्वर, सर्व्वज्ञ और सर्व्वदर्शी हूँ। मैं अकेलाही कर्म और उनके फलोंके सम्बन्धको जानता हूँ। जब उनको मन-चाही कामनाओंका फल देनेवाला, मैं, परमेश्वर, ही हूँ; तब उनकी कामनासिद्धि होनीही चाहिये।

सारांश यह है, कि जो लोग कामना रखकर, वासुदेवको छोड़ कर, अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, उन्हें उनके कर्मोंका फल स्वयं परम परमात्माही देते हैं; लेकिन अज्ञानी लोग समझते हैं, कि यह फल हमें फ़लाँ देवता या मूर्तिने दिया है। भगवान्ही सब कुछ जाननेवाला, सब कुछ देखनेवाला और सर्व्वशक्तिमान् है। वही मनुष्यके किये हुए कामोंकी ख़बर रखता है; इसलिये वही ठीक-ठीक फल दे सकता है। भगवान्के सिवाय और मनोकामना पूरी करनेवाला कोई नहीं है; क्योंकि और कोई सर्व्वज्ञ, सर्व्वदर्शी और सर्व्वशक्तिमान् नहीं है। साफ़ बात यह है, कि फल देते भगवान् हैं और नाम देवताओंका होता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

उन थोड़ी बुद्धिवालों को जो फल मिलता है, वह नाशमान् है । जो लोग देवताओं की उपासना करते हैं, वे देवताओं के पास जाते हैं; जो मेरे भक्त हैं, वे मुझमें आ मिलते हैं ।

खुलासा—जो लोग, मुझ, वासुदेवको भूलकर दूसरे देवताओंको भजते हैं, वे मूर्ख हैं । उनको उन देवताओंकी उपासनासे फल तो ज़रूर मिल जाते हैं; किन्तु वे फल नाशमान् हैं; यानी वे सदा स्थिर नहीं रहते, झटपटही नष्ट हो जाते हैं । लेकिन जो मुझे भजते हैं, उन्हें ऐसा फल मिलता है, जो अनन्त और अक्षय होता है ।

भगवान् कहते हैं—यद्यपि दोनों प्रकारकी उपासनाओंमें—मेरी उपासनामें और देवताओंकी उपासनामें—समानही चेष्टा करनी पड़ती है ; तथापि लोग अनन्त और कभी नाश न होनेवाला फल पानेके लिये मेरी शरण नहीं आते, यह बड़े दुःखका विषय है। भगवान् इस बातपर दुःख प्रकट करते हैं और लोगोंके अपनी शरण न आनेका कारण नीचे बताते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

मूर्ख लोग, मेरे विनाश रहित, निर्विकार और सबसे उत्तम प्रभावको न जाननेके कारण, मुझ निराकार को मूर्त्तिमान् समझते हैं।

उनकी इस अज्ञानताका क्या कारण है ?—सुनो—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

मैं सबके सामने प्रकाशित नहीं हूँ; क्योंकि मैं योगमाया से ढका हुआ हूँ । मेरी माया से बहँके हुए लोग मुझे अजन्मा और अविनाशी नहीं समझते ।

खुलासा—मैं सब लोगोंके सामने प्रकाशित नहीं हूँ ; यानी मुझे सब कोई नहीं जान सकते । केवल मेरे थोड़ेसे भक्तही मुझे जानते हैं । मैं योगमायासे ढका हुआ हूँ । योग-माया रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण इन तीनगुणोंके योगसे बनी हुई माया है । इसीने लोगोंको बहँका रखा है—उनकी बुद्धिपर पर्दा डाल रखा है—इसीसे लोग मुझे अजन्मा और अविनाशी नहीं समझते ।

योगमाया, जिससे मैं ढका हुआ हूँ और जिसके कारणसे लोग मुझे नहीं पहचानते, मेरी है और मेरे अधीन है । इसीसे वह मेरे ज्ञानमें—ईश्वर या मायाके स्वामीके ज्ञानमें—उसी तरह रुकावट नहीं डाल सकती ; जिस तरह मायावी (बाज़ीगर) की माया, मायावीसे पैदा होकर, मायावीकेही ज्ञान पर रुकावट नहीं डाल सकती ।

> वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
> भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! मैं भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् कालके चराचर प्राणियों को जानता हूँ ; लेकिन मुझे कोई नहीं जानता ।

खुलासा—मुझे कोई नहीं जानता । मुझे केवल वही मनुष्य जानता है जो मेरी उपासना करता है और मेरीही शरणमें आता है । मेरा असल स्वरूप और प्रभाव न जाननेके कारण मुझे कोई नहीं भजता ।

अज्ञानता की जड़ ।

अब यह सवाल हो सकता है—"मेरे असल प्रभावके जाननेमें लोगोंको क्या रुकावट है, जिससे बहँक कर समस्त प्राणी, जो पैदा हुए हैं, मुझे नहीं जानते ?" सुनो—

> इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्व मोहेन भारत ।
> सर्वे भूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥

हे अर्जुन! इस संसार में आनेपर, समस्त प्राणी इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए द्वन्द्वों के भुलावे में आकर मुझे भूल जाते हैं।

खुलासा—मनुष्य सदा अनुकूल—अपनेको प्यारी—वस्तुकी इच्छा करता है और प्रतिकूल—अपनेको अप्यारी—वस्तुसे द्वेष करता है; अर्थात् अच्छी चीज़के पानेकी इच्छा करता है और बुरी चीज़से दूर भागता है। इच्छा और द्वेषसे सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदिकी उत्पत्ति होती है। जिसे इच्छा और द्वेष नहीं है, उसे सुख-दुःख कुछ भी द्वन्द्व नहीं है। जगत्में जन्म लेकर कोई भी प्राणी इच्छा और द्वेषसे रहित नहीं है। इच्छा और द्वेषवाले मनुष्यको बाहरी वस्तुओंका ज्ञान भी नहीं होता, तब उसे अन्तर-आत्माका ज्ञान कैसे हो सकता है? इच्छा और द्वेषके फेरमें पड़े हुए प्राणी मुझ परमेश्वरको अपना आत्मा नहीं समझते; इसीसे वे मुझको नहीं भजते।

सारांश यह है, कि मनुष्यको इच्छा और द्वेषसे किनारा खींचना चाहिये। इच्छा और द्वेषही संसार-बन्धनमें डालनेवाली अज्ञानता की जड़ है, अतः इन दोनोंको अवश्य छोड़ देना चाहिये।

ईश्वरोपासना से सिद्धि।

जब संसारमें जन्म लेनेवाले प्राणी-मात्रमें इच्छा और द्वेष घुसा हुआ है, तब हे भगवन्! आपको कौन जानते हैं और कौन अपने आत्माकी तरह आपकी उपासना करते हैं? अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर भगवान् नीचे देते हैं:—

> येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
> ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः॥ २८॥

जिन पुण्यात्माओं के पाप दूर हो गये हैं, जो इच्छा-द्वेषसे पैदा हुए सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से छुटकारा पा गये हैं, वे दृढ़ चित्त से मेरी उपासना करते हैं।

वे क्यों उपासना करते हैं?—सुनो—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

जो मेरी शरण आकर, बुढ़ापे और मौतसे छुटकारा पाने की कोशिशें करते हैं, वे उस ब्रह्म, अध्यात्म, और सब कर्म्मों को पूरे तौरसे जान जाते हैं।

खुलासा—वह लोग जो मुझ—परमात्मा—में चित्तको दृढ़तासे लगाकर, बुढ़ापे और मृत्युसे बचनेके लिये चेष्टा करते हैं, वे उस परब्रह्मको भली भांति जान जाते हैं। वे एकदम अन्तरमें रहनेवाले आत्माकी असलियतको समझ जाते हैं और कर्मके विषयमें भी सब कुछ जान जाते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

जो मुझे अधिभूत और अधिदैव तथा अधियज्ञ सहित जानते हैं, वे दृढ़ चित्तवाले मनुष्य मुझे अन्तकाल—मरण-समय—में भी याद करते हैं।

खुलासा—यों भी कह सकते हैं, कि जो अन्तकालमें भी मुझे याद करते हैं, उन्हींका चित्त परमात्मामें लगा हुआ है। वे अकेलेही उस ब्रह्मको जानते हैं।

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ शब्दोंका अर्थ भगवान् खुदही आगेके आठवें अध्यायमें बतावेंगे।

आठवाँ अध्याय।

पिछले सातवें अध्यायके २९ वें और ३० वें श्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा है, कि "जो मेरी शरण आकर बुढ़ापे और मौतसे छुटकारा पानेकी चेष्टाएँ करते हैं......वे ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म वग़ैरः को पूरे तौर पर जानते हैं इत्यादि" इसीसे अर्जुनको सवाल करनेका मौक़ा मिला है और वह उसीके अनुसार भगवान्‌से पूछता है—

अर्जुन उवाच।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

अर्जुन ने कहा :—

हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत क्या है? अधिदैव क्या है? यहाँ इस शरीर में अधियज्ञ किस तरह और कौन है? और हे मधुसूदन! मौतके समय संयतात्मा तुझे कैसे जान सकते हैं?

अर्जुनने सात सवाल किये हैं। भगवान् उनके जवाब तरतीबसे नीचे देते हैं —

श्रीभगवानुवाच।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३॥

भगवान्‌ने कहा :—

परम अक्षर को "ब्रह्म" कहते हैं। स्वभाव अथवा जीवको "अध्यात्म" कहते हैं। जीवोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले त्याग रूप यज्ञको "कर्म" कहते हैं।*

अविनाशी, उत्पत्ति और विनाशसे रहित, सब जगह व्यापक, निराकार परमात्माको "ब्रह्म" कहते हैं। "ब्रह्म" का किसी तरह नाश नहीं होता, न वह कभी पैदा होता है और न कभी मरता है, न उसका कुछ आकारही है। मतलब यह है, कि अविनाशी, नित्य, निराकार, शुद्ध, सच्चिदानन्द और जगत्‌के मूल कारणको "ब्रह्म" कहते हैं। उस अविनाशी ब्रह्मके शासनसे सूरज, चांद, पृथ्वी और आकाश अपने-अपने स्थानोंपर टिके हुए हैं। वही सबके देखनेवाला और जगत्‌को धारण करनेवाला है।

वही अविनाशी ब्रह्म, जिसका वर्णन अभी-अभी कर चुके हैं, प्रत्येक आत्माके स्वरूपमें शरीरमें आश्रय लेनेसे "अध्यात्म" कहलाता है। जो शरीरमें वास करता है, उसेही "अध्यात्म" कहते हैं। बहुत ही साफ़ मतलब यह है, कि "जीव" को "अध्यात्म" कहते हैं।

यज्ञ-हवनके समय, अग्निमें जो आहुतियाँ दी जाती हैं, वह सूक्ष्म रूपसे सूर्य-मण्डलमें पहुँचती हैं। उनसे जलकी वर्षा होती है। वर्षासे नाना प्रकारके अन्न पैदा होते हैं। अन्नोंसे प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है। सारे प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले उस त्यागरूप "यज्ञ" कोही "कर्म" कहते हैं।

खूब खुलासा यह है, कि अविनाशी, नित्य, मुक्त, निराकार,

* अक्षर—उसे कहते हैं, जिसका कभी किसी तरह नाश न हो।

सर्वत्र व्यापक परमात्माको "ब्रह्म" कहते हैं। शरीरमें रहनेवाले "जीव" को "अध्यात्म" कहते हैं और यज्ञ करनेको "कर्म" कहते हैं।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

हे अर्जुन! नाशमान् पदार्थों को "अधिभूत" कहते हैं। पुरुष को "अधिदैव" कहते हैं और इस शरीर में "अधियज्ञ" मैं ही हूँ।

अधिभूत वह है, जो समस्त जीव-धारियोंको घेरे हुए है और जो पैदा होनेवाले तथा नाश होनेवाले पदार्थोंसे बना है; यानी "शरीर" अधिभूत है; क्योंकि वह पैदा होनेवाले और नाश होनेवाले पदार्थों से बना है। अतः शरीर आदि जो-जो नाशमान् पदार्थ हैं, वे सब "अधिभूत" कहलाते हैं।

"पुरुष" वह है, जिससे हरेक वस्तु पूर्ण होती है या भरी रहती है; अथवा वह है, जो शरीरमें रहता है; यानी हिरण्यगर्भ, सर्व-व्यापी आत्मा, जो सूर्यमें रहकर सब प्राणियोंकी इन्द्रियोंमें चैतन्यता पैदा करता है और उनका पोषण करता है। मतलब यह है, कि जो सब जगत्का आत्मा है, जो प्राणी-मात्रके शरीरमें विराजमान है, जो इन्द्रियोंको पोषण करनेवाले और उनको उत्तेजित करनेवाले सूर्यका भी अधिपति है; अथवा सूर्य-रूप होकर जगत्के प्राणियोंको पोषण करता और उनको इन्द्रियोंमें उत्तेजना पैदा करता है, वही "पुरुष" है। उसीको "अधिदैव" कहते हैं।

"अधियज्ञ" वह है, जिसकी सब यज्ञोंपर प्रधानता है; यानी जो देवताओंके लिये भी पूज्य है। देवताओंसे पूज्य और सब यज्ञोंका प्रभुत्व रखनेवाला विष्णु, मेरा आत्मा है। अतः विष्णु मैंही हूँ। मैंही "अधियज्ञ" हूँ। मैंही यज्ञ-रूपसे इस मनुष्य-शरीरमें रहता हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो कोई, अन्त समयमें, मुझको ही याद करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं।

खुलासा—जो मनुष्य मरनेके समय अथवा शरीर छोड़नेके समय केवल मुझकोही याद करता है, मेराही ध्यान करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह मेरे पास पहुँच जाता है और मुझे पा लेता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

ईश्वर का ध्यान, हमेशा, रखना ज़रूरी है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

अन्तकालमें, मनुष्य जिसको याद करता हुआ शरीर छोड़ता है, हे कौन्तेय! उसीका ध्यान हमेशा रहनेसे वह उसीको पाता है।

खुलासा—भगवान् कहते हैं, कि जो अन्त समयमें मुझेही याद करता हुआ, मेराही ध्यान करता हुआ, शरीर छोड़ता है, वह तो मुझे पाता है; लेकिन जो मनुष्य मुझे छोड़कर, किसी और देवताके ध्यानका अभ्यास करता रहता है, वह अपने सदाके अभ्यासके कारण, उसके मनमें बस जानेके कारण, अन्त समयमें उसी देवताको याद करता है और उसी देवताको पाता है। जो अन्त समयमें शिवका स्मरण करता है, वह शिवको पाता है। जो अन्त समयमें स्त्री-पुत्र आदिको याद करता है, उसे स्त्री-पुत्रही मिलते हैं। जो रात-दिन मायामें फँसे रहते हैं और अन्त समयमें भी धन-दौलत आदिकी चिन्ता करते हुए मरते हैं, वे उन्हीं पदार्थोंको पाते हैं। लेकिन नाशमान् पदार्थोंके पानेसे कुछ लाभ नहीं है। बार-बार

जन्म लेने और मरनेमें बड़ा कष्ट है ; अतः मनुष्यको सदा परब्रह्मका ध्यान करना चाहिये । अभ्यास करते रहनेसे मनुष्यके मनमें परम ब्रह्महो बसा रहेगा ; इससे मरते समय वह उसी सच्चिदानन्दका ध्यान करता हुआ शरीर छोड़ेगा और उसीके स्वरूपमें मिलकर जन्म-मरणके झंझटसे छुट्टी पा जायगा ।

जो लोग ऐसा ख़याल करते हैं, कि हम बुढ़ापेमें भगवान्‌को याद करेंगे, अभी तो संसारी मायामें फँसे रहें, उनसे कुछ भी नहीं हो सकता । अन्त समयमें, उन्हें वही याद आवेगा जिसमें उनका मन सदासे बसा हुआ होगा । अतः मोक्ष चाहनेवालोंको पहिलेसेही परब्रह्मके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये । बचपनसेही उसी पर-ब्रह्ममें ध्यान लगानेकी चेष्टाएँ करते रहनेसे अन्तमें भी उसीका ध्यान रहेगा । अन्तमें जो परब्रह्मका ध्यान करता हुआ चोला छोड़ेगा, वह पूर्ण ब्रह्ममें लीन हो जायगा—

अन्तकालमें, सदाके अभ्यासके कारण, मनुष्यकी जैसी भावना होती है, उसे वैसीही देह मिलती है ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसवास्ते तू, हर समय मुझे याद करता हुआ, युद्ध कर । मुझमें मन और बुद्धि लगानेसे तू मुझे निश्चयही पावेगा ।

खुलासा—हे अर्जुन ! तू हरदम अपना मन और बुद्धि मुझमें लगाकर मेरी याद किया कर ; जिससे अन्तकालमें मुझेही याद करता हुआ शरीर छोड़े और मेरेही पास पहुँचे । अब अन्तःकरण की शुद्धिके लिये युद्ध करके अपना कर्त्तव्य पालन कर ; क्योंकि बिना अन्तःकरणके शुद्ध हुए मेरा याद आना कठिन है ।

जो मनुष्य निष्काम होकर कर्म करता है, उसीका अन्तःकरण शुद्ध होता है । जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, वही परमेश्वरका ध्यान कर सकता है ।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

जो अभ्यास-योगसे युक्त है, जिसका चित्त और किसी तरफ़ नहीं जाता, ऐसे चित्तवाला मनुष्य ध्यान करनेसे परम दिव्य पुरुषको पा लेता है।

वह परमपुरुष कैसा है?—सुनो—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

वह सर्व्वज्ञ है, अनादि है, सब जगत्का शासनकर्त्ता है, निहायत छोटे रेजे़से भी छोटा है, अचिन्त्यरूप है, सूर्य्यके समान प्रकाशमान है, अज्ञान अथवा प्रकृतिसे परे है।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

जो मनुष्य अन्तकालमें भक्ति और योगसे युक्त होकर, मनको एक जगह लगाकर, दोनों भौंओंके बीचमें प्राणों को अच्छी तरह ठहरा कर, ऐसे दिव्य पुरुषका स्मरण करता है, वह उस दिव्य पुरुषको पा लेता है; यानी उसमें मिल जाता है।

परमात्मा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालके देखनेवाला है। उसका आदि—शुरू—नहीं है; यानी वह जगत्का कारण है। वही सब जगत्को नियमपूर्वक चलाता है। वह छोटे-से-छोटे ज़र्रे; अथवा कण से भी छोटा है। यद्यपि वह है, तथापि उसकी सूरत का ध्यानमें आना कठिन है। वह अपनी नित्य चैतन्यस्वरूप से सूरजके समान प्रकाशमान् और अज्ञानरूपी अन्धकारसे परे है।

बारम्बार समाधि लगानेके अभ्याससे जिसका चित्त स्थिर हो गया है, अगर वह शख़्स पहले हृदय-कमलमें अपने चित्तको वश

करके और पीछे ऊपर जानेवाली सुषुम्ना नामक नाड़ी द्वारा प्राणोंको ऊपर चढ़ाकर, दोनों भौंओंके बीचमें अच्छी तरह स्थापन करके, अन्त समयमें, परमात्माको याद करता है, वह परम दिव्य पुरुषको प्राप्त करता है।

अब तक भगवान्‌ने परमेश्वरके ध्यान करनेकी रीति बताई। अब वह उस परमेश्वरका एक नाम, जिससे उसे याद करना चाहिये, नियत करते हैं।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

वेदके जाननेवाले जिसे अक्षर—अविनाशी—कहते हैं, राग-द्वेष-रहित संन्यासी जिसको यत्न करके पाते हैं, जिसके चाहनेवाले ब्रह्मचर्य्य व्रतका पालन करते हैं, उस 'पद' को मैं संक्षेपसे तुमसे कहूँगा।

जिनको वेदोंका ज्ञान है, वे उस अक्षर—अविनाशी—को उपाधि-रहित कहते हैं; अर्थात् उसे वह स्थूल, सूक्ष्म आदि विशेषणोंसे रहित मानते हैं।

राग-द्वेष-रहित संन्यासी सच्चा ज्ञान होनेपर उसे पाते हैं। जिस अक्षर ब्रह्मके जाननेके लिये ब्रह्मचारी गुरुके पास रहकर वेदान्त आदि शास्त्रोंको पढ़ते हैं, उस अक्षर—अविनाशी—ब्रह्मपदको मैं तुम्हें संक्षेपसे कहूँगा।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

हे अर्जुन! जो सब द्वारोंको बन्द करके, मनको हृदयमें रोक-कर, प्राणोंको मस्तकमें ठहराकर, योगमें स्थिर होकर, ब्रह्मरूप

एकाक्षर 'ॐ' का उच्चारण करता हुआ और मुझे याद करता हुआ, इस देहको छोड़कर जाता है, वह परम गतिको पाता है।

जो मनुष्य आँख, नाक, कान आदि द्वारोंको अपने-अपने विषयों से रोककर, मनको सब तरफ़से हटाकर और हृदय-कमलमें ठहराकर, प्राणोंको पहले दोनों भौंओंके बीचमें स्थापित करके, पीछे उससे भी ऊपर मस्तकमें स्थापित करके, मरनेके समय "ॐ" इस प्रणव मन्त्र का उच्चारण करता हुआ और मुझ अविनाशी, सर्वव्यापी परमेश्वरका ध्यान करता हुआ, सुषुम्ना नामक नाड़ीकी राहसे इस शरीरको छोड़ता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।

ईश्वर के प्राप्त होने पर फिर जन्म नहीं होता।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

हे अर्जुन! जो मुझमें ही चित्त लगाकर जीवनभर मेरी ही याद करता है, उस एकाग्रचित्तवाले योगीको मैं सहजमें मिल जाता हूँ।

जो मेरा अनन्य भक्त है, जिसका चित्त सिवा मेरे किसीमें नहीं है, जो रोज़-रोज़ ज़िन्दगी-भर मेरी याद करता है, जो एकाग्र-चित्त है, वह योगी मुझे सहजमें पा लेता है। अतः मनुष्यको सब छोड़कर, मुझमें स्थिर-चित्त होकर ध्यान लगाना चाहिये।

आपके सहजमें पा जानेसे क्या लाभ है?

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

मुझे पाकर, वह दुःखोंके स्थानभूत और अनित्य जन्मको नहीं पाता; क्योंकि मेरे पा लेनेपर उस महात्माको परम सिद्धि मिल जाती है; यानी उसकी मुक्ति हो जाती है।

मुझ ईश्वरके पास पहुँच जाने या मुझे पा जानेपर, उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता । जन्म दुःखोंका भण्डार है ; क्योंकि कायामें अनेक कष्ट होते हैं और जन्म लेकर फिर मरना पड़ता है । जब महात्मा लोग परमोच्चपद—मोक्ष—को पा जाते हैं, तब उन्हें फिर जन्म नहीं लेना पड़ता । किन्तु जो मेरे पास नहीं पहुँचते या मुझे नहीं पाते उन्हें फिर पृथ्वीपर आना पड़ता है ।

प्रश्न—जो लोग आपको छोड़कर अन्य देवताओंके पास जाते हैं, क्या उन्हें पृथ्वीपर फिर आना होता है ? सुनो—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

ब्रह्मलोकको लेकर और सब जितने लोक हैं, उन सबको फिर पृथ्वीपर आना पड़ता है । हे अर्जुन ! लेकिन मेरे पास पहुँचकर फिर जन्म लेना नहीं पड़ता ।

ब्रह्माके दिन और रात ।

प्रश्न—ब्रह्मलोक सहित सब लोकोंको क्यों लौटना पड़ता है ?—क्योंकि इनका समय नियत है—किस तरह ?

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

सिर्फ वही लोग दिन और रातको जानते हैं, जो यह जानते हैं, कि ब्रह्माका दिन एक हजार चौकड़ी युगोंका होता है और रात भी एक हजार चौकड़ी युगोंकी होती है ।

जानना चाहिये:युग चार होते हैं ।

(१) सत्ययुग (२) त्रेता (३) द्वापर (४) कलियुग ।

सत्ययुगका समय १७२८००० वर्ष

त्रेताका समय १२९६००० वर्ष

द्वापरका समय ८६४००० वर्ष
कलियुगका समय ४३२००० वर्ष
४३२००००

इस तरह तेतालीस लाख, बीस हज़ार वर्ष समाप्त होनेपर चारों, युग एक-एक बार होते हैं और जब यह चारों युग एक हज़ार बार बीत लेते हैं, तब ब्रह्माका एक दिन होता है; यानी ४३,२०,००० वर्ष की आयुवाले एक हज़ार युगोंके बीतने पर; यानी ४३,२०,०००× १०००=४३,२०,००००० यानी चार अरब, बत्तीस करोड़ वर्षका ब्रह्माका सिर्फ़ एक दिन होता है। इसी तरहसं और हज़ार युग बीतने पर ब्रह्माकी एक रात होती है। ऐसे-ऐसे तीस दिन-रातका एक महीना होता है और बारह महीनोंका एक वर्ष होता है। ऐसे १०० वर्ष पूरे होने पर ब्रह्माकी उम्र तमाम हो जाती है; क्योंकि उसकी उम्र १०० वर्षकीही है। जब ब्रह्मा स्वयं इतनी आयु भोगकर नाश हो जाता है, तब उस लोकके रहनेवालोंका नाश क्यों न होगा? इसी तरह सब लोकोंके समयकी सीमा बँधी हुई है। इसीलिये उन्हें फिर आना पड़ता है; अथवा फिर जन्म लेना पड़ता है।

आगे यह बताया जायगा, कि ब्रह्मा—प्रजापति—के दिनमें क्या होता है और उसकी रातमें क्या होता है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

हे अर्जुन! ब्रह्माके दिनमें यह सब चराचर जगत् कारण रूप अव्यक्तसे पैदा हो जाता है और ब्रह्माकी रात होनेपर उसी अव्यक्तमें लीन हो जाता है।

यहाँ अव्यक्त शब्दसे ब्रह्माकी निद्रावस्था समझनी चाहिये। उस अव्यक्तसे समस्त व्यक्ति, स्थावर जङ्गम जगत् ब्रह्माके जागनेपर; यानी

ब्रह्माके दिनमें प्रकट हो जाते हैं और ब्रह्माके सोनेके समय, रातमें, उस अव्यक्तमेंही लीन हो जाते हैं ।

यद्यपि यह सृष्टि बारम्बार नाश होती है ; तथापि इसकी निवृत्ति नहीं होती ; क्योंकि अविद्या, कर्म और अन्यान्य पापोंके कारणोंसे तमाम प्राणियोंको, बिना अपनी इच्छाके भी, बारम्बार पैदा होना और नाश होना पड़ता है ।

तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मासे लेकर सभी लोक अनित्य—नाशमान्—हैं । नाशमान् पदार्थोंसे दुःख होता है;-अतः नाशमान् पदार्थों में मन न लगाकर, शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मामें मन लगाना चाहिये ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

यही प्राणियोंका समूह दिनमें बारम्बार पैदा होता और रातको नाश हो जाता है और अपनी इच्छा न होते हुए भी परवश होकर, दिन होने पर फिर पैदा हो जाता है ।

खुलासा—इसका यह मतलब है, कि ब्रह्माकी रात होनेपर जब सृष्टि लय हो जाती है, तब दिन होनेपर नयी सृष्टिमें नये-नये जीव नहीं पैदा होते ; लेकिन जो जीव पहले सृष्टि-नाश होनेके समय लय हो गये थे, अविद्याके कारण, अपनी इच्छा न होते हुए भी, फिर पैदा होते हैं । हर बार दिन होनेपर उन्हें, अपनी अविद्याके कारणसे जन्म लेना पड़ता है और रात होने पर लय हो जाना पड़ता है । जीव अनादि और नित्य हैं ; अतः वही कर्मके वश होकर बारम्बार पैदा होते और लय हो जाते हैं । हर बार नये जीव पैदा नहीं होते और पहलेवाले नाश नहीं हो जाते ।

यहाँ तक भगवान्ने अक्षर—अविनाशी—के पहुँचनेका रास्ता और अविद्या, काम तथा कर्मके अधीन होकर प्राणियोंका बारम्बार मरना और पैदा होना बताया ; लेकिन अब भगवान् यह बताते हैं,

कि जिसके पास इस योग-मार्गसे पहुँचनेसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। वह ऐसा है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

लेकिन इस अव्यक्त से जुदा एक और सनातन अव्यक्त परब्रह्म है। वह सब प्राणियों के नाश होने पर भी नाश नहीं होता।

खुलासा—अब जिस अक्षर—अविनाशी—का ज़िक्र हमें करना है, वह इस अव्यक्तसे जुदा है। वह किसी अंशमें भी इस अव्यक्त के समान नहीं है। वह इन्द्रियोंसे जाना नहीं जा सकता; क्योंकि उसमें रूप गुण आदि नहीं हैं; वह न जन्म लेता है और न मरता है। वह सब जीवोंके नाश होनेपर नाश नहीं होता और पैदा होने पर पैदा नहीं होता। समय आनेपर, ब्रह्मासे लेकर सब प्राणियोंका नाश हो जाता है; लेकिन उसका नाश कभी नहीं होता।

मतलब यह है, कि सब चराचर जगत्‌का कारण स्वरूप जो अव्यक्त है, उस अव्यक्तका भी कारण स्वरूप एक और अव्यक्त है। वह अव्यक्त इस जगत्‌के कारण स्वरूप—जगत्‌के बीज—अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ और ऊँचा है। यह अव्यक्त भी समय पाकर नाश हो जाता है; किन्तु उसका कभी नाश नहीं होता। उसे शुद्ध सच्चिदानन्द, अखण्ड, नित्य, मुक्त, अद्वैत, एक रस, निराकार, शुद्ध अव्यक्त कहते हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

जो अव्यक्त और अक्षर कहलाता है, उसीको परम गति कहते हैं; जिसके पा लेने पर, फिर किसी को लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा परम धाम है।

वह अव्यक्त जो अक्षर कहलाता है; यानी जो अगोचर और अविनाशी कहलाता है, उसके पा लेनेपर फिर किसीको संसारमें नहीं आना पड़ता। वही मेरा (यानी विष्णुका) परम धाम है।

अब उस परमधामके पानेके उपाय बताये जायँगे ।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! वह परम पुरुष, जिसके भीतर यह चराचर जगत् है और जिससे सारा संसार व्याप्त है, बिना अनन्यभक्तिके नहीं मिलता ।

खुलासा—उसे पुरुष इसलिये कहा है, कि वह शरीरमें रहता है; अथवा इस कारणसे कि वह पूर्ण है । उससे बड़ा और कोई नहीं है । वह अनन्य भक्ति; यानी आत्म-ज्ञानसे मिलता है । सब चराचर प्राणी उसके अन्दर रहते हैं ; उस पुरुषसे सारा जगत् व्याप्त है । वह परम पुरुष तभी मिलता है, जब सबको छोड़कर उसीमें भक्ति की जाती है ; यानी जिसके मनमें सिवाय शुद्ध सच्चिदानन्दके और कोई चीज़ नहीं जँचती, वही उसे पाता है ।

अर्जुनके सामने श्यामसुन्दर रूपसे तो भगवान् थेही ; लेकिन उसे निराकार आत्माका ज्ञान नहीं था ; इसीसे उन्होंने उसे परम पुरुषका ज्ञान बताया ।

मतलब यह है, कि साकार-मूर्तिमानकी भक्ति करनेसे, वारम्बार मूर्तिके दर्शन करनेसे, अनेक देवताओंकी भक्ति करनेसे, वह अव्यक्त का भी अव्यक्त अविनाशी परमात्मा नहीं मिलता । वह, मूर्त्ति आदि को छोड़कर, उसीमें एकमात्र भक्ति रखनेवाले को मिलता है ; अर्थात् "मैंही ब्रह्मरूप हूँ" इस तरहका तत्त्वज्ञान होनेसे वह परमात्मा मिलता है ।

अँधेरे और उजेले मार्ग ।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! जिस कालमें योगी लोग शरीर त्याग कर फिर

नहीं आते और जिस काल में आते हैं, मैं अब उस कालका वर्णन करता हूँ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

हे अर्जुन! अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, और उत्तरायणके छः महीनों में जानेवाले, जो ब्रह्म को जानते हैं, फिर नहीं आते।

खुलासा—मतलब यह है, कि अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंमें जानेवाले, अन्तमें, ब्रह्माको पा लेते हैं, फिर उनको जन्म नहीं लेना पड़ता ; यानी पहले ब्रह्म-उपासक अग्निके देवताके पास पहुँचते हैं। वहाँसे ज्योतिके देवताके पास, वहाँसे दिनके देवताके पास, वहाँसे शुक्लपक्षके देवताके पास, फिर उत्तरायणके देवताके पास, पहुँचते हैं, और अन्तमें ब्रह्मलोकमें पहुँचकर ब्रह्मके साथ मुक्त हो जाते हैं।

जिस राहमें अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः महीने, इन सबके देवता हैं, उसे "देवयान मार्ग" कहते हैं। सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले लोग, जो इस देवयान मार्गसे जाते हैं, सगुण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। मतलब यह है, कि पहले अग्नि देवताके राज्यमें पहुँचते हैं, वहाँसे ज्योति देवताके राज्यमें, इस तरह उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए, ब्रह्मलोक में पहुँचकर, ब्रह्ममें मिल जाते हैं।

यह देवयान मार्ग तो ऐसा है, कि ब्रह्मके जाननेवाले इस राहमें मंज़िल दर मंज़िल चलते हुए ब्रह्मको पा जाते हैं और उन्हें लौटना (जन्म लेना) नहीं पड़ता। इस राहके सिवा एक और राह है। उसकी भी मंज़िलें हैं और राहमें अलग-अलग देवता हैं ; लेकिन उस राहसे जानेवालोंको फिर लौटना पड़ता है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

धूम, रात, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के ६ महीनों और चन्द्र ज्योति, इनमें जो जाते हैं वे फिर संसारमें आते हैं।

जो ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं, किन्तु कर्मनिष्ठ हैं, वे धूम, रात, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनके छः महीने, इस राहसे जाकर, चन्द्रलोकमें पहुँचकर चन्द्रमासे प्राप्त हुए सुखोंको भोगकर, कर्मोंके नाश होने पर, फिर इस मनुष्य-लोकमें जन्म लेते हैं। इस राहका नाम "पितृयान मार्ग" है।

मालूम हुआ कि दो राहें हैं। (१) देवयान मार्ग, (२) पितृयान मार्ग। जो लोग सच्चिदानन्द, अक्षर, निराकार आत्माकी आराधना करते हैं, वे क्रम-क्रमसे अग्नि, ज्योति, दिन आदिके देवताओंके पास पहुँचते हुए, अन्तमें, ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं और मुक्त हो जाते हैं और जो लोग कर्मनिष्ठ हैं; यानी इष्टकर्म, पूर्त्तकर्म, * और दत्तकर्म † करते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं और वहाँ सुख भोगते हैं। जब उनके कर्म नाश हो जाते हैं; यानी जब उनके किये हुए कर्मों का फल मिल चुकता है, तब वे फिर इसी मृत्युलोकमें आकर जन्म लेते हैं।

देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग दोनों मार्गोंमें दूसरेसे पहला श्रेष्ठ है; क्योंकि पहलेसे जानेवालोंको फिर मनुष्य-लोकमें आकर जन्म लेना नहीं होता—उनको मोक्ष हो जाती है; किन्तु दूसरेसे जानेवालोंको मोक्ष नहीं होती। इनके सिवा जो पाप कर्म करते हैं, वे नरक भोगकर फिर जन्म लेते हैं और मनुष्य-योनि पाते हैं; किन्तु जो बहुतही बुरे पाप करते हैं, उन्हें चौरासी लाख योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है।

पापी और महापापियोंसे कर्मनिष्ठ अच्छे हैं, जो अग्निहोत्र आदि इष्टकर्म करके, कूएँ तालाब बावड़ी खुदाकर और परोपकारार्थ

* कूएँ, तालाब आदि खुदाने और धर्मशाला आदि बनानेको "पूर्तकर्म" कहते हैं।
† सुपात्रोंके देनेको "दत्तकर्म" कहते हैं।

धर्मशाला आदि बनाकर स्वर्ग जाकर सुख भोगते हैं और अपने अच्छे कर्मोंका फल भोगकर फिर मनुष्य-योनिमें जन्म लेते हैं। इनसे भी वे अच्छे हैं जो सच्चिदानन्द, अविनाशी, निराकार आत्माकी आराधनामें लगे रहकर रफ़ा-रफ़ा मुक्ति पा जाते हैं।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

ये शुक्ल मार्ग और कृष्ण मार्ग संसार के सनातन मार्ग हैं। जो शुक्ल मार्ग से जाते हैं, वे फिर लौट कर नहीं आते और जो कृष्ण मार्ग से जाते हैं, वे फिर लौटकर आते हैं।

यह संसार अनादि है, इसलिये शुक्ल और कृष्ण ये दो राहें भी अनादि मानी गयी हैं। पहली राहका नाम 'शुक्ल' इसलिये रक्खा है, कि वह ज्ञानको प्रकाशित करती है। उस राहमें ज्ञानसे पहुँचना होता है और उस राहमें उजियाला करनेवाले पदार्थ हैं। दूसरीको 'कृष्ण' इसलिये कहते हैं, कि वह ज्ञानको प्रकाशित नहीं करती, और उसमें अविद्या—कर्म—द्वारा पहुँचना होता है और उसकी राहमें धूम और रात आदि अँधेरे पदार्थ हैं।

ये दोनों राहें सब जगत्‌के लिये नहीं हैं। इन दोनों राहोंसे केवल ज्ञाननिष्ठ और कर्मनिष्ठ जाते हैं। ज्ञानी लोग शुक्ल—प्रकाशवाली—राहसे जाते हैं और फिर जन्म नहीं लेते। जो अज्ञानी—कर्मी—हैं, वे कृष्ण—अन्धेरी—राहसे जाते हैं और स्वर्ग-सुख भोग कर फिर लौट आते और जन्म लेते हैं।

पाठकोंको स्वयंही विचारना चाहिये, कि इन राहोंमेंसे कौनसी राह सबसे अच्छी है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे पार्थ! जो योगी इन दोनों मार्गों को जानता है, वह धोखा नहीं खाता; इससे हे अर्जुन! तू सदा योग-युक्त हो।

जो योगी यह जानता है, कि इन दोनों राहोंमें से एक तो स्वर्ग-सुख आदि भोग कराकर फिर संसारके बन्धनमें ला फँसाती है और दूसरी धीरे-धीरे घुमा-फिराकर ब्रह्मलोकमें पहुँचा देती है और वहाँ उसे ब्रह्मज्ञानमें लगाकर ब्रह्माके साथ उसकी मुक्ति करा देती है, वह कभी धोखा नहीं खाता।

आनन्दगिरिने यह लिखा है, कि सच्चा योगी इन दोनोंही राहों को पसन्द नहीं करता। वह घूम-फिरकर ब्रह्मलोकमें जाना पसन्द नहीं करता। वह तो ब्रह्मासे भी पहले अपनी मुक्ति चाहता है। वह ब्रह्माके अधीन होकर अपनी मोक्ष पसन्द नहीं करता। वह तो शुद्ध सच्चिदानन्दका ध्यान करके सीधा उसीमें मिल जाना चाहता है; इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि तू योगमें लग जा।

आगे भगवान् योगमें श्रद्धा बढ़ानेके लिये योगकी प्रशंसा करते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

वेद, यज्ञ, तप और दानसे जो फल मिलता है, योगी इसके जान जाने पर उन सब से आगे बढ़ जाता है और सर्व्वोत्तम कारण-रूप स्थान को पा जाता है।

खुलासा—शास्त्रोंमें वेद पढ़नेके जो फल लिखे हैं, यज्ञ, तप और दानके जो फल लिखे हैं—जो योगी भगवानके कहे हुए सात प्रश्नोंके जवाबोंको अच्छी तरह समझता है, उनके अनुसार चलता है, वह उन सबसे अधिक योग-रूप ऐश्वर्य्यको पाता है और वह ईश्वरके परम धामको पहुँच जाता है—जो आदि कालमें भी था—और वह कारण ब्रह्मको पा लेता है।

ब्रह्मज्ञानही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

भगवान् कृष्णचन्द्रने आठवें अध्यायमें सुषुम्ना नाड़ी द्वारा धारणा और उसकी क्रिया बताई है और उसका फल ब्रह्म-प्राप्ति बताया है और आगे चलकर शुक्ल मार्ग बताया है, जहाँसे फिर लौटना नहीं पड़ता। कोई यह न समझ ले, कि इसके सिवा मोक्षका और द्वार नहीं है, इसलिये भगवान् अग्नि, ज्योति आदिके पास घूम-फिरकर मोक्ष पानेकी राहसे भी सुगम राह बताते हैं।

सातवें अध्यायके अन्तमें अधिभूत, अधिदैव शब्दोंसे ईश्वरकी महिमा संक्षिप्त रूपसे कही गयी है। इस अध्यायमें उसकी महिमा खूब विस्तारसे वर्णन की जायगी।

श्रीभगवानुवाच।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

भगवान्ने कहा:—

हे अर्जुन! तू गुणोंमें अवगुण ढूँढ़नेवाला नहीं है; इसलिये मैं तुझे विज्ञान सहित अत्यन्त गुप्त ज्ञान सुनाता हूँ; इसके जानने से तू अशुभ कर्मोंसे छुटकारा पा जायगा।

भगवान् अब ऐसा ज्ञान बताते हैं, जो ध्यान-योगसे श्रेष्ठ है और उस शुद्ध ज्ञानसे सीधी मोक्ष हो जाती है। ध्यानसे साक्षात् मोक्ष नहीं मिलती। ध्यानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और अन्तः-

कारणके शुद्ध होनेसे आत्मज्ञान होता है। असल ज्ञान यह है, कि "सबही वासुदेव हैं" जो यह समझते हैं, कि सभी एक ब्रह्म है, उनकी मुक्ति हो जाती है। विना अद्वैत ब्रह्मज्ञानके मुक्तिका और उपाय नहीं है; इसीलिये विद्वानोंसे ब्रह्मज्ञानी अच्छे समझे जाते हैं।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

हे अर्जुन! जो ज्ञान मैं तुझे सुनाता हूँ, वह सब विद्याओंका राजा है, वह अत्यन्त गुप्त और अत्यन्त पवित्र है, वह सुगमता से समझ में आजाता है, धर्म का विरोधी नहीं है, सुख से उसका अनुष्ठान किया जा सकता है और वह नाशरहित है।

अठारह विद्याओंमें वह सब विद्याओंका राजा है, क्योंकि उसकी महिमा भारी है; इसीसे विद्वानोंमें ब्रह्मज्ञानीकी अत्यधिक प्रतिष्ठा है; वह गुप्त विषयोंका राजा है और जितने पवित्र करनेवाले कर्म हैं, उनमें ब्रह्मज्ञान सबसे अधिक पवित्र है; क्योंकि वह कर्म और उसकी जड़को क्षणभरमें नष्ट कर देता है; यानी वह हज़ारों जन्मोंके सञ्चित किये हुए कर्म, धर्म और अधर्मोंको पलमें नाश कर डालता है। इसके सिवा सुख-दुःखकी भाँति उसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। वह धर्मके विरुद्ध नहीं है। कोई ख़याल करे, कि उसका प्राप्त करना बहुत कठिन है, सो बात नहीं है। भगवान् कहते हैं, कि उसका प्राप्त करना बहुत सहज है। कोई ख़याल करे, कि जो काम सुखसाध्य होते हैं, उनका फल थोड़ा होता है और जो कष्टसाध्य होते हैं, उनका फल बड़ा होता है; इसी भाँति जो ब्रह्मज्ञान, सहजमें, सुखसे प्राप्त होता है नाश हो जाता होगा, इसी वहमको दूर करनेको भगवान् कहते हैं, कि उसका नाश नहीं होता; इसीसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने योग्य है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

हे अर्जुन ! जो इस धर्ममें श्रद्धा नहीं करते, वे मुझे न पाकर इस मरणशील संसार में घूमते रहते हैं ।

जो लोग इस धर्म—ब्रह्मज्ञान—में विश्वास नहीं रखते, जो इसके 'अस्तित्व' और फलोंपर विश्वास नहीं रखते, जो अपने शरीरकोही आत्मा समझते हैं, वे पापी मुझ परमात्माको नहीं पाते। मेरा पाना तो दूरकी बात है, वे भक्तिको भी प्राप्त नहीं होते, जो मेरे पास पहुँचानेवाली राहोंमें से एक राह है ; इसीसे वे मरणशील संसारकी राहमें पड़े रहते हैं, जो उन्हें नरकमें पहुँचाती है ।

सब जीव परमात्मा में स्थित हैं ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मुझसे यह सब जगत् व्याप्त है ; मेरी सूरत अव्यक्त है ; सब जीव मुझमें बसते हैं और मैं उनमें नहीं रहता ।

इस समस्त चराचर जगत्को मुझ परमात्माने व्याप्त कर रखा है । मेरी सूरत आँख वग़ैरः इन्द्रियोंसे नहीं देखी जा सकती । मुझ अव्यक्तमें घासके पौधेसे लेकर ब्रह्मा तक रहते हैं ; किन्तु मैं उनमें नहीं रहता ।

मतलब यह है, कि जिस तरह सीपीमें चाँदी कल्पित है, रस्सीमें साँप कल्पित है; उसी तरह मुझ सच्चिदानन्दमें सब जीव कल्पित हैं । जिस तरह सीपी और चाँदीका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; उसी तरह मेरा भी किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

वे सब प्राणी मुझमें स्थित नहीं हैं । हे अर्जुन ! तू मेरे ऐश्वर्य-सम्बन्धी योगबलको देख ! सब जीवों का पालन करता हुआ; लेकिन उनमें न रहता हुआ मेरा आत्मा भूतों का कारण है ।

पिछले दो श्लोकोंमें जो विषय भगवान्‌ने कहा है, उसे वे दृष्टान्त देकर समझाते हैं :—

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जिस भाँति महान् वायु हर जगह घूमता हुआ आकाश में सदा रहता है; उसी भाँति सब जीव मुझमें रहते हैं।

हम अपने अनुभवसे रोज़ देखते हैं, कि महान् वायु सब जगह घूमता हुआ आकाशमें रहता है; इसी तरह मुझमें भी, जो आकाशके समान सर्वव्यापी हूँ, तमाम जीव रहते हैं; लेकिन बिल्कुल संसर्ग नहीं रखते।

परमात्मा ही सब भूतों का आदि अन्त है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे कौन्तेय! प्रलय के समय सब प्राणी मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और कल्प के आरम्भ में, मैं उनको भिन्न-भिन्न प्रकार की सूरतों में पैदा करता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृति की सहायता से, प्राचीन स्वभावके परवश, इस प्राणी-समूह को मैं बारम्बार पैदा करता हूँ।

ईश्वर अपने कर्मों के बन्धन में नहीं बँधता है।

ईश्वर छोटी-बड़ी अनेक प्रकारकी असमान सृष्टि रचता है; इसलिये उसे अपने कर्मोंके कारण धर्म-अधर्मके बन्धनमें बँधना पड़ता होगा। इसी शङ्काका उत्तर भगवान् नीचे देते हैं :—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे धनञ्जय! ये कर्म मुझे नहीं बाँधते; क्योंकि मैं उन कर्मों से उदासीन और बेलाग रहता हूँ।

भगवान् कहते हैं, कि असमान सृष्टि-रचनाके कर्म्म मुझे नहीं बाँधते; क्योंकि मैं आत्माकी निर्विकारताको जानता हूँ, इसलिये बेसरोकार रहता हूँ और कर्म्मके फलकी चाहना नहीं रखता; यानी मैं कभी ऐसा ख़याल नहीं करता, कि "मैं करता हूँ" दूसरे लोग भी जब किसी कर्म्मको करके ऐसा नहीं समझते, कि यह कर्म्म "हमने किया" और उसके फलकी इच्छा नहीं रखते, तब धर्म्म-अधर्मके बन्धन से छूट जाते हैं। अज्ञानी मनुष्य अपनेही कुकर्मोंसे इस तरह कर्म-बन्धनमें बँध जाते हैं, जिस तरह रेशमका कीड़ा कीट-कोषमें घिर जाता है।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

मैं अध्यक्ष हूँ। प्रकृति मेरी अध्यक्षता में चराचर जगत् को पैदा करती है, इसी से जगत् बारम्बार उत्पन्न होता है।

खुलासा—जगत्की रचनामें प्रकृति उपादान कारण है और ईश्वर निमित्त कारण है। प्रकृति उसकी अचिन्त्य शक्ति है, वह उससे अलग नहीं है। प्रकृति जड़ है। वह सृष्टि रचना कर नहीं सकती और अगर ईश्वर सृष्टिको रचे, तो ईश्वरमें दोष लगता है, इससे मालूम होता है, कि ईश्वरही जगत्का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। जड़ प्रकृति, चैतन्य ईश्वरका सहारा लेकरही, जगत्की रचना करती है।

अधर्मियों का जीवन।

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मूर्ख लोग, मुझे सब भूतों का महेश्वर न जाननेके कारण, मेरे मनुष्य-शरीर में रहनेके कारण मेरा अनादर करते हैं।

मूर्ख मुझे पहचाननेमें असमर्थ हैं। मैं उन लोगोंमें मनुष्य-शरीर धारण करके रहता हूँ, इसीसे वे मेरा अनादर करते हैं। वे लोग मुझे महेश्वर, सर्व भूतोंका आत्मा नहीं समझते। मेरी अवज्ञा करते रहनेसे इन बेचारोंका नाश होता है।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

ये मूर्ख मेरा अनादर इसलिये करते हैं, कि इनकी आशा फलवती नहीं है, इनके कर्म निष्फल हैं इनका ज्ञान फल-रहित है, सांसारिक दुर्व्यसनों में इनका चित्त डूबा रहता है और ये लोग मोह पैदा करनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति का आश्रय रखते हैं।

क्योंकि मूर्ख लोग सच्चिदानन्द ईश्वरको छोड़कर अन्य ईश्वरसे मिलनेकी आशा रखते हैं। उनके कर्म इसलिये निष्फल हैं कि, वे लोग आत्माको छोड़कर अन्य ईश्वरको पाने अथवा स्वर्ग-सुख भोगनेके लिये अग्निहोत्र आदि कर्म करते हैं। उनका ज्ञान फल-रहित इसलिये है, कि वे लोग आत्माके सिवा अन्य पदार्थोंको सच्चा समझते हैं। उनमें विचार नहीं है, इससे वे अनित्य संसारी कुकर्मों में लगे रहते हैं। वे राक्षसी और आसुरी स्वभावके धारण करनेके कारण परद्रव्य, परस्त्रीहरण आदि करते हैं। वे शरीरके सिवा आत्मा को नहीं समझते और खाने, पीने, काटने, मारने और लूट-खसोट करनेमें लगे रहते हैं।

महात्माओं का जीवन।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

*हे अर्जुन ! दैवी प्रकृति का * आश्रय रखने वाले महात्मा लोग मुझे सब प्राणियों का आदि कारण और अविनाशी समझकर और सब तरफ से चित्त हटाकर मेरी ही उपासना करते हैं ।*

खुलासा—जिनका चित्त यज्ञ वग़ैर: करनेसे शुद्ध हो गया है, ऐसे महात्मा शरीर, इन्द्रिय और मनको वशमें करके, मुझे सब भूतोंका आदि कारण अविनाशी समझकर, मुझ अन्तरात्मामें चित्त ठहराकर, मेरीही उपासना करते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

वे लोग हमेशा मेरी चर्चा करते हैं, दृढ़ संकल्प करके मुझे पानेका उपाय करते हैं, भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हैं, और रात-दिन मुझमें ही ध्यान लगाकर मेरी उपासना किया करते हैं ।

वे हमेशा मेरे, अपने ईश्वर, ब्रह्मके विषयमें बातचीत किया करते हैं। वे सदा अपनी इन्द्रियों और अपने मनको वशमें रखते हैं। अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहकर प्रेमसे मेरी, दिलके अन्दर रहने-वाले आत्माकी, उपासना किया करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

कितने ही अधिकारी ज्ञानयज्ञ से मेरी उपासना करते हैं; यानी मुझमें और जीवमें भेद नहीं समझते ; कितने ही दास-भाव से भेद-बुद्धि द्वारा मेरी उपासना करते हैं ; कितने ही बहुत प्रकारसे मुझ विश्वरूप परमेश्वरकी उपासना करते हैं ।

खुलासा—कितने तो मैंही ईश्वर हूँ, मुझमें और ईश्वरमें कुछ

---

* दैवी प्रकृतिवाले वह कहलाते हैं, जो अपने शरीर, इन्द्रियों और मनको वशमें रखते हैं और दया, श्रद्धा वग़ैर: को अपने हृदय में स्थान देते हैं।

भेद नहीं है, ऐसा समझकर मेरी उपासना करते हैं; कुछ मध्यम श्रेणीके लोग मुझ ईश्वरको अपना मालिक और अपने तईं मुझ परमेश्वरका दास समझकर मेरी उपासना करते हैं; कितनेही लोग जो सुनते हैं, उसे मेरा नाम समझते हैं; जो कुछ देते या भोगते हैं उसे मेरेही अर्पण करते हैं; इस तरह हर प्रकारसे मुझ परमात्मा कोही स्मरण करते हैं।

और भी खुलासा यह है—कितनेही लोग सच्चिदानन्द ईश्वरको सब भूतोंमें समझते हैं; कुछ लोग जीव और ईश्वरको एक समझते हैं। उनका खयाल है, कि हमही परमेश्वर हैं, हममें और परमेश्वरमें भेद नहीं है। जो परमेश्वर है, सो हम हैं। कितने लोग परमेश्वर को बहुत प्रकारका समझते हैं; यानी ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य्य, गणेश, चन्द्र, राम, कृष्ण आदिको परमात्माका मूर्त्तिमान् रूप समझते हैं। ये तीनोंही दर्जे-ब-दर्जे अच्छे हैं। अन्तमें तीनोंही प्रकार के महात्मा पूर्ण ब्रह्म, शुद्ध सच्चिदानन्द, निराकार, निर्विकार परमात्माको पा जाते हैं।

शङ्का—भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपासना करके वे लोग एक परमेश्वर की उपासना किस तरह करते हैं? इसका जवाब भगवान् नीचेके चार उपासना श्लोकोंमें देते हैं:—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

मैं ही क्रतु हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही स्वधा हूँ, मैं ही औषध हूँ, मैं ही मन्त्र हूँ, होमका साधन घी मैं ही हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और मैं ही हवन हूँ।

अग्निष्टोमादि श्रौत कर्म को 'क्रतु' कहते हैं। अतिथि-अभ्यागतकी पूजा इत्यादि पञ्चयज्ञोंको 'यज्ञ' कहते हैं। पितरोंको जो अन्न दिया जाता है, उस अन्नको 'स्वधा' कहते हैं। जौ चाँवल वग़ैरः अन्नोंको, जिन्हें मनुष्य खाते हैं और जिनसे रोग नाश होते हैं 'औषध'

कहते हैं। स्वाहा-स्वधा ये शब्द वेदके हैं, इन्हींसे हवन किया जाता है, इन्हें 'मन्त्र' कहते हैं। इन मन्त्रोंसे अग्निमें जो घी डाला जाता है, उसे 'आज्य' कहते हैं। जिस अग्निमें हवन-सामग्री डाली जाती है, वह 'अग्नि' कहलाती है।

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

हे अर्जुन! इस जगत् का पिता मैं हूँ, माता मैं हूँ, धाता मैं हूँ, पितामह मैं हूँ, जानने के योग्य मैं हूँ, पवित्र मैं हूँ, ओंकार मैं हूँ; ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं हूँ।

खुलासा—इस जगत्‌का पैदा करनेवाला, पालन-पोषण करनेवाला, कर्मोंका फल देनेवाला, वेदादि प्रमाणोंका विषय, प्रमेय और चैतन्य मैं ही हूँ; सब वेद मेराही प्रतिपादन करते हैं। ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं ही हूँ; ॐ प्रणव मैं ही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

हे अर्जुन! इस सब संसार की गति मैं हूँ, सबका पालन करनेवाला मैं हूँ, सबका स्वामी मैं हूँ, सब बुरे-भले कामों का गवाह मैं हूँ, सबका निवासस्थान मैं हूँ, सबका शरणस्थान मैं हूं, सबका बिना कारण हितकारी मैं हूँ, सबके पैदा होने की जगह मैं हूँ, प्रलय मैं हूँ, संसारकी स्थिति-प्रलयका स्थान मैं हूँ, सबका बीजरूप मैं हूँ, अविनाशी—नाश न होनेवाला—मैं हूँ।

कर्मोंका फल मैंही हूँ। प्राणी जो कुछ करते हैं और नहीं करते, उसका देखनेवाला साक्षी मैं हूँ। मैं वह हूँ जिसमें सब जीवधारी रहते हैं। मैंही दुःखियोंका शरण-स्थान हूँ। जो मेरे पास आते हैं, मैं उन्हें सङ्कटसे छुड़ाता हूँ। अतः मैं बिना किसी किस्मके बदलेकी आशाके भलाई करता हूँ। जगत्‌का आदि मैं हूँ। जगत् मुझमेंही

ठहरा रहता है और मुझमेंही जाकर नाश हो जाता है। मैं वह अविनाशी बीज हूँ, जिससे जगत् पैदा होता है। संसारमें प्रत्येक चीज़ बीजसेही पैदा होती है और चूँकि पैदाइश बराबर होती रहती है, इससे समझा जाता है, बीज कभी नाश नहीं होता।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

हे अर्जुन! मैं ही सबको तपाता हूँ। मैं ही जल बरसाता हूँ और मैं ही उसे रोक लेता हूँ। मैं ही अमरत्व और मृत्यु हूँ। मैं ही सत्य, असत्य अथवा स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च हूँ।

वेदोक्त कर्म करनेके फल ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

हे अर्जुन! ऋक्, यजुः, साम—इन तीन वेदों के जाननेवाले, सोमरसके पीनेवाले, पापों से पवित्र हो जानेवाले, यज्ञों से मेरी उपासना करनेवाले, स्वर्गलोक में जाना चाहते हैं; वे इन्द्रलोक—स्वर्ग—में पहुँचते हैं और वहाँ देवताओं के स्वर्गीय सुखोंको उपभोग करते हैं।

खुलासा—मनुष्य जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको जानते हैं; जो सोम पीते हैं और उसके पीनेसे पाप-रहित हो जाते हैं; जो अग्निष्टोम कर्म करके वसुओं तथा अन्यान्य देवताओंकी भाँति मेरी उपासना करते हैं; जो अपने यज्ञ-कर्मोंके बदलेमें स्वर्ग चाहते हैं, वे इन्द्रके लोकमें जाते हैं और वहाँ अप्राकृत सुखोंको भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम् क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

वे स्वर्ग-सुख भोगकर, अपने पुण्य-कर्मोंके नाश होनेपर फिर मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं; इस भाँति तीनों वेदों के अनुसार यज्ञादि कर्म

करनेवाले अपनी कामनाओंके कारण कभी स्वर्ग में जाते हैं और कभी मृत्युलोक में आते हैं।

खुलासा—एकमात्र वेदोंके अनुसार कर्म करनेवाले कभी जाते हैं और कभी लौट आते हैं। उन्हें स्वतन्त्रता कहीं भी नहीं मिलती।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

जो पुरुष अभेद भावनासे मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य योगियों को मैं इस लोक के पदार्थ देकर उनकी रक्षा करता हूँ और पीछे उनको आवागमन से छुड़ा देता हूँ।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

हे अर्जुन! जो लोग दूसरे देवताओंमें श्रद्धा करके उनकी उपासना करते हैं, वह मेरी बेकायदे पूजा है; इसी कारणसे उन लोगोंको मुक्ति नहीं मिलती और वे आवागमनके प्रपंचमें फँसे रहते हैं।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

हे अर्जुन! मैं सब यज्ञोंका भोक्ता और सबका स्वामी हूँ, वे मेरे इस तत्वको नहीं जानते; इसीसे आवागमन से छुटकारा नहीं पाते।

खुलासा—श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए यज्ञोंका स्वामी और भोक्ता मैं ही हूँ। वह लोग मुझे ठीक तौरसे नहीं जानते, इसीसे बेकायदे पूजा करके अपने किये हुए यज्ञका फल नहीं पाते। वे लोग अपने कर्मों-को मेरे अर्पण नहीं करते, इसीसे उन्हें फिर लौटकर इस लोक में आना पड़ता है।

जो लोग अन्यान्य देवताओंकी भक्ति करके, मेरी बेकायदे उपासना करते हैं, उन्हें उनके यज्ञोंका फल अवश्य मिलता है। देव-

ताओंकी पूजा बिल्कुल बेकाम नहीं होती। उनकी उपासनाके अनुसार फल उन्हें अवश्य मिलता है ; लेकिन कुछ समय बाद उन्हें इस दुनियामें फिर आना पड़ता है।

किस तरह ?

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओंके पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं ; पितरोंके पूजनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं ; भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरे उपासक मुझे प्राप्त होते हैं।

खुलासा—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, इन्द्र आदिके पूजनेवाले उनके पास जाते हैं। श्राद्ध वग़ैरः करके पितरोंके पूजनेवाले पितरोंके पास जाते हैं। भूतोंके पूजनेवाले भूतोंमें जा मिलते हैं। मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्माकी उपासना करनेवाले मुझ निर्विकार, निराकार परमानन्द-स्वरूपको पाते हैं।

परमात्माकी भक्तिमें सुविधा।

मेरे भक्तोंको अनन्त फलही नहीं मिलता, बल्कि उनको ऐसा स्थान मिल जाता है, जहांसे फिर इस दुनियामें लौटना नहीं पड़ता, तिसपर भी मेरी उपासना उनके लिये सहज है—कैसे ?

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

हे अर्जुन! जो कोई भक्तिपूर्वक पत्र, फल, फूल, जल, मुझे अर्पण करता है,—शुद्ध चित्त और भक्ति से अर्पण की हुई उस वस्तुको मैं अंगीकार करता हूँ।

खुलासा—अन्यान्य देवताओंकी उपासनाके लिये बड़ी-बड़ी

चीज़ोंकी ज़रूरत है ; किन्तु मैं तो एकमात्र भक्तिसेही सन्तुष्ट हो जाता हूँ। अब यह बात है तो—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

हे अर्जुन ! तू जो कुछ करता है, तू जो कुछ खाता है, तू जो कुछ होम करता है, तू जो कुछ देता है और तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

अब सुन, ऐसा करनेसे तुझे क्या लाभ होगा :—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

ऐसा करने से तू शुभ-अशुभ फल देनेवाले कर्मोंके बन्धनसे छूट जायगा ; संन्यास योगमें युक्त होकर और मुक्ति पाकर तू मेरे पास पहुँच जायगा।

अब तुम अपने हर कामको मेरे अर्पण करते रहोगे, तो जीते जी ही कर्मबन्धनसे छुटकारा पा जाओगे और इस कायाके नाश होने पर मेरे पास पहुँच जाओगे।

परमात्माकी पक्षपातहीनता।

शङ्का—इन बातोंसे तो मालूम होता है, कि ईश्वरमें राग और द्वेष है; क्योंकि वह अपने भक्तों पर दया रखता है; किन्तु दूसरों पर नहीं।

(उत्तर) ऐसी बात नहीं है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

मैं सब प्राणियों के लिये एकसा हूँ ; न कोई मेरा वैरी है और न कोई मेरा प्यारा है ; जो भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं ; वे मुझमें और मैं भी उनमें हूँ।

मैं अग्निके समान हूँ—जिस तरह अग्नि उनका शीत हरती है, जो उसके पास होते हैं और जो उससे दूर रहते हैं, उनका शीत नहीं हरती ; इसी तरह मैं अपने भक्तोंपर कृपा रखता हूँ, दूसरोंपर नहीं। वे जो मेरी भक्ति करते हैं, अपने वर्णाश्रम धर्मका पालन करते हुए शुद्धचित्त हो जाते हैं, मैं उनके पास हाज़िर रहता हूँ ; क्योंकि उनका चित्त मेरे रहने लायक़ हो जाता है। जब मैं उनके पास हाज़िर रहता हूँ, तब मैं हमेशा उनका भला करता हूँ। जिस तरह सूर्य्यकी रोशनी सब जगह रहती है; किन्तु उसका अक्स साफ़ आईने पर ख़ूब पड़ता है, इसी तरह जिनका चित्त भक्तिके प्रभावसे साफ़ हो जाता है, उनमें मैं—परमात्मा—मौजूद रहता हूँ।

नीच भी भक्तिसे मुक्ति पा जाते हैं।

अब मैं तुझे बताता हूँ, कि मेरी भक्ति कैसी उत्तम है :—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

अगर कोई नीच भी सबको छोड़कर मेरी ही उपासना करे, तो वह वास्तवमें साधु है ; क्योंकि उसका निश्चय ठीक है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

मेरा अनन्य भक्त शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और मुक्ति पाता है। हे कुन्तीपुत्र! तू इस बातको अच्छी तरह जान ले, कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥३२॥

हे अर्जुन! मेरी शरण आनेसे पापी, स्त्री, वैश्य और शूद्र सभी उत्तम गति—मोक्ष—को पाते हैं।

खुलासा—चाहें स्त्री हो, चाहें पुरुष हो, चाहें कोई किसी वर्णका क्यों न हो, जो ईश्वरको भजता है, वही उत्तम गति पाता है। ईश्वर किसीके ऊँचे-नीचे कुलको नहीं देखता। वह तो एकमात्र भक्तिका भूखा है। कहा है—हरिको भजै सो हरिका होई, नीच ऊँच पूछे नहिं कोई।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

पुण्यात्मा ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियों का तो कहना ही क्या है। हे अर्जुन! इस अनित्य सुखरहित लोकको पाकर तू मेरा भजन कर।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन! तू अपना मन मुझमें लगा, मेरी ही भक्ति कर, मेरा ही यज्ञ कर, मुझे ही सिर झुका, मुझमें ही तत्पर रह, इस तरह करनेसे तू मेरे पास पहुँच जायगा।
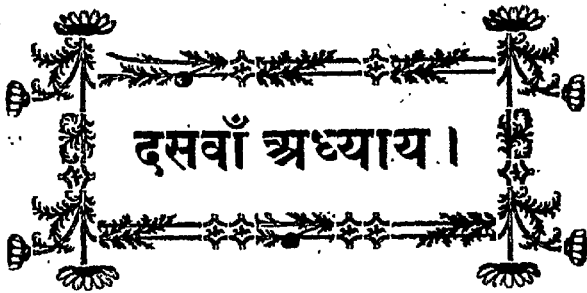
भगवान्‌की विभूतियाँ।

सातवें और नवें अध्यायमें कृष्ण महाराजने ईश्वरकी विभूतियों का वर्णन संक्षेपमें किया, अब उन्हें विस्तारसे फिर कहते हैं; क्योंकि ईश्वरकी विभूतियोंका समझना सहज काम नहीं है।

श्रीभगवानुवाच।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

भगवान्‌ने कहा :—

हे महाबाहो! मेरे उत्कृष्ट वचन को तू फिर सुन। तू मुझसे प्रेम रखता है, इसलिये तेरी भलाई के लिये मैं कहता हूँ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

मेरे प्रभाव को देवता और महर्षि कोई नहीं जानते; क्योंकि मैं सब देवताओं और ऋषियों का आदि कारण हूँ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे अर्जुन! जो मुझे अजन्मा, अनादि और सारे लोकों का मालिक जानता है, वह मनुष्योंमें मोहरहित है; वह सब पापों से छुटकारा पा जाता है।

क्योंकि सब देवता और महर्षियोंका मैं आदि कारण हूँ, मेरा आदि कारण कोई नहीं है; इसलिये मैं अजन्मा और अनादि हूँ। क्योंकि मैं अनादि हूँ, इसलिये मैं अजन्मा हूँ।

नीचे लिखे हुए कारणोंसे मैं सब लोकोंका महेश्वर हूँ:—

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

हे अर्जुन! बुद्धि, ज्ञान, अव्याकुलता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, लय, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तपस्या, दान, यश, अपयश, प्राणियोंके ये सब भाव मुझसेही होते हैं।

बुद्धि—अन्तःकरणमें सूक्ष्म पदार्थोंके समझनेकी जो शक्ति है, उसेही 'बुद्धि' कहते हैं। ज्ञान—आत्मा और ऐसेही दूसरे पदार्थोंकी विद्याको 'ज्ञान' कहते हैं। अव्याकुलता—जब कोई काम करना हो या किसी समय मालूम हो; तो उसे विचारपूर्वक करनेको 'अव्याकुलता' कहते हैं। क्षमा—किसीके मारने या गाली देनेपर अप्रसन्न न होनेको 'क्षमा' कहते हैं। सत्य—जैसा देखा हो, उसे ठीक वैसाही कहनेको 'सत्य' कहते हैं। दम—बाहरी इन्द्रियोंके शान्त करनेको 'दम' कहते हैं। शम—भीतरी इन्द्रिय या अन्तःकरणके शान्त करनेको 'शम' कहते हैं। अहिंसा—जीवधारियोंको हानि न पहुँचानेको 'अहिंसा' कहते हैं। सन्तोष—जो मिल जाय या जो पास हो, उसी में राज़ी होनेको 'सन्तोष' कहते हैं। तपस्या—शारीरिक यन्त्रणा सहने और इन्द्रियोंके रोकनेको 'तपस्या' कहते हैं। दान—न्यायसे कमाया हुआ धन सुपात्रोंको देना। यश—सज्जनोंमें कीर्त्ति होना। अयश—बदनामी। प्राणियोंके ये सब भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव उनके कर्मोंके अनुसार मुझ (परमात्मा) सेही होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

सात महर्षि और चार मनु ये सब मेरे मनसे पैदा हुए हैं और इन्हीं से इस जगत् की सारी प्रजा पैदा हुई है।

खुलासा—भृगु, मरीच, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ, ये सात महर्षि तथा सनकादिक चार महर्षि एवं स्वायंभुव आदि मनु ये सब सृष्टिके आदिकालमें हिरण्यगर्भ-रूप परमेश्वरसे पैदा हुए थे। उनसे यह सब प्रजा पैदा हुई है। मतलब यह है, कि इन सब महर्षियों और मनुओंसे सारी प्रजा पैदा हुई है और वे सब मुझसे पैदा हुए हैं; इससे साफ़ ज़ाहिर है, कि मैं, परमात्मा, सब लोकोंका स्वामी हूँ।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

जो मेरी इस विभूति और शक्ति को जानता है, वह निश्चल योग से युक्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

मैं ही सब जगत्को पैदा करनेवाला हूँ और मुझसेही सबकी प्रवृत्ति होती है, यह जानकर बुद्धिमान् लोग मुझे प्रेमसे स्मरण करते हैं।

खुलासा—मैं परब्रह्मही इस जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ; यानी मैंही इस जगत्का उपादान कारण और निमित्त कारण हूँ। मुझ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्माकी प्रेरणासेही सूर्य्य, चाँद और समुद्र आदि अपनी-अपनी मर्य्यादा पर चल रहे हैं। मुझ आत्मारूप परमेश्वरसे सत्ता और स्फूर्त्ति पाकरही बुद्धि और इन्द्रियाँ नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करती हैं। जो लोग मेरे इस प्रभावको जानते हैं, वह मुझे नित्य प्रेमभावसे याद करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! वह लोग रात-दिन मुझमेंही दिल लगाये हुए और अपने प्राण भी मेरे अर्पण किये हुए, एक दूसरेको मेराही उपदेश करते हुए, हर समय, मेरीही चर्चा करते हुए, सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते हैं ।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जो हमेशा इस तरह किया करतें हैं और प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं ऐसी बुद्धि देता हूँ, जिससे वे मेरे पास पहुँच जाते हैं ।

खुलासा—जो हमेशा मेरी भक्ति रखते हैं, जो बिना किसी अपने स्वार्थसाधनके, किन्तु एकमात्र मेरे प्रेमसे, मेरी उपासना करते हैं, मैं उन्हें ऐसा बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझ, परब्रह्मको, आत्माको, अपनेही आत्माकी तरह समझने लगते हैं और मुझमें मिल जाते हैं । फिर उनको कोई क़ैद नहीं रहती ।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

ख़ाली दया करके मैं, उनकी आत्मामें बसा हुआ, अज्ञानसे पैदा हुए अन्धकारको प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपकसे नाश कर देता हूँ ।

भगवान्‌की विभूतियों और उनकी अचिन्त्य शक्तिके विषयमें सुनकर,

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

अर्जुन ने कहा :—

हे कृष्ण! आप परब्रह्म हो, परम तजोमय हो, परम पवित्र हो, सब ऋषि तथा देवऋषि नारद, असित, देवल और व्यास आपको आदिदेव, परमपुरुष, अज और विभु कहते हैं। आप भी स्वयं अपने तईं ऐसाही बताते हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव! जो कुछ आप कहते हैं और जो कुछ ये सब ऋषिगण कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ; क्योंकि आपकी उत्पत्तिके कारणको न तो देवता जानते हैं और न दानव जानते हैं।

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम! हे प्राणियोंके ईश्वर! हे प्राणियोंके नियन्ता! हे देवोंके देव! हे जगन्नाथ! आपही अपने तईं जानते हैं और दूसरा कोई आपको नहीं जानता।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

हे कृष्ण! आप मेरे सामने अपनी उन दिव्य विभूतियोंको कहिये, जिनके द्वारा आप इन लोकोंमें व्याप्त हो रहे हैं।

खुलासा—मुझे यह बतलाइये, कि किन-किन चीज़ोंमें आपकी महिमा अधिक दिखाई देती है।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

हे योगिराज ! आपका निरन्तर ध्यान करता हुआ, मैं आपको किस तरह जान सकता हूँ ? आपका ध्यान किन-किन पदार्थोंमें करना चाहिये ?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

हे जनार्दन ! अपनी महिमा और शक्तिको मुझे एक बार फिर खुलासा बताइये ; क्योंकि आपकी अमृतरूपी बातोंके सुननेसे मेरा मन नहीं भरता।

खुलासा—यद्यपि आप अपनी विभूतियोंको मुझे पहले बता चुके हैं ; तथापि एक बार अपने योग और ऐश्वर्य्यको फिर खोल-खोलकर समझाइये। आपकी अमृतसे सनी हुई वाणी मुझे बड़ी प्यारी लगती है। आपकी बातें सुननेसे मेरा जी नहीं अघाता। जितना आप कहते हैं, उतनीही और सुननेकी इच्छा बढ़ती जाती है।

भगवान् की विभूतियों का वर्णन।

श्रीभगवानुवाच।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

भगवान् ने कहा :—

हे अर्जुन ! मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है। मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं, पर मैं उनमेंसे मुख्य-मुख्य विभूतियोंका हाल सुनाता हूँ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

हे गुडाकेश ! सब प्राणियोंके हृदयमें रहनेवाला आत्मा मैं हूँ, मैंही सब प्राणियोंका आदि, मध्य और अन्त हूँ।

खुलासा—सब प्राणियोंमें रहनेवाला ईश्वरकाही रूप है। वही

सबका आदि, मध्य और अन्त है; अर्थात् ईश्वरही सबका पैदा करनेवाला, पालन करनेवाला और नाश करनेवाला है।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

हे अर्जुन! बारह आदित्योंमें विष्णु नामक आदित्य मैं हूँ, प्रकाशमान् ज्योतियोंमें अंशुमान् सूर्य्य मैं हूँ, उनचास मरुत्गणोंमें मरीचि नाम वायु मैं हूँ, तारागणोंमें चन्द्रमा मैं हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

वेदोंमें सामवेद मैं हूँ, देवताओंमें इन्द्र मैं हूँ, इन्द्रियोंमें मन मैं हूँ, प्राणियोंमें चेतनशक्ति मैं हूँ, ग्यारह रुद्रोंमें शंकर मैं हूँ, यक्ष-राक्षसोंमें कुवेर मैं हूँ, आठ वसुओंमें अग्नि मैं हूँ, पर्वतोंमें मेरु मैं हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

*पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पति * मैं हूँ, सेनापतियोंमें स्कन्द † मैं हूँ, झीलोंमें समुद्र मैं हूँ।*

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षियोंमें भृगु मैं हूँ, वाणीमें एक अक्षर ॐ मैं हूँ, यज्ञोंमें जप-यज्ञ मैं हूँ, स्थावरोंमें हिमालय मैं हूँ।

---

* बृहस्पति मुख्य पुरोहित हैं, क्योंकि वह इन्द्रके पुरोहित हैं।
† देवताओंके सेनापतिका नाम स्कन्द है।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

सब वृक्षोंमें पीपल मैं हूँ, देवऋषियोंमें नारद मैं हूँ, गन्धर्वोंमें चित्ररथ मैं हूँ, सिद्धोंमें कपिलमुनि मैं हूँ ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

घोड़ोंमें अमृतसे उत्पन्न उच्चैःश्रवा मैं हूँ, हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा मैं हूँ ।*

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

शस्त्रोंमें वज्र मैं हूँ, गायोंमें कामधेनु मैं हूँ, पैदा करनेवाला कामदेव मैं हूँ, साँपोंमें वासुकि मैं हूँ ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

नागों में अनन्त मैं हूँ, जलचरों में वरुण मैं हूँ, पितरोंमें अर्यमा मैं हूँ, शासन करनेवालों में यम मैं हूँ ।

साँपोंके राजाका नाम अनन्त है। जलदेवोंके राजाका नाम-वरुण है। पितरोंके राजाका नाम अर्यमा है।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूँ, गिन्ती करनेवालों मैं काल मैं हूँ, हिरनोंमें सिंह मैं हूँ और पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

---

*जब समुद्र मथा गया था, तब उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा समुद्रसे निकला था ।

पवित्र करनेवालों में पवन मैं हूँ, योधाओं में राम मैं हूँ, मछलियों में मगर मैं हूँ; नदियोंमें गंगा मैं हूँ ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ, विद्याओंमें अध्यात्म विद्या मैं हूँ, वादियोंमें सिद्धान्त मैं हूँ ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षरोंमें 'अ' मैं हूँ, समासोंमें द्वन्द्व समास मैं हूँ, अक्षयकाल मैं हूँ, चारों ओर मुँहवाला और सबके कर्म्मोंका फल देनेवाला मैं हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्त्ति श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधाधृतिः क्षमाः ॥ ३४ ॥

सबके नाश करनेवाली मृत्यु मैं हूँ, सबके उत्कर्ष और अभ्युदय का कारण मैं हूँ; स्त्रियोंमें कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ।

स्मृति—बहुत दिनोंकी बात याद रखनेको कहते हैं। मेधा—ग्रन्थधारणाशक्तिको कहते हैं। धृति—भूख, प्यास आदिमें न घबरानेको कहते हैं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

सामवेदके मन्त्रों में बृहत्साम मैं हूँ, छन्दोंमें गायत्री मैं हूँ, महीनों में मार्गशीर्ष मास मैं हूँ, ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

छलियों में जूआ, तेजस्वियोंमें तेज, विजेताओं में जय, उद्यमियों में व्यवसाय और सत्ववालोंमें सत्व मैं हूँ ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

यदुवंशियों में वासुदेव मैं हूँ, पाण्डवोंमें अर्जुन मैं हूँ, मुनियों में व्यास मैं हूँ और कवियों में शुक्राचार्य्य मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

दण्ड देनेवालों में दण्ड मैं हूँ, जयकी इच्छा करनेवालों में नीति मैं हूँ, गुप्त पदार्थोंमें मौन मैं हूँ, ज्ञानवालों में ब्रह्मज्ञान मैं हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

सब जीवों का बीज मैं हूँ, चराचर प्राणियों में ऐसा कोई नहीं है जिसमें मैं न हूँ।

ऐसा पदार्थ कोई नहीं है, जिसमें सत, चित और आनन्द ये तीन अंश भगवान्‌के नहीं।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४१॥

हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है; उनका वर्णन कोई नहीं कर सकता। मैंने यह जो अपनी विभूतियों का वर्णन किया है, संक्षिप्त है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

अगर तू मेरे ऐश्वर्य्यका विस्तार जानना चाहता है, तो इस तरह जान, कि जो-जो वस्तु ऐश्वर्य्यमान, कान्तिमान और श्रीमान् हैं, उन सबको तू मेरे तेजसे पैदा हुई समझ।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

हे अर्जुन! इन सब विषयों के अलग-अलग जानने से क्या लाभ होगा? तू इतनाही समझ ले, कि मैंने इस सारे जगत् को अपने एक अंशसे धारण कर रखा है।

खुलासा—मैंने इस जगत्को अपने एक अंशसे धारण कर रखा है। मुझसे अलग कुछ नहीं है। श्रुति है, कि यह सारा विश्व परमात्माका एक चरण है; बाकी तीन चरण अपने निर्गुण स्वयं ज्योतिस्वरूपमें स्थित हैं।

विराट्रूप।

(अध्याय ११)

ग्यारहवाँ अध्याय।
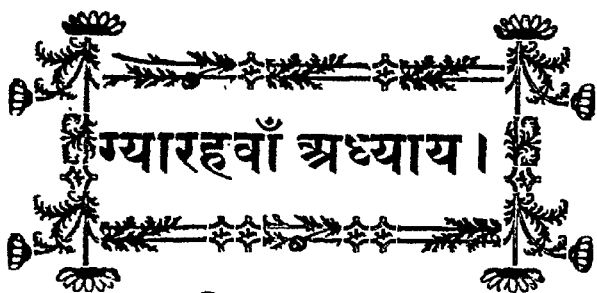
विश्वरूप।

विश्वरूप देखनेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना।

ईश्वरकी विभूतियोंका वर्णन किया जा चुका है। अब ईश्वर का यह वाक्य सुनकर कि मैंने सम्पूर्ण जगत्‌को अपने एक अंशसे धारण कर रखा है, अर्जुनको भगवान्‌का विश्वरूप देखनेकी इच्छा हुई, इसलिये।

अर्जुन उवाच।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा :—

आपने मेरी भलाईके लिये जो अत्यन्त गूढ़ अध्यात्म-ज्ञान सुनाया है उससे मेरा मोह दूर हो गया है।

खुलासा—आपने पीछेके अध्यायमें मेरी भलाईके लिये आत्मा और अनात्माका भेद बतानेवाले जो वाक्य कहे हैं, उनसे मेरा भ्रम मिट गया है। पहले जो मैं शुद्ध निर्विकार आत्माको कर्त्ता और कर्म समझता था, अब वह बात मेरे दिलमें नहीं है। अब मैं खूब समझ गया हूँ, कि आत्मा शुद्ध, सच्चिदानन्द, निर्विकार है। उसमें कर्त्ता और कर्म भ्रमसे उसी भाँति मालूम होते हैं, जिस भाँति नाव में बैठे हुए आदमियोंको किनारेके वृक्ष, मकान आदि चलते हुए मालूम होते हैं; परन्तु वास्तवमें नाव चलती है, वृक्षादि नहीं चलते।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

मैंने आपसे चराचर जगत् के पैदा होने और नाश होनेका वर्णन विस्तारसे सुना और हे कमलनयन! आपका अक्षय माहात्म्य भी सुना।

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर! आपने अपने तईं जैसा वयान किया है, आप वैसेही हैं। हे पुरुषोत्तम! मैं ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य्य, वीर्य्य, और तेजसे युक्त आपका रूप देखना चाहता हूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे भगवान्! यदि आप उस रूपका देखना मेरे लिये सम्भव समझते हैं, तो हे योगेश्वर! आप मुझे अपना वह अविनाशी रूप दिखाइये।

श्रीभगवानुवाच।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

भगवान्‌ने कहा :—

हे अर्जुन! तू मेरे सैकड़ों सहस्रों दिव्य रूपोंको देख, मेरे रूप अनेक प्रकारके हैं, उनके अनेक रंग और अनेक आकृतियाँ हैं।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भारत! आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुतों को देख, और अनेक अपूर्व चमत्कारोंको देख।

खुलासा—मेरे शरीरमें बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, दो अश्विनीकुमार और सात मरुत्‌गणोंको देख। और भी अनेकानेक ऐसी विस्मयजनक बातोंको देख, जैसी न तो तैने कभी देखी हैं और न किसी औरही आदमीने इस जगत्‌में देखी हैं।

इतनाही नहीं :—

> इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
> मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्‌द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे गुडाकेश ! इस मेरी देहमें सारे चराचर जगत्‌को एकही जगह देख, इसके सिवाय और जो-जो तू देखना चाहता है, वह सब भी देख।

खुलासा—इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को मेरी देहमें देखनेके सिवा जो-जो तू देखना चाहता है, वह सब देख; यानी तुझे अपनी हार-जीतके विषयमें जो सन्देह हो गया है, उसे भी मेरे शरीरमें देख कर अपना शक रफ़ा कर ले।

दूसरे अध्यायके छठे श्लोकको देखो। उससे अर्जुनको अपनी हारजीतका सन्देह होना प्रकट है। इसीसे भगवान्‌ने यह ढकी बातें कही हैं, कि "तुझे और जो देखना है सो भी देख ले।"

> न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
> दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! तू अपनी इन आँखोंसे सचमुच मेरे रूपको न देख सकेगा। इसी कारणसे मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ। इनसे मेरे योग और ऐश्वर्य्य (विश्वरूप) को देख।

ईश्वरका विश्वरूप दिखाना।

संजय उवाच।

> एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
> दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजयने कहा :—

हे राजन् ! यह कहकर महायोगेश्वर श्रीकृष्णने अपना परम ऐश्वर्य्य रूप दिखाया ।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

उस रूपमें अनेक मुँह, अनेक आँखें, अनेक अद्भुत दर्शन, अनेक दिव्य आभूषण और अनेक प्रकारके दिव्य शस्त्र थे ।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

वह रूप दिव्य मालाएँ और वस्त्र पहने हुए था । उसपर दिव्य सुगन्धित चीजोंका लेपन हो रहा था । वह रूप सब ओरसे विस्मय पैदा करनेवाला, प्रकाशमान्, अन्तरहित था । उसके हर ओर मुँहही मुँह थे ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

अगर आकाशमें हजार सूर्योंका प्रकाश एक साथ हो, तो वह विश्वरूप भगवान्के तेजके समान शायद हो सके ।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

अर्जुनने उस देवोंके देवके शरीरमें एकही जगह अनेक प्रकारसे सारे संसारको देखा ।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

उस विश्वरूपको देखकर अर्जुनको बड़ा आश्चर्य हुआ, उसके रोएँ खड़े होगये । वह सिर झुकाकर और हाथ जोड़कर भगवान्से कहने लगा—

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्जुन ने कहा :—

हे भगवन् ! मैं आपके शरीरमें सब देवताओंको, सब प्राणी-समूहको, कमलपर बैठे हुए ब्रह्माको तमाम ऋषियोंको और दिव्य साँपोंको देखता हूँ ।

हे भगवन् ! मैं आपके शरीरमें सारे देवताओंको, चराचर प्राणियोंको, सृष्टिके रचयिता चतुर्मुख ब्रह्माको तथा वसिष्ठ आदि महर्षियोंको एवं वासुकि आदि नागोंको देखता हूं ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम् पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरुप ! मैं आपकी देहमें हर जगह अनेक मुख, अनेक भुजाएँ, अनेक पेट और अनेक आँखें देखता हूँ । न तो आपका कहीं आदि दिखाई देता है, न मध्य और न अन्त ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मुझे दीखता है, कि आपने किरीट, गदा और चक्र धारण कर रक्खे हैं । आपके हर ओर तेजपुञ्ज छा रहा है । आपका रूप अग्नि और सूर्यके समान चमक रहा है, उसपर नज़र ठहरनी कठिन है । आपके रूपकी सीमाएँ नहीं हैं ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम् त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतोमे ॥१८॥

हे कृष्ण ! आप अक्षर—अविनाशी—हैं । मोक्ष चाहनेवालों के जानने योग्य परब्रह्म आपही हैं, इस जगत्के परम आधार आपही

हैं । आपही सनातनधर्म के विनाशरहित रखवाले हैं । आपही सनातन पुरुष हैं, यह मेरी राय है ।

अनादिमध्यान्त मनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम् स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१६॥

हे कृष्ण ! आपका आदि, मध्य और अन्त नहीं है । आपकी शक्तिका अन्त नहीं है। आपके अनेक भुजाएँ हैं । सूर्य और चन्द्रमा आपकी आँखें हैं । जलती हुई आगके समान आपका चेहरा है । आप अपने तेजसे सारे जगत्को तपा रहे हैं ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदम् लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

हे कृष्ण ! ज़मीन और आस्मानके बीचकी पोल और सारी दिशाओंमें आप अकेलेही व्याप रहे हैं । आपके इस अद्भुत और भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक काँप रहे हैं ।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वामहर्षिसिद्धसंघाःस्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिःपुष्कलाभिः२१

देवताओंके झुण्डके झुण्ड आपकी शरण आये हैं, कितनेही भयभीत होकर आपके गुणोंका बखान कर रहे हैं । महर्षि और सिद्धों के झुण्ड स्वस्ति कहकर आपकी अनेक प्रकार से स्तुति कर रहे हैं ।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्याः विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, साध्य नामक देवता, तेरह विश्वदेव, दो अश्विनीकुमार, उनचास मरुत, पितर, गन्धर्व, देवता और सिद्ध सब आश्चर्य-चकित होकर आपको देख रहे हैं ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रम् महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! आपके अनेक मुँह और अनेक आँखें हैं । अनेक भुजा, जाँघ और पैर हैं, तथा अनेक पेट हैं, अनेक डाढ़ोंसे आप बहुत ही भयानक दिखाई देते हैं । आपके इस विश्वरूपको देखकर सारे लोक भयातुर हो रहे हैं और वही हाल मेरा भी है ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

आपका शरीर आकाश को छू रहा है, अनेक रंगोंमें चमक रहा है, मुँह खुले हुए हैं, बड़े-बड़े नेत्र आगके समान चमक रहे हैं । आपको देखकर मेरा हृदय भयभीत है । वह किसी तरह धीरज और शान्ति नहीं धारण करता ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

आपके मुख, डाढ़ोंके मारे, भयंकर और कालाग्निके समान मालूम होते हैं, भयके मारे मुझे दिशाएँ नहीं दीखतीं और न मुझे शान्ति मिलती है, हे देवेश ! हे जगत्निवास ! मुझपर कृपा कीजिये ।

खुलासा—आपके मुख डाढ़ों सहित उस कालाग्निके समान मालूम होते हैं, जो प्रलयके समय सब लोकोंको भस्मीभूत कर देती है । भयके मारे मैं ऐसा ज्ञान-शून्य हो गया हूँ, कि मुझे पूरब, पश्चिम आदि दिशाएँ भी नहीं जान पड़तीं ।

अर्जुनको अपने शत्रुओं की हार दीखना ।

शत्रुओंसे हराये जानेका जो भय मेरे मनमें था, वह भी अब चला गया है ; क्योंकि,

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

हे कृष्ण ! धृतराष्ट्रके ये सब पुत्र, भीष्म, द्रोण, कर्ण समेत आपके मुखमें जल्दी-जल्दी घुसे जा रहे हैं । हमारी ओरके मुख्य-मुख्य योधा धृष्टद्युम्न भी आपके मुखमें प्रवेश कर रहे हैं ।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥

ये लोग आपकी विकराल डाढ़ोंवाले मुँहमें जल्दी-जल्दी घुसे जा रहे हैं । इनमेंसे कितनेही तो आपके दाँतोंके बीचमें चिपट गये हैं और उनके सिर चूर-चूर हो गये हैं ।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीराः विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जिस भाँति नदियोंकी अनेक धाराएँ समुद्रकी ओर दौड़ती हैं, उसी भाँति ये नरलोकके वीर आपके प्रज्वलित मुखों में घुसे जा रहे हैं ।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जिस तरह पतंग अपने नाशके लिये तेज़ आगमें झपटकर जाते हैं, उसी तरह ये सब लोग अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें झपटे चले जा रहे हैं ।

विश्वरूपका प्रताप ।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रम् भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

हे विष्णो ! आप अपने प्रज्वलित मुखोंसे सब लोकोंको खा

खाकर चाटे जाते हो । आपकी उग्र कान्ति अपने तेजसे सब जगत् को पूर्ण करके तपा रही है ।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम् न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे भगवन् ! आप ऐसे भयानक रूपवाले कौन हैं ? मैं आपको नमस्कार करता हूँ । मैं आप आदि पुरुषको जानना चाहता हूँ, मैं आपके विषयमें कुछ भी नहीं जानता ।

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपित्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

भगवान् ने कहा :—

मैं लोगोंके नाश करनेवाला शक्तिमान् काल हूँ, इस समय लोकों के नाश करनेमें लगा हुआ हूँ, ये बड़े-बड़े योधा, जो शत्रु-सेनामें सजे खड़े हैं, तेरे द्वारा न मारे जानेपर भी निश्चयही मरेंगे ।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

इसवास्ते हे अर्जुन ! तू उठ और यश कमा । शत्रुओंको जीत और समृद्धिशाली राजको भोग । ये तो मेरे द्वारा पहलेही मार डाले गये हैं । हे सव्यसाचिन् !* तू तो केवल निमित्तमात्र हो जा ।

खुलासा—हे अर्जुन ! तू कमर कसकर खड़ा हो जा और इन देवताओंसे भी अजेय, भीष्म, द्रोण आदिको मारकर यश लूट ले । मैंने इन सबको पहलेही मार डाला है । तू इनको न मारेगा तो-भी ये मरेंगे । इससे तू इनको मारनेमें निमित्त मात्र होकर यशस्वी हो ।

* अर्जुनको सव्यसाची इसलिये कहते थे, कि वह बायें हाथसे भी बाण चला सकता था ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्यान्य वीर योधा मेरे द्वारा मार डाले गये हैं । इन मरे हुओंकोही तू मार डाल । मनमें भय न कर, उठ, लड़, तू अपने शत्रुओंको अवश्य जीतेगा ।

अर्जुनके मनमें द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्णका भय था । उनका मरण वह कठिन समझता था । दूसरे द्रोणाचार्य्य और भीष्मका लिहाज़ भी करता था । द्रोण अर्जुनके धनुर्विद्या सिखानेवाले गुरु थे । उनके पास दिव्य अस्त्र थे । भीष्म किसीके मारनेसे न मर सकते थे । उनका मरना उनकी इच्छापर था । साथही उनके पास भी अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्र थे । एक बार उनका और परशुराम-जीका युद्ध हुआ था, उसमें भी वे न हारे । जयद्रथके बापने तपस्या करके वरदान पाया था, कि जो तुम्हारे बेटेका सिर काटेगा, उसका भी सिर कटकर गिर पड़ेगा । कर्ण सूर्य्य भगवान्से पैदा हुए थे । उनके पास इन्द्रकी दी हुई लोक-संहारिणी शक्ति थी । इन्हीं सब कारणोंसे अर्जुन मनमें घबराता था । इसीसे विश्वरूप भगवान्ने कहा, हे अर्जुन तू क्यों घबराता है ? इन सबको तो मैंने मार डाला है । मरे हुओंको मारकर तू यश लूट ले ।"

अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान्की स्तुति ।

संजय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

संजयने कहा :—

हे राजन् ! केशवकी यह बातें सुनकर, अर्जुन काँपने लगा और हाथ जोड़कर नमस्कार करने लगा । भयके मारे घबराकर फिर नमस्कार करने लगा और गद्गद् वाणीसे कहने लगा :—

सञ्जयका इस मौकेपर धृतराष्ट्रको समझाना बड़ा प्रयोजनीय है। कैसे? सञ्जयको विश्वास था, कि धृतराष्ट्र महाराज अपने पुत्रको—द्रोण, भीष्म, कर्ण इत्यादिके मरनेसे, सहायहीन समझकर अपनी जयकी आशा परित्याग कर देंगे और सन्धि कर लेंगे। इससे दोनों पक्षवालोंको सुख होगा, किन्तु प्रबल भावीके वश होकर धृतराष्ट्रने इस बात पर भी कान न दिया।

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन ने कहा :—

हे हृषीकेश! यह ठीक है, कि आपकी महा महिमा और अद्-भुत प्रभावके कारणसे जगत् आपसे खुश है और आपकी भक्ति करता है; राक्षस भयके मारे दशों दिशाओंमें भागे फिरते हैं और सिद्ध लोग आपको नमस्कार करते हैं।

नीचे लिखे हुए कारणोंसे भी जगत् आपको नमस्कार करता और आपमें भक्ति रखता है :—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्! हे अनन्त! हे देवेश! हे जगत्निवास! यह सब जगत् आपको नमस्कार क्यों न करे, जबकि आप ब्रह्मासे भी बड़े हैं, ब्रह्माके भी पैदा करनेवाले हैं। सत् और असत् से भी परे, जो अक्षर ब्रह्म है, वह भी आपही हैं।

आपको सबके नमस्कार करनेके इतने कारण हैं—(१) आप महात्मा हैं, (२) आप अनन्त हैं, (३) देवताओंके भी ईश्वर हैं, (४) जगत्‌के निवास-स्थान हैं, (५) आप ब्रह्मासे भी बड़े और उनके कर्त्ता हैं, (६) सत् असत् यानी व्यक्त और अव्यक्तसे भी बड़ा

जो अक्षर—अविनाशी—ब्रह्म है, वह आपही हैं। मतलब यह है, कि आप सत्-असत्से भी परे, अक्षर—अविनाशी—पूर्ण ब्रह्म, शुद्ध सच्चिदानन्द हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

हे भगवन्! आप आदि देव और पुराण पुरुष हैं। इस सम्पूर्ण संसारके लय-स्थान आपही हैं। आप सबके जाननेवाले हैं। आप जानने योग्य हैं, आप परम धाम हैं। आपसेही यह संसार व्याप्त हो रहा है। आप अनन्तरूप हैं।

हे भगवन्! आप जगत्के रचनेवाले हैं। आप प्राचीन पुरुष हैं। जो इस जगत्में जानने लायक है, उसके जाननेवाले आप हैं। महाप्रलयके समय यह सब जगत् आपहीमें निवास करता है। हे अनन्त! आपही इस विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं। इन सब कारणोंसे आप नमस्कार-योग्य हैं।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

आप वायु हैं, यम हैं, अग्नि हैं, वरुण हैं, चन्द्रमा हैं, प्रजापति हैं, ब्रह्माके पिता हैं, इसलिये आपको हजार वार नमस्कार है; और फिर भी आपको नमस्कार है।

भगवान्को बारम्बार नमस्कार करनेसे यह मालूम होता है, कि अर्जुन भगवान्में परले सिरेकी श्रद्धा और भक्ति रखता था, इसीसे हजारों नमस्कार करनेसे भी अघाता न था।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वम् सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे सर्व! आपको आगेसे नमस्कार है, पीछेसे नमस्कार है और

हर ओरसे नमस्कार है, आप अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्यसे सबमें व्यापक हैं ; इसी कारणसे आप सर्व हैं।

आपको पूरबमें नमस्कार है और हर दिशामें नमस्कार है, क्योंकि आप सब दिशाओंमें मौजूद हैं। जो वीर्य्यवान् होते हैं, वे साहसी नहीं होते; किन्तु आपमें अनन्त शक्ति और अनन्त साहस है। अपने एक आत्मासे आप जगत्में व्यापक हैं, आपही सर्व हैं। आपके बिना कुछ नहीं है।

अर्जुनका ईश्वरसे क्षमा माँगना।

मैंने अज्ञानताके कारण आपकी महिमा नहीं जानी। मैंने आपको अपना मित्र समझकर; अथवा अपने मामाका बेटा, भाई, समझकर आपका कितनेही मौक़ोंपर जो अपमान किया है, उसके लिये मुझे क्षमा कीजिये—यही बात कहकर, आगेके दो श्लोकोंमें, अर्जुन माफ़ी माँगता है :—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम् हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदम् मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चाऽवहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षम् तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

मैंने आपको अपना मित्र समझकर, जो आपको हे कृष्ण! हे यादव! हे मित्र! कहकर ढिठाई या प्रेमसे सम्बोधन किया है, वह आपकी महिमा न जाननेके कारण किया है। खेलनेके समय, सोनेके समय, बैठनेके समय, खानेके समय, एकान्तमें या सभामें, हे अच्युत! मैंने जो आपका अनादर किया हो, उसके लिये आप मुझे क्षमा कीजिये। आप अप्रमेय प्रभाववाले हैं।

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥४३॥

आप इस चराचर जगत्के पिता हैं ; आप इस जगत्के पूज्य हैं ; आप सबसे बड़े गुरु हैं ; क्योंकि आपकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है । हे अमितप्रभावशालिन् आपसे बढ़कर इस त्रिलोकीमें कौन हो सकता है ।

हे भगवन् ! आपके प्रभावकी सीमा नहीं है। आपही इस जगत्की रचने और पालन करनेवाले हैं। आप इस जगत्के पूज्य और महान् गुरु हैं। आपकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है ; क्योंकि दो ईश्वरोंका होना असम्भव है। यदि एकसे अधिक ईश्वर होता, तो यह दुनिया इस भाँति न रहती। जब एक ईश्वर सृष्टि रचना चाहता, तो दूसरा उसे नाश करना चाहता। इस बातका कोई निश्चय नहीं, कि दोनों भिन्न-भिन्न ईश्वरोंका एक दिल होता ; क्योंकि दोनोंही एक दूसरेसे स्वतन्त्र होते। दोनोंही अपनी-अपनी मनमानी करते। इसका फल यह होता, कि दुनिया आजकी तरह न दिखाई देती।

अर्जुन भगवान् से अपना पहला रूप धारण करनेकी प्रार्थना करता है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम् प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिये हे पूजने योग्य ! मैं सिर नवाकर, साष्टांग दण्डवत् करके, आपसे क्षमा प्रार्थना करता हूँ, कि आप मेरे अपराधोंको उसी तरह क्षमा कीजिये जैसे पिता पुत्रके, मित्र मित्र के तथा प्रेमी अपनी प्रेमिकाके अपराधको क्षमा करता है ।

खुलासा—आप सारे लोकोंके पिता और गुरु हैं; इसलिये ब्रह्मासे लेकर छोटे-से-छोटे प्राणी तकके आप पूज्य हैं। इसीसे मैं अपना शरीर ज़मीनपर पटककर आपको नमस्कार करता हूँ और साथही

प्रार्थना करता हूँ, कि आप प्रसन्न हों और इस अपराधीके अपराधोंको आप उसी तरह क्षमा करें, जिस तरह अनेक अपराधोंके करने पर भी पिता अपने पुत्रको क्षमा करता है, मित्र मित्रके अपराधोंको और पति अपनी प्रियतमाके अपराधोंको क्षमा करता है।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपम् प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

हे देवोंके देव ! हे जगत्निवास ! मैंने आपका यह रूप पहले कभी नहीं देखा था। इस रूपको देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ; तथापि मेरा मन डरके मारे घबरा रहा है ; इसलिये मुझे अपना पहलाही रूप दिखाइये ।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

हे महाबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! मैं आपको पहलेकी भाँति किरीट-मुकुट धारण किये, गदा-चक्र हाथमें लिये, चतुर्भुज रूपमें देखना चाहता हूँ ।

भगवान् अपना पहला रूप धारण करते हैं।

अर्जुनको भयभीत देखकर, भगवान्ने विश्वरूपको समेट लिया और अर्जुनको मीठे-मीठे शब्दोंमें तसल्ली देते हुए कहा :—

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदम् रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यम् यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

भगवान्ने कहा :—

हे अर्जुन ! मैंने [प्रसन्न] होकर अपनी योगशक्तिसे तुझे अपना यह आदि, अनन्त, तेजोमय, परम विश्वरूप दिखाया है, जिसे तेरे सिवाय पहले किसीने नहीं देखा ।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ! मेरे इस रूपको तेरे सिवाय इस मृत्युलोकमें कोई वेद पढ़कर, यज्ञ करके, दान करके, अग्निहोत्र करके, कठिन तपस्या करके नहीं देख सकता है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वम् तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन! मेरे इस भयंकर रूपको देखकर, न तो घबरा, न भय कर, निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर मेरे पहले रूपको फिर देख।

संजय उवाच।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनम् भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय ने कहा :—

ये बातें कहकर, वासुदेवने अर्जुनको अपना पहला रूप फिर दिखाया और उस महात्माने शान्त रूप धारण करके डरे हुए अर्जुनको तसल्ली दी।

अर्जुन उवाच।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्जुन ने कहा :—

हे जनार्दन! आपका यह शान्त मनुष्य-रूप देखकर, मेरी घबराहट जाती रही और मेरे जीमें जी आ गया है।

श्रीभगवानुवाच।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

भगवान् ने कहा :—

हे अर्जुन ! तूने मेरा जो यह रूप देखा है, इसका देखना कठिन है । देवता भी इस रूपको देखनेकी इच्छा रखते हैं ।

हे अर्जुन ! मेरा यह रूप जो तूने अभी देखा है, इसको देवता भी देखना चाहते हैं ; मगर उन्होंने यह रूप कभी नहीं देखा और न कभी इसे देखेंगे ।

क्यों ?

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

जो रूप तूने देखा है, उसे वेद पढ़कर, तप करके, दान देकर, यज्ञ करके कोई नहीं देख सकता ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४ ॥

हे परन्तप ! मेरे इस रूपको मनुष्य अनन्य भक्ति द्वारा जान सकते और देख सकते हैं और तत्त्वज्ञान द्वारा मुझमें प्रवेश कर सकते हैं ।

गीताकी समस्त शिक्षाओंका सार ।

अब यहाँ तमाम गीता-शास्त्रकी शिक्षाओंका सार, जो मोक्ष दिलानेमें परम सहायक है, कहा जायगा । इस पर सभीको अमल करना चाहिये :—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

वह जो मेरेही लिये कर्म करता है, मुझेही परम पुरुषार्थ समझता है, मुझमेंही भक्ति रखता है, जो आसक्तिरहित है, जो किसी प्राणी से वैर नहीं रखता, हे पाण्डव ! वही मुझे पाता है ।

खुलासा—जो मुझे परब्रह्म मानकर, मेरे लिये अपना कर्त्तव्य पालन करता है, जो मेरा भक्त है, जिसे फलोंमें मोह नहीं है, जो किसीका शत्रु नहीं है, जो अपने तकलीफ़ पहुँचानेवालोंसे भी वैर नहीं रखता, वह मुझ ईश्वरको अवश्य पाता है। जो अपने स्वार्थके लिये कर्म करता है, मुझमें भक्ति नहीं रखता, अपने कुटुम्बी स्त्री, पुत्र, मित्र आदिमें मन लगाये रहता है, हर किसीसे वैर रखता है, ऐसे मनुष्यको मैं नहीं मिलता।

भक्तियोग।

कौन श्रेष्ठ हैं—ईश्वरके उपासक अथवा अक्षरके उपासक ?

अर्जुन, भागी, भगवान्‌से इस बातका शक दूर कराना चाहता है, कि ईश्वरको सगुण मानकर उपासना करनेवाला अच्छा है अथवा निर्गुण मानकर उपासना करनेवाला अच्छा है। अर्जुन भगवान्‌से कहता है, कि दूसरे अध्यायसे दशवें अध्याय तक ईश्वरकी विभूति-योंका वर्णन हुआ है। वहाँ आपने उपाधिरहित, अक्षर, अविनाशी ब्रह्मकी उपासनाका उपदेश दिया है और कितनोंही जगह उपाधि-सहित—सगुण—ईश्वरकी उपासनाका उपदेश दिया है। ग्यारहवें अध्यायमें जो आपने विश्वरूप दिखाया है, वह भी इसी ग़रज़से दि-खाया है। आपने वह रूप दिखाकर, मुझे आपकीही ग़रज़से काम करनेका उपदेश दिया है। इसीसे मैं पूछता हूँ, कि दोनों प्रकारकी उपासनाओंमेंसे कौनसी अच्छी है ? ईश्वरकी उपासना श्रेष्ठ है या अक्षर—अविनाशी—ब्रह्मकी उपासना श्रेष्ठ है ?

अर्जुन उवाच।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

अर्जुनने कहा :—

जो हमेशा भक्तिमें लवलीन होकर आपके सगुण विश्वरूपकी उपासना करते हैं, वे अच्छे हैं अथवा जो आपको अक्षर—अविनाशी—अव्यक्त मानकर उपासना करते हैं, वे उत्तम हैं ?

ईश्वरके उपासक।

श्रीभगवानुवाच।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

भगवान्ने कहा :—

हे अर्जुन! जो हमेशा भक्ति-योगमें युक्त होकर, केवल मुझमें ही मन लगाकर, अत्यन्त श्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं, मेरी समझमें, योगियोंमें वे ही श्रेष्ठ हैं।

जो भक्त मुझे विश्वरूप परमेश्वर और योगीश्वरोंका भी ईश्वर समझकर मुझमें चित्त लगाते हैं और मुझमें परले सिरेकी श्रद्धा-भक्ति रखते हैं,—वे मेरी समझमें योगियोंमें श्रेष्ठ हैं। वे दिवारात मेरेही ध्यानमें लगे रहते हैं; इसीलिये उन्हें श्रेष्ठ योगी कहा है।

अक्षरके उपासक।

जब आपको सगुण मानकर उपासना करनेवाले श्रेष्ठ योगी हैं; तब तो आपको निर्गुण मानकर उपासना करनेवाले क्या श्रेष्ठ योगी नहीं है ?—ठहर, उनके विषयमें मैं जो कहता हूँ, सो सुन—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

जो अपनी सारी इन्द्रियोंको वशमें करके, सदा समान नजरसे देखते हुए, सब प्राणियोंका भला चाहते हुए, मुझे अविनाशी, अनि-

ईश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव समझ-कर, मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे पाते हैं।

अविनाशी=जिसका कभी नाश न हो।

अनिर्देश्य=जिसका बयान न किया जा सके।

अव्यक्त=जो इन्द्रियोंसे न जाना जावे।

सर्वव्यापक=जो सब जगह मौजूद हो।

अचिन्त्य=जो ध्यानमें न आवे।

अचल=जो हिले-चले नहीं।

ध्रुव=जो नित्य और स्थिर हो।

कूटस्थ=वह है, जो मालिक होकर मायाके कामोंको देखे।

अक्षर ब्रह्म आकाशकी तरह सर्व-व्यापक है। वह अचिन्त्य है; क्योंकि वह इन्द्रियोंसे देखा और जाना नहीं जा सकता। वह मायाके कामोंका देखनेवाला, उसका मालिक है; इसीसे वह व्यापार-रहित, नित्य और स्थिर है। यही अक्षर—अविनाशी—ब्रह्मके गुण हैं। वे लोग जो अपनी तमाम इन्द्रियोंको वशमें करके, सब जीवोंको समान समझकर, अक्षर ब्रह्मका ध्यान करते हैं, वे स्वयं मेरे पास आते हैं—यह कहनेकी ज़रूरत भी नहीं है, कि वे मेरे पास आते हैं; क्योंकि सातवें अध्यायके १८ वें श्लोकमें कहा गया है 'बुद्धिमान् मेराही आत्मा है'—यह भी कहनेकी ज़रूरत नहीं है, कि वे सर्वश्रेष्ठ योगी हैं—क्योंकि वह और ईश्वर एकही हैं।

लेकिन,

> क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
> अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

जिनका चित्त अव्यक्त रूपमें लगा हुआ है, उनको बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है; क्योंकि शरीरधारियोंको अव्यक्तकी उपासना करना बड़ा कष्टदायक है।

जो मेरे लियेही सब कर्म करते हैं, उनको भी सचमुच बड़ा कष्ट होता है; किन्तु जो अक्षर परब्रह्मकी उपासना और ध्यान करते हैं, उनको औरभी अधिक कष्ट होता है,—क्योंकि उनको अपनी देहकी ममता भी त्यागनी पड़ती है। शरीरधारियोंको परब्रह्म अविनाशी तक पहुँचना बहुत ही कठिन है, क्योंकि उनको अपने शरीरमें मोह है। शरीरकी ममता त्यागे बिना, अक्षर ब्रह्मकी उपासना होती नहीं और शरीरकी ममता छोड़नेमें बड़ा कष्ट होता है।

ईश्वरोपासनासे मुक्ति।

अक्षर-उपासकोंका ज़िक्र आगे चलकर किया जायगा।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

लेकिन जो सब कर्मोंको मेरे अर्पण करके, मुझेही अत्युच्च समझ कर, सबको छोड़कर, योग द्वारा एकमात्र मेराही ध्यान और स्मरण करते हैं; जिनका चित्त मुझमें लगा रहता है, उन्हें मैं शीघ्र मृत्यु-रूप संसार-सागरसे बचा लेता हूँ।

जो सबको छोड़कर केवल मेरीही उपासना करते हैं, मैं, परमात्मा. उनको मृत्यु-रूपी संसार-सागरसे निकाल लेता हूँ, क्योंकि उनके चित्त मेरे विश्वरूपमें लगे हुए हैं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! तू अपना चित्त एकमात्र मुझमें जमा दे, अपनी बुद्धि को मुझमें लगा दे। तू मृत्युके बाद निस्सन्देह अकेले मुझमें निवास करेगा।

अपना मन—अपने कर्म और ख़यालात—मुझ, विश्वरूप परमेश्वर में जमा दे। अपनी बुद्धिको, जो विचार करती है, मुझमें लगा दे। क्या नतीजा निकलेगा ?—सुन ! तू इस कायाके नाश होने बाद, निश्चयही, मुझमें स्वयं मेरी तरह निवास करेगा। तू इस विषयमें सन्देह न कर।

अभ्यास-योग ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोपि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ १० ॥

हे धनंजय ! अगर तू अपना चित्त स्थिरतासे मुझमें नहीं लगा सकता, तो बारम्बार अभ्यास-योग द्वारा मेरे पास पहुँचनेकी चेष्टा कर।

अगर तुम अपना चित्त स्थिरतासे, जैसा कि मैंने बताया है, मुझ में नहीं लगा सकते, तो चञ्चल चित्तको बारम्बार विषयोंसे हटाकर, अभ्यास-योग द्वारा, मेरे विश्वरूपमें पहुँचनेकी कोशिश करो।

चित्तको बारम्बार सब ओरसे हटाकर, फिर-फिरकर अपने ध्येय पदार्थपर लगानेको "अभ्यास" कहते हैं। अभ्यासके माइने समाधान या चित्तकी स्थिरता है, जो अभ्यास करनेसे होती है।

ईश्वर-सेवा ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अगर तू अभ्यास भी न कर सके, तो मेरे लिये कर्म करनेपर लगा रह। मेरे लिये कर्म करते हुए भी, तुझे सिद्धि प्राप्त हो जायगी।

अगर तू अभ्यास न कर सके, तो केवल मेरे लिये कर्म कर; इस तरह करनेसे तुझे सिद्धि मिल जायगी :—पहले तेरा चित्त शुद्ध हो जायगा, इसके बाद चित्तकी स्थिरता होगी, इसके बाद ज्ञान होगा

और अन्तमें मोक्ष हो जायगी ; सारांश यह, कि ईश्वरके लिये कर्म करनेसे चित्तकी शुद्धि हो जायगी।

कर्मफलों का त्याग।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

अगर तू यह भी न कर सके, तो अपने मनको वशमें करके, मेरी शरण आ और सब तरहके कर्मोंके फलकी इच्छा त्याग दे।

अगर तू, मेरे उपदेशानुसार, मेरे लिये, कर्म न कर सके ; तो तू कर्म कर और उन सब कर्मोंको मेरे अर्पण कर दे और उन कर्मोंके फलकी वासना त्याग दे।

आगे भगवान् सब कर्मोंके फलोंके त्यागनेकी प्रशंसा करते हैं:—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

अभ्याससे ज्ञान अच्छा है ; ज्ञानसे ध्यान अच्छा है ; ध्यानसे कर्म-फलोंका छोड़ देना अच्छा है। कर्म-फलोंके त्याग देनेपर शीघ्र ही शान्ति मिल जाती है।

अज्ञानता-सहित अभ्याससे ज्ञान अच्छा है। उस ज्ञानसे ज्ञान-सहित ध्यान अच्छा है। ज्ञान-सहित ध्यानसे कर्म-फलोंका त्याग अच्छा है। मनको वशीभूत करके, कर्म-फलोंके त्यागनेसे, संसारके बन्धनसे शीघ्रही छुट्टी हो जाती है ; इसमें विलम्ब नहीं होता।

अक्षर ब्रह्मके उपासक।

भगवान् कृष्णचन्द्रने अल्पमतियोंके लिये निर्गुण ब्रह्मकी उपासना कठिन समझी थी, इसीसे सगुण ब्रह्मकी उपासना अच्छी बतलाई। जो लोग सगुण ब्रह्मकी उपासना भी नहीं कर सकते, उनके लिये

पहले अभ्यास बताया। जिनसे अभ्यास भी नहीं हो सकता, उनके लिये सब कर्म ईश्वरके लिये करनेकी सलाह दी। जिनसे वह भी नहीं हो सकता, उनको कर्म-फल त्यागनेकी सलाह दी। ये सब विधियाँ बतानेसे भगवान्‌का मतलब यह है, कि अधिकारी मनुष्य, सब रुकावटोंसे अलग होकर, निर्गुण ब्रह्म-विद्या सीखे। उनका मतलब यह है, कि ऊपर लिखे साधन मनुष्य करे और उसे उसके फल-स्वरूप निर्गुण ब्रह्म-विद्या मिले। जब मनुष्यका मन सगुण ब्रह्मकी उपासना करते-करते वशमें हो जावे, तब वह निर्गुण ब्रह्ममें मन लगावे। जो अज्ञानी हैं, तीव्रमति नहीं हैं, उनके लिये भगवान्‌ने सीढ़ी-सीढ़ी चलकर ऊँचे चढ़नेकी सलाह दी है।

भगवान्‌ने जो पहले, इसी अध्यायमें, निर्गुण उपासनाकी बुराई की है, वह इसलिये नहीं की है, कि निर्गुण उपासना सगुण उपासनासे बुरी है अथवा निर्गुण उपासना न करनी चाहिये। उनकी वह निर्गुण उपासनाकी निन्दा, केवल सगुण उपासनाकी प्रशंसाके लिये है। भगवान्‌की रायमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाही सर्वश्रेष्ठ है; इसीसे वह, आगेके ७ श्लोकोंमें, निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंकी तारीफ़ करते हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो किसीसे वैर नहीं रखता, जो सबसे मित्रभाव रखता है, जो सबपर दया करता है, जो ममता और अहंकारसे अलग रहता है, जो सुख-दुःखको समान जानता है; जो शान्त रहता है, जो जितना मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहता है, जो मनको वशमें रखता है, जो स्थिरचित्त होकर मुझमेंही मन लगाये रहता है, जो मन और बुद्धिको मुझमेंही लगा देता है, वह मुझे प्यारा लगता है।

खुलासा—जो किसीसे भी ईर्षा-द्वेष नहीं रखता, यहाँ तक कि अपनी बदी करनेवालेसे भी वैर नहीं रखता, वह मुझे प्यारा है। जो सब जीवोंको अपने समान समझता है, जो सबसे मित्रता रखता है और सब पर दया करता है, वह मेरा प्यारा है। जो किसी चीज़को अपनी नहीं समझता तथा जो अहङ्कारसे रहित है; यानी जिसके दिलमें "मैं" नहीं है, वह मुझे प्रिय है। जो सुखसे राज़ी नहीं होता और दुःखसे दुःखी नहीं होता, जो गालियाँ खाने और पिटनेपर भी शान्तचित्त बना रहता है, जो रोज़के खाने-भरको मिल जाने और न मिलनेपर भी सन्तुष्ट रहता है, वह मुझे प्यारा लगता है। जो स्थिरचित्त रहता है, जिसे आत्माके विषयमें दृढ़ निश्चय है, जो सब ओरसे मन हटाकर मेरी अनन्य भक्ति करता है और अपनी बुद्धि भी मुझमेंही लगा देता है, वह मुझे प्यारा है। ऐसीही बात सातवें अध्यायके १७ वें श्लोकमें कही गयी है—"ज्ञानीको मैं प्यारा हूँ और ज्ञानी मुझे प्यारा है।" वही बात यहाँ भी कही गयी है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

जिससे कोई प्राणी दुःखी नहीं होता और जो किसीसे दुःखी नहीं होता; जो खुशी, रञ्ज, भय और डाहसे रहित है, वह मुझे प्यारा है।

खुलासा—जिससे किसी जीवको डर नहीं लगता, जो किसी जीवसे नहीं डरता, जो किसी इच्छित वस्तुके मिलनेसे खुश नहीं होता, जो किसी वस्तुके नाश होनेसे दुःखी नहीं होता और जो किसी से भी द्वेष-भाव नहीं रखता तथा जो किसीसे नहीं डरता, वह मेरा प्यारा है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

जो किसी चीज़की इच्छा नहीं रखता, जो पवित्र है, चतुर है, सबसे बेलाग है, जिसके मनमें कुछ दुःख नहीं है, जिसने सब प्रकार के उद्यम त्याग दिये हैं, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है।

जो शरीर, इन्द्रियों और इन्द्रियोंके विषयों और उनके आपसके सम्बन्धसे उदासीन रहता है; जो भीतर और बाहर दोनों ओरसे शुद्ध है, जो मित्र और शत्रु किसी की ओर नहीं होता; जो इस लोक और परलोकके फल देनेवाले कामोंको छोड़ देता है, वह मुझे प्यारा है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥

जो न तो खुश होता है, न नफ़रत करता है, न रञ्ज करता है, न कुछ इच्छा रखता है तथा जो बुरे-भले को छोड़ देता है, वही भक्त मेरा प्यारा है।

जो अपनी मन-चाही चीज़के मिलने पर खुश नहीं होता, जो अप्रिय वस्तुसे घृणा नहीं करता, जो अपनी प्यारी चीज़से अलग होने-पर रञ्ज नहीं करता, जो न मिली हुई चीज़की इच्छा नहीं रखता, वह मुझे प्यारा है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

जो शत्रु, मित्र, प्रतिष्ठा, अप्रतिष्ठा को एकसा समझता है; जो सर्दी, गर्मी, सुख और दुःखको बराबर समझता है और किसीमें आसक्त नहीं होता, जो निन्दा-स्तुतिको एकसा समझता है, जो चुप रहता है, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहता है, जो एक जगह

घर बनाकर नहीं रहता है, जिसका चित्त चञ्चल नहीं है, वह भक्त मुझे प्यारा है ।

खुलासा—जो किसी भी तरहकी चीज़से प्रेम नहीं रखता, जो शरीर-चलने योग्य जीविका मिलनेसे भी सन्तुष्ट हो जाता है, वह अच्छा है। "महाभारत", शान्तिपर्व्व मोक्षधर्म २४५-१२ में लिखा है:—

"जो किसी चीज़से भी शरीर ढक लेता है, जो किसी भी चीज़से पेट भर लेता है, जो चाहे जहाँ पड़ रहता है, उसे देवता 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

ये तु धर्म्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

जो लोग श्रद्धापूर्वक इस अमृतमय नियमपर चलते हैं, जो मुझ अविनाशी आत्मा की ही उपासना करते हैं, वे मुझे प्यारे लगते हैं ।

खुलासा—जो अभी वर्णन किये हुए अमृतरूपी नियम पर चलते हैं, वे विष्णु भगवान् परम परमात्माके बहुत प्यारे हो जाते हैं। इसलिये, इस अमृतरूपी नियम पर, प्रत्येक मोक्ष चाहनेवाले को, जो विष्णुके परम धामको प्राप्त करना चाहता है, चलना चाहिये ।

तेरहवाँ अध्याय।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ।

सातवें अध्यायमें परमात्माकी दो प्रकारकी प्रकृतियोंका वर्णन किया गया था,—एक तीन गुणोंसे बनी हुई, आठ भागोंमें बँटी हुई प्रकृति कही थी। उसका नाम "अपरा" प्रकृति कहा था; क्योंकि वह जड़ है और संसारका कारण है; दूसरी "परा" प्रकृतिका वर्णन किया था, उसे जीव-रूप बताया था। इन दोनों प्रकृतियोंसेही ईश्वर पैदा करनेवाला, पालन करनेवाला और नाश करनेवाला है। पहले भी अपरा प्रकृतिको क्षेत्र और पराको क्षेत्रज्ञ कहा था। अब उन दोनों प्रकृतियों पर अधिकार रखनेवाले ईश्वरका असल स्वभाव वर्णन करनेकी ग़रज़सेही, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका खुलासा ज़िक्र किया जाता है।

बारहवें अध्यायके १३ वें श्लोकसे अन्ततक, तत्त्वज्ञानी संन्यासियोंके जीवन बितानेके तरीके कहे गये थे। उसीसे यह सवाल पैदा होता है, कि पूर्व्वोक्त विधिसे जीवन बितानेवाले संन्यासी किस प्रकार का तत्त्वज्ञान रखनेसे ईश्वरके प्यारे होते हैं?—यह अध्याय इस सवाल के जवाबमेंही चलता है।

भगवान्‌ने, पिछले अध्यायोंमें, अपने तईं अधिकारी लोगोंको संसार-सागरसे बचानेवाला कहा है: किन्तु बिना आत्मज्ञान हुए

उद्धार हो नहीं सकता। आत्माका ज्ञान होनेसेही अविद्या-रूप अज्ञान की निवृत्ति होती है। जिस आत्मज्ञानसे प्राणी संसार-सागरसे पार होता है और जैसे तत्त्वज्ञानी संन्यासियोंका १२ वें अध्यायमें ज़िक्र हुआ है, उस आत्मज्ञानका बताना बहुतही ज़रूरी है।

तत्त्वज्ञानसे जीवात्मा और परमात्मामें कुछ भेद नहीं रहता। जीव-ब्रह्मका भेदही अनेक अनर्थोंका कारण है। जो जीव और ब्रह्म को दो समझता है, वही बारम्बार जन्मता और मरता है; लेकिन जबतक जीव और ब्रह्म एक नहीं समझे जाते, तबतक यह भेद-भ्रम नहीं मिटता।

ईश्वर और जीव एकही हैं, इसमें अनेक लोग यह शङ्का किया करते हैं—'मैं सुख पाता हूँ', 'मैं दुःख भोगता हूँ', ऐसा अनुभव सब प्राणियोंको होता है; अगर सब जीव एक होते, तो एकको जो दुःख होता, वह सभीको होता; जो एकको सुख होता, तो सभी को सुख होता; इससे मालूम होता है, कि सभी भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न आत्मा हैं। सब जीव एक नहीं हैं और परमात्मा एक है और वह सुख-दुःखोंसे रहित है। सारांश यह है, कि इन उपरोक्त दलीलोंके देखते हुए आत्मा और परमात्मा एक नहीं हैं। इस शङ्काके दूर करनेकोही भगवान्, इस अध्यायमें, यह दिखाते हैं, कि क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा सब शरीरोंमें एक है और वह देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदिसे अलग है।

खुलासा—इस अध्यायमें और आगेके अध्यायोंमें आत्मज्ञान; यानी शरीर और जीवका भेद सब खोल-खोलकर समझाया जायगा तथा जीव और ब्रह्मकी एकता दिखायी जायगी।

श्रीभगवानुवाच।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः॥ १॥

भगवान् ने कहा :—

हे कौन्तेय ! इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं ; जो मनुष्य इसे जानता है, उसे शरीर-शास्त्र जाननेवाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।

भगवान् इस अध्यायमें आत्मज्ञान सिखावेंगे ; क्योंकि बिना आत्मज्ञानके संसारसे छुटकारा हो नहीं सकता । इसलिये वह पहले 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' का अर्थ बताते हैं । शरीरको 'क्षेत्र' इसलिये कहते हैं, कि इसमें खेतोंकी तरह पाप और पुण्य रूपी फल पैदा होते हैं । जो इसको जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ या खेतको जाननेवाला कहते हैं ; यानी जो क्षेत्रको सिरसे पाँव तक समझता है, जो इसे ज्ञान द्वारा अपनेसे अलग समझता है, वही क्षेत्रज्ञ यानी क्षेत्रके जानने वाला है । असल बात यह है, कि प्राणीका जो शरीर है, वह क्षेत्र या खेत है, पाप-पुण्य इसी खेतमें पैदा होते हैं । क्षेत्रज्ञ या जीवका खेतके पाप-पुण्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।

आगे भगवान् जीव और ईश्वरकी एकता दिखाते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे भारत ! सब क्षेत्रों—शरीरों—में क्षेत्रज्ञ—जीव—मुझेही जान । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही मेरी समझमें ज्ञान है ।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र—शरीर—क्या है, उसका स्वभाव कैसा है, उसके विकार क्या हैं, किन-किन कारणोंसे क्या-क्या कार्य होते हैं, वह क्या है और उसकी शक्ति क्या है, इन सबको तू मुझसे संक्षेपसे सुन ।

खुलासा—हे अर्जुन ! वह क्षेत्र—शरीर—जिसका ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ किस जड़ पदार्थसे बना है, उसका स्वभाव और धर्म क्या है, वह कैसे-कैसे विकारोंसे युक्त है, और कैसे प्रकृति-पुरुष

के संयोगसे पैदा हुआ है, वह मैं तुझे संक्षेपमें बताता हूँ। साथही यह भी बताता हूँ, कि क्षेत्रज्ञ—जीव—का स्वरूप और ऐश्वर्य्य कैसा है।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

हे अर्जुन! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप ऋषियोंने अनेक प्रकारसे वर्णन किया है; ऋक्, साम आदि वेदोंने भी भिन्न-भिन्न करके इनका स्वरूप वर्णन किया है; युक्तियों और निश्चित अर्थवाले ब्रह्मसूत्र-पदोंमें उनका स्वरूप अनेक तरहसे कहा गया है।

खुलासा—यहाँ भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विषयमें अर्जुनको उपदेश करना चाहते हैं। इसी ग़रज़से, अनेक ऋषियों और वेदों तथा व्यास-कृत ब्रह्मसूत्रोंका हवाला देकर, अर्जुनकी दिलचस्पी बढ़ाना चाहते हैं, जिससे वह ध्यान-पूर्वक सुने। वह कहते हैं, कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप वशिष्ठ, पराशर आदि ऋषियोंने खूब खोल-खोलकर अनेक तरहसे योग-शास्त्रोंमें कहा है। ऋक्, साम आदि वेदों में भी इसको खूब कहा है। इनके सिवाय व्यास-कृत ब्रह्मसूत्रोंमें यह विषय इस तरहसे समझाया है, कि फिर सन्देह करनेकी जगह नहीं रह जाती।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय, ये चौबीस तत्त्व और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना और धीरज, इन सबसे यह शरीर बना है; यानी ये सब क्षेत्र और क्षेत्रके विकार हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं। इन सबका कारण अहङ्कार है, अहङ्कारका कारण बुद्धि है, बुद्धिको महत्तत्त्व भी कहते हैं। बुद्धिका कारण सत्व, रज, तम गुणात्मक अव्यक्त है। जो अव्यक्त सबका कारण-रूप है, वह किसीका भी कार्य-रूप नहीं है। पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि (महत्तत्त्व) और अव्यक्त इन आठोंकोही सांख्य-शास्त्रवाले आठ प्रकारकी प्रकृति कहते हैं। आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़ा,—ये पाँच ज्ञानकी इन्द्रियाँ हैं और हाथ, पाँव, मुँह, लिंग, और गुदा,—ये पाँच कर्म-इन्द्रियाँ हैं। ग्यारहवाँ सङ्कल्प-विकल्पोंसे बना हुआ 'मन' है। इनके सिवा इन्द्रियोंके ५ विषय हैं। इस तरह ये २४ हुए। सांख्य लोग इन्हीं चौबीसोंको चौबीस तत्त्व कहते हैं।

भगवान् कहते हैं, कि उनको जिन्हें वैशेषिक लोग आत्माकी सहजात उपाधियाँ कहते हैं, वे एकमात्र क्षेत्रकी उपाधियाँ हैं; किन्तु क्षेत्रज्ञकी उपाधियाँ नहीं हैं—

इच्छा—जो सुखकारी वस्तु पहले अनुभव की है, वैसीही फिर देखनेपर जो उसके लाभ करनेकी उत्तेजना देती है, उसे इच्छा कहते हैं। इच्छा अन्तःकरणका स्वाभाविक गुण है, वह क्षेत्र है; क्योंकि वह समझने लायक़ है। इसी तरह द्वेष वह है, जो दुःखदायी चीज़में अनिच्छा पैदा करता है, यह भी क्षेत्र है; क्योंकि यह भी जानने योग्य है। इसी तरह सुख, दुःख आदि सभी क्षेत्र हैं और ये सब अन्तःकरणकी उपाधियाँ हैं। ये सब क्षेत्रज्ञकी उपाधियाँ नहीं हैं। यहाँ क्षेत्र अपने विकारों सहित वर्णन कर दिया गया है।

आत्मज्ञानमें वृद्धि करनेवाले गुण।

क्षेत्रके विषयमें ऊपर संक्षेपमें कहा जा चुका है। क्षेत्रज्ञके विषयमें इसी १३ वें अध्यायके १२ वें श्लोकमें कहा जायगा। इस जगह कृष्ण क्षेत्रज्ञके जानने योग्य साधनोंको विस्तारसे कहते हैं; क्योंकि

उन सब साधनोंके जाननेसे आत्मज्ञानमें सहायता मिलती है; अथवा यों कह सकते हैं, कि आत्मज्ञानके उन उपायों बिना आत्मज्ञान नहीं हो सकता। जो आत्मज्ञान-विद्याको जानना चाहते हैं, उन्हें इन उपायोंको ज़रूर जानना चाहिये—क्योंकि ज्ञानके साधन होनेसे ये भी ज्ञान रूप हैं।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षांति, सरलभाव, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थैर्य, आत्माका निग्रह, इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य होना, अहंकार न होना, जन्म, मरण, बुढापे, रोग और दुःखकी बुराइयोंको बारम्बार विचारना, पुत्र, स्त्री, घर, धन आदिसे मनको अलग रखना, उनके सुख-दुःखोंमें मन न लगाना, प्यारी और कुप्यारी चीजके मिलनेपर एकसा रहना, मुझ परमात्मा में अनन्य योग ; अथवा सर्वत्र आत्म-दृष्टिसे एकान्त भक्ति होना, एकान्त स्थान में रहना, संसारी लोगों की संगति से अरुचि, अध्यात्म ज्ञान में सदा नित्य भाव और तत्वज्ञान के विषय मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ मानना, अमानित्वसे लेकर यहाँ तक ये सब क्षेत्रज्ञ के ज्ञान के साधन कहे हैं। ये सब ज्ञान हैं—इसके विपरीत मान, दम्भ आदि अज्ञान हैं।

ऊपर ७ से लेकर ११ तक पाँच-श्लोकोंका अर्थ एकही जगह कर दिया है। अलग-अलग लिखनेसे पढ़नेवालोंको असुभीता होता।

अमानित्व=मानकी चाह न होना।

अदंभित्व=अपनी बड़ाई न मारना।

अहिंसा=किसी जीवको न मारना, न दुःख देना।

क्षान्ति=दूसरोंके दुःख देनेपर भी नाराज़ न होना।

सरल स्वभाव=जो दिलमें हो उसे ही बाहर कर देना।

गुरु सेवा=ब्रह्मविद्या सिखानेवाले गुरुकी टहल करना।

पवित्रता—पवित्रता दो प्रकारकी है:—(१) वाह्यशौच, (२) अन्तर शौच। जल और मिट्टी द्वारा शरीरके मैलके हटानेको "वाह्य शौच" कहते हैं। विषयोंमें दोष दिखाकर, मनको राग-द्वेष आदिसे रहित करनेको "अन्तर शौच" कहते हैं।

स्थैर्य=स्थिरता=सब जगहसे मन हटा कर एकमात्र मोक्षकी राहमें चेष्टा करना। बारम्बार विघ्न होनेपर भी मोक्षलाभकी चेष्टासे मन न हटाना।

आत्माका निग्रह=शरीर और मनका स्वभाव है, कि वे सब ओर जाते हैं, उन्हें सब ओरसे हटाकर ठीक राहपर लगानेको "आत्मनिग्रह" कहते हैं।

इन्द्रियोंका विषयोंसे वैराग्य=कान, आँख वग़ैरः इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें रुचि न होना।

अहङ्कार=गर्व=घमण्ड।

जन्म=मा के पेटमें नौ महीने तक रहना और फिर बाहर निकलना।

मृत्यु=शरीर छोड़नेके समय मर्मस्थानमें छेदनेकी सी पीड़ा होना।

बुढ़ापा=जिस अवस्थामें बुद्धि मन्द हो जाय, अङ्ग शिथिल हो जायँ और घर-बाहरके लोग अनादर और घृणा करने लगें, उस अवस्थाका नाम "बुढ़ापा" है।

रोग = ज्वर, अतिसार, खाँसी, संग्रहणी आदि रोग कहलाते हैं।

दुःख = इष्ट वस्तुके वियोग होने और अनिष्ट वस्तुके संयोगसे जो चित्तका परिताप-रूप परिणाम है, उसीका नाम "दुःख" है।

जन्म, मरण, बुढ़ापे, रोग और दुःखकी बुराइयोंका बारम्बार विचारना, जन्मके समय नौ महीने माके पेटमें रहना, फिर खूब सुकड़कर छोटी राहसे निकलना, माके पेटमें रहते समय मल,मूत्र, रक्त आदिमें रहना और वहाँ के मलके कीड़ों द्वारा काटा जाना और माताकी जठराग्नि द्वारा जलना इस तरह के अनेक दोषों का विचारना। इसी तरह मरणके समय सारी नसोंका खिंचाव होना, मर्म-स्थानोंमें बिच्छुओंके काटनेके समान पीड़ा होना, ऊपर का साँस चलना; भारी तकलीफ़ होनेके कारण बेहोशी होना, बेहोशीमें पड़े-पड़े ही मल-मूत्र निकल जाना इत्यादि दुःखोंपर विचार करना चाहिये। इसी तरह बुढ़ापेमें शरीर शिथिल हो जाना, आँखोंसे दिखाई न देना, कानोंसे सुनाई न पड़ना, हाथ-पैर आदि इन्द्रियों-का निकम्मा हो जाना, साँस चढ़ना, उठनेकी चेष्टा करना और गिर पड़ना, शरीर काँपना, क्षुधा मन्द हो जाना, हरदम खाँसीके मारे खों-खों करना; घरके लोगों—स्त्री-पुत्र आदि द्वारा अनादर होना, इत्यादि दोषोंपर विचार करना; इसी तरह रोगोंमें दुःख पाना और दुःखोंसे जी जलना इत्यादिपर विचार करना चाहिये। इन विषयों पर बारम्बार विचार करनेसे "वैराग्य" हो जाता है। जन्म-मरण बुरा लगने लगता है। तब मनुष्य मोक्ष की इच्छा करके, मोक्ष-साधनके उपायोंमें चित्त लगाता है।

यह चीज़ मेरी है, ऐसा समझकर किसी चीज़में प्रीति न रखना, स्त्री, पुत्र, नौकर, चाकर, महल, मकान आदिसे मन अलग रखना, अच्छी और प्यारी चीज़के मिलने पर प्रसन्न न होना, बुरी और कुप्यारी चीज़के मिलनेपर दुःखी न होना, यह समचित्तता भी ज्ञान बढ़ानेवाली है। स्थिर और अटल चित्त से मुझ वासुदेवमें

ही भक्ति रखना, किसी भी कारणसे किसी अवस्थामें भी मेरी भक्ति से न डिगना और मुझे ही अपनी परमगति समझना, मुझसे परे किसीको भी न समझना, यह भक्ति भी ज्ञानका कारण है। जहाँ साँप, चीते और चोरोंका भय न हो, जहाँ किसी तरहका झञ्झट न हो, ऐसे नदीके किनारेपर अथवा वनमें अकेले रहना; क्योंकि आत्मा का ध्यान एकान्त स्थानमें अच्छा होता है। विषयी या पापियोंकी मण्डलीमें न रहना; किन्तु महात्माओंकी सङ्गति करना,—ये सब तरीके "आत्मज्ञान" प्राप्त करनेमें सहायक हैं।

ब्रह्म जानने योग्य है।

अमानित्वसे लेकर तत्त्वज्ञानके विषय मोक्ष तक, जो बीस ज्ञान नामके साधन हैं, उनसे किस चीज़को जानना चाहिये, इसके जवाबके लिये भगवान् आगे फिर छः श्लोक कहते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

हे अर्जुन! जो जानने योग्य है, उसे मैं कहता हूँ। उसके जानने से मनुष्यकी मुक्ति हो जाती है। वह अनादि परब्रह्म है। उसे सत्-असत् नहीं कहते।

ब्रह्म ही चेतनताका कारण है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

उस परब्रह्म के हर ओर हाथ और पाँव हैं। उसके हर तरफ़ आँख, सिर और मुख हैं। उसके हर तरफ़ कान हैं। वह सबको व्याप्त करके स्थित है।

खुलासा—उसके चारों ओर हाथ, पाँव, आँखें, कान, मुख और सिर हैं। वह सब जगह फैल रहा है। कोई भी स्थान ऐसा नहीं

है, जहाँ वह नहीं है । सारा संसार उसी पर ठहरा हुआ है । वह सबके काम देखता और सबकी बातें सुनता है ।

हमारे नखसे शिख तक वह व्याप्त है । हम उसीकी सत्तासे चलते, फिरते और काम करते हैं । हम उसीकी चेतनासे देखते, सुनते, बोलते और सूँघते हैं । जिस तरह रथ, गाड़ी वगैर: जड़ पदार्थ चेतनकी सहायतासे चलते हैं, बिना चेतनकी सहायता नहीं चलते, ऐसे ही हाथ पैर आदि जड़ पदार्थ बिना चेतनकी सहायता के कोई काम नहीं कर सकते ।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

वह नेत्रादि सब इन्द्रियोंके व्यापार से भासता है (तथापि) इन्द्रियों से रहित है । वह संग-रहित है; तथापि सारे ब्रह्माण्डको धारण कर रहा है । वह सत्व आदि गुणों से रहित है ; तथापि उनका भोगनेवाला है ।

खुलासा—परब्रह्मके कान, नाक आदि कोई भी इन्द्रिय नहीं है; परन्तु वह सब इन्द्रियोंमें उनके गुण देनेवाला है । वह, इन्द्रिय बिना होनेपर भी, सब इन्द्रियोंके गुणोंसे मालूम होता है । असल बात यह है, कि यह आत्मा आँख न होनेपर भी देखता है, कान न होनेपर भी सुनता है, हाथ न होनेपर भी चीज़को पकड़ता है, पैर न होनेपर भी चलता है; इसीसे इसका होना जान पड़ता है । वह परब्रह्म असंग है; तथापि सबको धारण करता है । वह सत्व, रज और तम, इन गुणोंसे रहित है; तथापि गुणोंका भोगनेवाला है; यानी विषयोंसे पैदा हुए सुख-दुःख आदिका अनुभव करता हुआ जान पड़ता है ।

ब्रह्म सर्व है ।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

वह (सब) प्राणियोंके भीतर और बाहर है । वह अचर भी है और चर भी है ; क्योंकि वह बहुतही सूक्ष्म—बारीक—है; इसीसे वह जाना नहीं जा सकता । वह दूर भी है और पास भी ।

खुलासा—वह सारे चराचर प्राणियोंके भीतर और बाहर है। जिस तरह चन्द्रमाकी चाँदनी सब जगह व्याप्त है; किन्तु कारण-विशेषसे कहीं दीखती और कहीं नहीं दीखती है; उसी तरह जिनकी ज्ञानकी आँखें नहीं खुली हैं, उन्हें वह नहीं दीखता ; किन्तु जिनकी ज्ञानकी आँखें खुल गयी हैं, उनको दीखता है। वह चर भी है और अचर भी है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि हिलने-डोलने-वालोंके साथ चर मालूम होता है; किन्तु पेड़, वृक्ष आदि एक जगह ठहरे रहनेवालोंके साथ अचर (न हिलने-डोलनेवाला) मालूम होता है। वह सूक्ष्म ; यानी बहुतही छोटा है ; इसीसे वह जाना नहीं जा सकता। तीव्र बुद्धिवाले ज्ञानसे उसे जान सकते हैं ; किन्तु मोटी बुद्धिवाले उसे नहीं जान सकते। वह पास भी है और दूर भी। जो अपने आत्माकोही क्षेत्रज्ञ, परमात्मा, समझते हैं ; जो यह समझते हैं, कि आत्माके सिवाय और परमात्मा नहीं है, वह उनके पास है ; किन्तु जो आत्माके सिवाय और को परमात्मा समझते हैं और उसकी तलाशमें जगह-जगह मारे-मारे फिरते हैं, उनसे वह परमात्मा दूर है। जिस तरह मृगकी नाभिमेंही कस्तूरी रहती है ; मगर वह, उसकी सुगन्धसे, उसे अपनेमें न समझकर, उसकी तलाशमें मारा-मारा फिरता है और उसे नहीं पाता ; इसी तरह अपने भीतरही आत्माको छोड़कर, अज्ञानसे उसे अपने अन्दर न समझकर, उसकी तलाशमें पूरबसे पच्छिम और उत्तरसे दक्खन तक जो मारे-मारे फिरते हैं, उन्हें वह कभी नहीं मिलने का।

ब्रह्म सबमें एक है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

यद्यपि उसके भाग नहीं हो सकते; तथापि वह सब प्राणियों में बँटा हुआ जान पड़ता है। वह क्षेत्रज्ञ सब प्राणियोंका पालन करनेवाला, नाश करनेवाला और पैदा करनेवाला है।

वह भिन्न-भिन्न शरीरों में बँटा हुआ नहीं है, वह आकाशके समान एक है; तथापि वह भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न मालूम होता है। मतलब यह है, कि वह सबमें एकही है; मगर शरीरोंमें रहता हुआ, उपाधिके सम्बन्धसे, अलग-अलग मालूम होता है। वास्तवमें, वह निर्विकार है।

ब्रह्म सबका प्रकाशक है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्॥ १७॥

वह ज्योतियों की भी ज्योति है, इसीलिये वह अज्ञानसे परे कहा जाता है। वही ज्ञान है, वही जानने योग्य वस्तु है, वही ज्ञानसे मिलता है, वह सब प्राणियोंके हृदयमें ठहरा हुआ है।

वह जानने योग्य ब्रह्म ज्योतियोंकी भी ज्योति है; यानी वह सूर्य, चाँद, बिजली आदि चमकीली चीज़ोंमें भी प्रकाश करनेवाला है। जिस तरह वह इन बाहरी ज्योतियोंमें प्रकाश करनेवाला है, उसी तरह वह मन, बुद्धि आदि अन्तर-ज्योतियोंका भी प्रकाशक है इत्यादि।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

हे अर्जुन! क्षेत्र (शरीर) ज्ञान और ज्ञेय (क्षेत्रज्ञ) ये तीनों संक्षेप से कहे गये। इन्हें जानकर मेरा भक्त मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है।

खुलासा—इसी तेरहवें अध्यायके ५।६ श्लोकोंमें "क्षेत्र" का वर्णन किया गया है। सातवें श्लोकसे लेकर ग्यारहवें तकमें (अमानित्व

आदिसे तत्त्वज्ञानके विषय मोक्षतक) ज्ञानका वर्णन किया गया है। बारहवेंसे सतरहवें तक ज्ञेय (जानने योग्य) का वर्णन संक्षेपमें दिया गया है। यही गीता और वेदोंका उपदेश है।

जो मनुष्य मेरी भक्ति करता है, जो मुझे, वासुदेव, परब्रह्म, सर्व-व्यापक, परम गुरु, और हर प्राणीका आत्मा समझता है; यानी जिसके दिलमें यह खयाल है, कि मैं जो देखता सुनता या छूता हूँ, वह वासुदेवके सिवाय कुछ नहीं है, वह मेरी भक्तिमें लीन होकर तथा ऊपर कहे हुए "क्षेत्र" "ज्ञान" और "ज्ञेय" का ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पा जाता है।

प्रकृति और पुरुष सनातन हैं।

सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें "क्षेत्र" और "क्षेत्रज्ञ" के अनुरूप "परा" और "अपरा" दो प्रकारकी प्रकृतियोंका वर्णन किया गया था और यह भी कहा गया था, कि यही सब जीवोंको पैदा करने-वाली हैं। प्रश्न हो सकता है, कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों प्रकृतियाँ सब जीवोंको पैदा करनेवाली किस तरह हैं? आगे इस प्रश्नका उत्तर दिया जायगा।

> प्रकृतिं पुरुषं चैवं विद्ध्यनादी उभावपि।
> विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥

हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष दोनोंही अनादि हैं। शरीर और इन्द्रिय आदि सब विकार तथा सुख, दुःख, मोह आदि गुण इनको प्रकृतिसे पैदा हुए जानो।

प्रकृति और पुरुष—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये दोनों ईश्वरकी प्रकृ-तियां हैं। ये दोनों प्रकृति और पुरुष आदि-रहित हैं; यानी अनादि हैं। जब ईश्वर अनादि है, तो उसकी प्रकृतियाँ भी अनादि होनी चाहियें। ईश्वरका ईश्वरत्व अपनी दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंके ऊपर अधिकार रखनेसे है। उन दोनों प्रकृतियोंसेही वह जगत्

को पैदा करता, पालन करता और नाश करता है। दोनों प्रकृतियाँ आदि-रहित हैं और इसलिये वे संसारकी कारण हैं।

कुछ लोग ऐसा अर्थ करते हैं, कि प्रकृतियाँ अनादि नहीं हैं। इस अर्थसे वे ईश्वरको जगत्का कारण ठहराते हैं। वे कहते हैं, कि अगर प्रकृति और पुरुष सनातन हैं, तो संसारका कारण वे प्रकृतियाँही हैं। ईश्वर जगत्का रचनेवाला नहीं है।

यह बात ग़लत है। अगर प्रकृति और पुरुष अनादि नहीं हैं, तो इन दोनोंके पैदा होने तक ईश्वर किसपर शासन करता होगा? यदि शासन करनेको कोई न रहे, तो ईश्वर ईश्वर नहीं है। इसके सिवा यह भी है, कि अगर संसारका कारण ईश्वरके सिवा और कुछ न होता, तो संसारका भी अन्त न होता। इस बातसे शास्त्र भी निकम्मे हो जाते, साथही मोक्ष और संसारबन्धनका झगड़ा भी न रहता।

प्रकृति और पुरुष ही संसारके कारण हैं।

अगर ऊपरकी बातके विपरीत ईश्वरकी प्रकृतियाँ अनादि मान ली जायँ, तो यह गूढ़ रहस्य झटपट खुल जाता है।—कैसे? शरीर, इन्द्रिय आदि विकार; सुख, दुःख, मोह आदि गुण, तीन गुणोंसे बनी हुई प्रकृति—माया—से उत्पन्न होते हैं। वह ईश्वरीय प्रकृति—माया—ही रद्दोबदल करती है।

प्रकृतिसे पैदा हुए विकार और गुण क्या हैं? भगवान् कहते हैं—

> कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
> पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

कार्य और कारणको पैदा करनेवाली प्रकृति है और सुख-दुःख को भोगनेवाला पुरुष है।

"कार्य्य" शरीर है। कारण १३ हैं, जो शरीरमें मौजूद हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहङ्कार ये १३ कारण हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच भूत शरीरको बनाते हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकृतिके विकार हैं, ये सब "कार्य्य" शब्दके अन्तर्गत हैं। सुख, दुःख, मोह आदि गुण जो प्रकृतिसे पैदा होते हैं "कारण" कहलाते हैं। शरीर, इन्द्रियों तथा विकारोंका कारण प्रकृति कही जाती है, क्योंकि प्रकृतिही इन्हें पैदा करती है। जबकि प्रकृति शरीर और इन्द्रियोंको पैदा करती है; तब वही संसारका कारण है।

आगे यह बताया जायगा, कि पुरुष संसारका कारण किस तरह है। ध्यान रखना चाहिये, कि 'पुरुष' 'जीव' 'क्षेत्रज्ञ' 'भोक्ता' एक ही अर्थसूचक शब्द हैं; यानी इन सबका एकही अर्थ है।

शंका—प्रकृति अचेतन है, इसलिये वह खुद शरीर वगैरः नहीं पैदा कर सकती। पुरुष निर्विकार है, इसलिये उसे सुख-दुःखका भोगनेवाला कहना अनुचित है।

उत्तर—प्रकृति अचेतन है, मगर चेतनके साथ सम्बन्ध होनेसे वह जगत्‌के उपादानका कारण है। इसी तरह निर्विकार पुरुष भी जड़ प्रकृतिके सम्बन्धसे भोक्ता मालूम होता है। जिस तरह चुम्बकके पास पहुँचनेसे लोहा चेष्टा करता है; उसी तरह प्रकृति और पुरुष, पास-पास होनेसे, अपना-अपना काम करते हैं। पुरुषके पास होनेसे प्रकृति कर्त्ता है और प्रकृतिके पास होनेसे पुरुष भोक्ता है। इससे सिद्ध होता है, कि प्रकृति और पुरुष ही संसारके कारण हैं। उनमेंसे एक शरीर और इन्द्रियोंको पैदा करता है और दूसरा सुख-दुःखोंको भोगता है।

अविद्या और काम बारम्बार जन्म लेनेके कारण हैं।

कहा गया है, कि पुरुष सुख-दुःखोंको भोगता है। यहाँ यह सवाल पैदा होता है, कि वह सुख-दुःखोंको क्यों भोगता है? भग-वान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

पुरुष प्रकृति में रहकर, प्रकृतिसे पैदा हुए सुख-दुःखोंको भोगता है। प्रकृतिके गुणोंके संगके कारणसे ही उसे नीची-ऊँची योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है।

क्योंकि पुरुष—भोक्ता—प्रकृति यानी अविद्यामें रह कर, अपने तईं अपने शरीर और इन्द्रियोंसे अभिन्न समझता है, यह उसकी भूल है। वह यह नहीं समझता, कि शरीर और इन्द्रियाँ प्रकृतिके विकार हैं; इसीलिये वह प्रकृतिके सुख-दुःख आदि गुणोंको भोगता है। वह समझता है "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं बुद्धिमान् हूँ।" वह अपने तईं सुखी-दुःखी समझता है; इसीसे उसे जन्म लेना पड़ता है।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

इस देहमें रहकर यह पुरुष देखनेवाला (साक्षी), सलाह देनेवाला, पोषण करनेवाला, भोगनेवाला और महेश्वर परमात्मा है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

हे अर्जुन! जो इस तरहसे पुरुषको जानता है और गुणों सहित प्रकृतिको जानता है, वह संसारमें रहता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

कितने ही मनुष्य मनसे ध्यान करके अपने में ही आत्मा को देखते हैं। कितने ही सांख्य-योग यानी प्रकृति-पुरुष के विचार से देखते हैं और कितने ही कर्म-योगसे देखते हैं

ऊँचे दरजेके योगी या उत्तम अधिकारी सब ओरसे चित्तको

हटा कर उसे आत्मामें लगा लेते हैं। ध्यानका प्रवाह लगातार जारी रहनेसे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उन्हें अपने ही भीतर आत्मा—परमात्मा—दिखाई देने लगता है। सांख्य-योगवाले ऐसा विचार करते हैं, कि सत्व, रज, और तम तीन गुण हैं। आत्मा सनातन और उनके कामोंको देखनेवाला है और उन गुणोंसे अलग है। इस तरहका विचार करनेवाले मध्यम अधिकारी कहलाते हैं। ये लोग आत्मामें आत्माको आत्माद्वारा देखते हैं, यह कर्मयोग है; यानी वह कर्म जो ईश्वरकी सेवाके लिये किया जाता है, योग है। ऐसे कर्मको योग इसलिये कहते हैं, कि योगको वह राह दिखलाता है। कुछ लोग इस कर्मयोगसे आत्माको देखते हैं; यानी ईश्वरके लिये कर्म करनेसे चित्त शुद्ध हो जाता है और फिर ज्ञान हो जाता है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुति परायणाः॥ २५॥

हे अर्जुन! कितने ही ऐसे हैं, जो सांख्य-योग और कर्म-योग दोनों को नहीं जानते; किन्तु दूसरोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं। वे भी श्रद्धापूर्वक उसके सुननेसे संसार-सागरसे तर जाते हैं।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

हे अर्जुन! संसारमें जो स्थावर और जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के मिलनेसे पैदा होते हैं, ऐसा जान।

सबमें एक आत्मा है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

हे अर्जुन! जो सारे प्राणियोंमें परमेश्वरको समान भावसे देखता है और प्राणियोंके नाश होनेपर भी आत्मा को अविनाशी देखता है—वही देखता है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

जो देखता है, कि ईश्वर सबमें समान भावसे वर्त्तमान है, वह आत्मासे आत्माको नष्ट नहीं करता, इसलिये उसकी मोक्ष हो जाती है ।

खुलासा—जो ईश्वर या जीवको विकारवान् समझता है, वह अपना नाश आप करता है । जो आत्माको ईश्वरकी तरह सब जगह देखता है, ईश्वर और आत्मामें भेद नहीं समझता, वह आत्माको नाश नहीं करता ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

जो पुरुष यह समझता है, कि सारे काम प्रकृति ही करती है, आत्मा कुछ नहीं करता, वही आत्माको ठीक तरहसे पहचानता है ।

खुलासा—जो यह समझता है, कि सभी भले-बुरे कर्म शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण द्वारा होते हैं, आत्मा कुछ भी नहीं करता, वही आत्माको अच्छी तरह जानता है और उसीको मोक्ष होती है ।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष स्थावर, जंगम सब प्राणियोंके जुदे-जुदे भेदोंको, प्रलयकालमें, ईश्वरकी एक ही शक्ति—प्रकृति—में टिका हुआ मानता है और उसी प्रकृतिमें सब प्राणियोंके विस्तारको मानता है, वह ब्रह्म हो जाता है ।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन ! यह परमात्मा अनादि, गुणरहित और अविनाशी है । यद्यपि वह देहमें रहता है, तथापि न कर्म करता है और न कर्म-फलोंमें लिप्त होता है ।

खुलासा—आत्मा अनादि और निर्गुण है; इसीसे वह कभी नाश नहीं होता। जो आदि-सहित और गुणयुक्त होता है, उसका नाश हो जाता है। इसीसे सिद्ध हुआ, कि परमात्मा अविनाशी है। यद्यपि वह शरीर में रहता है; तथापि वह काम नहीं करता; क्योंकि वह कर्म नहीं करता; इसीसे उसे कर्म-फलोंमें लिप्त नहीं होना पड़ता। साफ़ मतलब यह है, कि जो कर्त्ता है वही कर्म-फल भोगता है; लेकिन यह आत्मा तो अकर्त्ता है, इसीसे कर्म-फलों से दूषित नहीं होता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन! जिस तरह सर्वत्र-व्यापक आकाश अपनी सूक्ष्मता के कारणसे दूषित नहीं होता; उसी तरह सारी देहमें बैठा हुआ आत्मा भी दूषित नहीं होता।

खुलासा—शरीरके किये दोषोंसे आत्मा कभी दूषित नहीं होता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

जिस भाँति एक सूर्य सारे जगत्में प्रकाश करता है; उसी तरह एक क्षेत्री सारे शरीरमें प्रकाश करता है।

खुलासा—जिस तरह एक सूर्य्य सारे संसारमें उजियाला करता है; उसी तरह एक क्षेत्री—परमात्मा—सारे शरीरोंमें वर्त्तमान है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

जो ज्ञानकी आँखोंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका फ़र्क़ अच्छी तरह देखते हैं और प्रकृतिसे मोक्षके उपाय धारणा आदिको जानते हैं, उनकी मोक्ष हो जाती है।

खुलासा—बन्धनका कारण भी प्रकृति है और मोक्षका कारण भी प्रकृति है। तमोगुण-रजोगुणके सम्बन्धसे बन्धन होता है; किन्तु सतोगुणके सम्बन्धसे मोक्ष होती है।

तीन गुण ।

यह पहले कहा गया है, कि सभी जो पैदा हुए हैं, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धसे पैदा हुए हैं।—यह कैसे हो सकता है?—यह अध्याय इसी सवालके जवाबके लिये कहा गया है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, दोनोंही ईश्वरके अधीन हैं और वेही संसारके कारण ठहरते हैं, यही दिखानेके लिये कहा गया है, कि क्षेत्रज्ञ का क्षेत्रमें रहना और उसका गुणोंमें अनुराग होनाही संसारका कारण है।—किस तरह और किन गुणोंमें क्षेत्रज्ञका अनुराग है? गुण क्या हैं? वह उसे किस तरह बन्धनमें फँसाते हैं? गुणोंसे छुटकारा किस तरह हो सकता है? मुक्त आत्माके स्वभावके विशेष लक्षण क्या हैं? इन सब प्रश्नोंके उत्तर भगवान् नीचे देते हैं:—

जगत्की उत्पत्तिका ज्ञान मोक्षके लिये जरूरी है।

श्रीभगवानुवाच।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

भगवान् बोले:—

हे अर्जुन! मैं तुझे उस बड़े और सबसे उत्तम ज्ञानका उपदेश फिर करता हूँ; जिसके जान जानेसे सम्पूर्ण मुनि लोग मोक्ष पा गये।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानका सहारा लेकर जो मुनि लोग मेरे साधर्म्य को प्राप्त हो गये हैं; वे न तो सृष्टि-रचना के समय पैदा होते हैं और न प्रलयके समय दुःख भोगते हैं।

जिस ज्ञानका उपदेश मैं तुझे अभी करनेवाला हूँ, वह ज्ञान ऐसा उत्तम है, कि उसके सहारेसे जो मुनि लोग मेरे अनुरूप हो गये हैं, उन्हें कभी जन्म लेना और मरना नहीं पड़ता।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके मेलसे जगत्का प्रसार।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

महत् ब्रह्म मेरी योनि है, उसमें मैं बीज डालता हूँ; हे भारत! उसीसे सब प्राणी पैदा होते हैं।

खुलासा—महत् ब्रह्मसे यहाँ मतलब प्रकृतिसे है। प्रकृति मेरी स्त्री है। मैं उसमें हिरण्यगर्भके पैदा होनेके लिये बीज डालता हूँ। उससे सब जगत् पैदा होता है। मेरे अधिकारमें दो शक्तियाँ हैं यानी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूपी दो प्रकृतियाँ हैं। मैं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का मिलान कर देता हूँ। क्षेत्रज्ञ अविद्या, काम और कर्ममें युक्त हो जाता है। इस तरह गर्भाधान करनेसे हिरण्यगर्भकी पैदायश होती है और उससे तमाम जगत् पैदा होता है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे कौन्तेय! सब योनियों से जितने प्रकार के शरीर पैदा होते हैं, उन सबकी योनि "प्रकृति" है और मैं उसमें बीज डालनेवाला पिता हूँ।

खुलासा—हे अर्जुन! देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि

जो सब योनियोंसे पैदा होती हैं, उन सबकी कारण-रूप माता "प्रकृति" है और गर्भाधान करनेवाला पिता—मैं हूँ।

गुण आत्माको बाँधते हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो! सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण,—ये तीन गुण, प्रकृतिसे पैदा होकर, अविनाशी जीवको देहमें बाँधते हैं।

गुणोंका स्वभाव और कर्म।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥

हे पापरहित! इन तीनों गुणों में से सतोगुण निर्मल, रोग-रहित और शान्तिस्वरूप है, इसीसे यह सुख और ज्ञान के लालच में बाँधता है।

खुलासा—हे अर्जुन! इन तीनों गुणोंमें सतोगुण निर्मल है। यह ज्ञानका प्रकाशक है। इसके सिवा, यह शान्तिस्वरूप है, इसीसे सुखकारी है। सतोगुणके कारण से "मैं सुखी हूँ" "मैं ज्ञानी हूँ", ऐसा खयाल आत्मा करता है। यह अहङ्कार है और इस अहङ्कारसे ही आत्माका बन्धन होता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! रजोगुण को रागात्मक जान। इससे तृष्णा और संगकी पैदाइश होती है। रजोगुण जीव को काम में लगाकर बन्धन में बाँधता है।

खुलासा—रजोगुण मनुष्यको संसारी विषयोंमें लगाता है और विषयोंमें प्रीति करता है। जिस समय रजोगुणका दौर-दौरा होता

है, तब मनुष्य जो-जो चीज़ें देखता या सुनता है, उन सबके पानेकी इच्छा करता है। मनमें सोचता है, इस चीज़के मिलनेसे मुझे सुख होगा। जब वह इच्छित वस्तु मिल जाती है, तब उसमें उसकी मुहब्बत हो जाती है। जब वह चीज़ उससे अलग हो जाती है, तब उसे दुःख होता है। और भी खुलासा यह है, कि रजोगुणही आत्माको काममें लगाता है। आत्मा कुछ भी करनेवाला नहीं है। रजोगुण उस आत्माके दिलमें यह ख़याल पैदा करके, कि "मैं करता हूँ" काम कराता है। रजोगुण ही मनुष्यको काम करनेके लिये उकसाया करता है। रजोगुणके प्रभावसे मनुष्य कर्म्म करने लगता और देहके बन्धनमें फँसता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे भारत! तमोगुण अज्ञान से पैदा होता है; इसलिये वह सब शरीरधारियों को भूलमें डालता है। वह आलस्य, नींद और प्रमाद से जीवको बाँधता है।

खुलासा—रजोगुण ज्ञानपर पर्दा डालनेवाला और जीवोंके मन में भ्रम पैदा करनेवाला है। भगवान्, आगे, इन्हीं तीनों गुणोंके विषयमें संक्षेपसे कहते हैं।

सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ६ ॥

हे भारत! सतोगुण जीव को सुख में लगाता है। रजोगुण मनुष्यको काममें लगाता है। तमोगुण, ज्ञानको ढक कर, जीवको प्रमाद में लगाता है; यानी आवश्यक कर्त्तव्य-कार्योंसे रोकता है।

गुणोंके परस्पर कार्य्य।

ऊपर कहे हुए कार्य गुण कब करते हैं? क्या वे अपने कार्य

एक साथ करते हैं अथवा अलग-अलग समयोंपर, अपनी-अपनी बारीसे ? इसका जवाब भगवान्, नीचे, स्वयं देते हैं :—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सतोगुण प्रकट होता है । सतोगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण प्रकट होता है और सतोगुण तथा रजोगुणको दबाकर तमोगुण प्रकट होता है ।

खुलासा—जब एक गुण प्रकट होता है ; तब दूसरे दो गुण दब जाते हैं । तीनों या दो गुण एक समय नहीं रहते । जब सतोगुण का ज़ोर होता है, तब रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं । इसी तरह औरोंको समझ लो । जिस समय सतोगुण प्रकट होगा, उस समय सतोगुणका काम अच्छा लगेगा । उस समय ज्ञान-चर्चा अच्छी लगेगी । इसी तरह जब रजोगुणका समय होगा, तब ज्ञान-चर्चा तो अच्छी न लगेगी ; किन्तु नाच, गान, थियेटर आदि अच्छे लगेंगे । सतोगुणके समय यही नाच, गान, स्त्री वग़ैरः अच्छे न लगेंगे । इसी तरह, तमोगुणके समय—नाच, गान, स्त्री तथा ज्ञान-चर्चा कुछ अच्छी न लगेगी; उस समय केवल नींद और आलस्य घेरेंगे ।

किस समय कौनसे गुणकी प्रबलता है, यह जानने की तरकीब ।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जिस समय इस देह और इन्द्रियों में ज्ञानका प्रकाश हो, उस समय "सतोगुणकी वृद्धि" जाननी चाहिये ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! जब "रजोगुणकी वृद्धि" होती है, तब मनुष्यमें लोभ

चढ़ जाता है और उसकी काम करनेकी इच्छा होती है। उस समय वह काम आरम्भ करने लगता है तथा अशान्ति और तृष्णा पैदा हो जाती हैं।

खुलासा—जिस समय दूसरेके मालको अपना करनेकी इच्छा हो, जिस समय काम करनेको जी चाहे, जिस समय चित्तमें खुशी या प्रेम वग़ैर: न हो किन्तु बेचैनी हो, जिस समय देखी या सुनी चीज़ोंको प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उस समय समझना चाहिये, कि रजोगुणकी प्रबलता है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

जिस समय तमोगुणकी प्रबलता होती है, उस समय अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह पैदा होता है।

खुलासा—जिस समय ज्ञान न रहे, काममें मन न लगे, काममें भूल होने लगे तथा असावधानता होने लगे, उस समय समझना चाहिये, कि तमोगुणकी प्रबलता है।

किस गुणके समयमें मरनेसे गति होती है ?

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

अगर कोई मनुष्य सतोगुणकी प्रबलता के समय मरे, तो वह हिरण्यगर्भ आदिके उपासकोंके निर्मल लोकमें जाता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

जो रजोगुणकी प्रबलताके समय मरता है, वह कर्म-संगी-मनुष्यों में पैदा होता है और जो तमोगुणके समय मरता है, वह पशु-पक्षियों की योनि में जन्म लेता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

अच्छे कर्मोंका फल सात्विक और निर्मल है । रजोगुण-सम्बन्धी कर्मोंका फल दुःख है और तमोगुण-सम्बन्धी कर्मोंका फल अज्ञान है ।

खुलासा—जो सतोगुण-सम्बन्धी कर्म करते हैं, वे सुख पाते हैं । जो रजोगुण-सम्बन्धी कर्म करते हैं, वे दुःख भोगते हैं । जो तमोगुण-सम्बन्धी कर्म करते हैं, उन्हें अपने उन कामों का फल "अज्ञान" मिलता है ।

सत्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! सतोगुणसे ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुणसे असावधानता, मोह और अज्ञान पैदा होता है ।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्थाः अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

सतोगुणी ऊपर के लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणी मध्य लोकोंमें जाते हैं, और तमोगुणी नीचेके लोकोंमें जाते हैं ।

खुलासा—जो सतोगुणके काम करते हैं, वे सत्यलोकमें जाते हैं यानी उत्तम गति पाते हैं ; जो रजोगुणके काम करते हैं, वे मृत्यु लोकमें जन्म लेते हैं और अनेक प्रकारके जन्म, मरण आदि दुःख भोगते हैं ; जो तमोगुण-सम्बन्धी कर्म करते हैं, वे नीच लोकमें जाते हैं; यानी पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेते हैं ।

आत्माको गुणोंसे परे जाननेवालेकी मोक्ष हो जाती है ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

जो विवेकी पुरुष गुणोंके सिवा और किसीको कर्ता नहीं जानता

और आत्माको "गुणोंसे परे साक्षीरूप" जानता है, वह मेरे रूपको प्राप्त होता है।

खुलासा—जो यह समझता है, कि सब कर्मोंके करनेवाले "गुण" हैं, आत्मा कुछ नहीं करता है, आत्मा तो साक्षी-मात्र है, वह शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूपको प्राप्त होता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

जो देहधारी शरीरसे पैदा हुए प्रकृतिके तीनों गुणों (सत्व, रज और तम) को उल्लंघन करता है, वह जन्म, मृत्यु, बुढ़ाई और रोगोंसे छुटकारा पाकर अमर हो जाता है।

खुलासा—सत्व, रज, तम ये तीन गुण देहकी उत्पत्तिके बीज हैं। इनकी ममता और इनका सङ्ग छोड़ देनाही इनको जीत लेना है। इन तीन गुणोंके सम्बन्धसेही जन्म, मृत्यु और बुढ़ापा वग़ैरः दुःख होते हैं। इनके सम्बन्धसेही आत्मा अपने शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल जाता है। इनके छोड़नेमें चेष्टा करनी और तकलीफ़ उठानी पड़ती है; किन्तु परमानन्दकी प्राप्तिमें इतनी कोशिश और तकलीफ़की दरकार नहीं होती।

अर्जुन उवाच।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन ने कहा :—

हे प्रभो! जो इन तीन गुणोंको उल्लंघन करता है, उसकी क्या पहचान है? उसका आचरण कैसा है? इन तीनों गुणोंका उल्लंघन कैसे होता है?

श्रीभगवानुवाच।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥

भगवान् ने कहा :—

हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहके वर्त्तमान रहनेपर, वह इनसे द्वेष नहीं करता और इनके वर्त्तमान न रहनेपर, वह इनकी चाह नहीं रखता ।

खुलासा—प्रकाश सतोगुणका कार्य-रूप है ; प्रवृत्ति (काममें लगना) रजोगुणका कार्य-रूप है। मोह तमोगुणका कार्य-रूप है। इन तीनों गुणोंके कार्यके मौजूद होने पर, वह इनसे घृणा नहीं करता और इनके मौजूद न रहनेपर, वह इनकी चाह नहीं रखता। जिसको शुद्ध ज्ञान नहीं होता, वह इनसे इस भाँति नफ़रत करता है—इस समय मेरा तामसी भाव है, जिससे मुझे मोह हो रहा है ; इस समय मुझमें राजसी प्रवृत्ति है, जो दुःखदायी है। इस रजोगुणके तरग़ीब देनेसे मैं अपने स्वभावसे नीचे गिर गया हूँ। इस समय मुझमें सतोगुणी भाव है। सतोगुण मुझे सुखका लालच दिखाकर, मुझे बन्धनमें फँसाता है। ये सब दुःखदायी हैं। जो मनुष्य गुणोंको उल्लङ्घन कर जाता है, वह इनसे न तो घृणा करता है और न इनकी चाह ही रखता है ; बल्कि उदासीन-सा रहता है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! जो उदासीनकी तरह रहता है और सत्व, रज, तम, इन तीन गुणोंके सुख-दुःख रूपी कामोंसे चलायमान नहीं होता और ऐसा समझता है, कि ये तीनों गुण अपने-अपने काम में आपही लगे हुए हैं, वह "गुणातीत" है ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

जो सुख-दुःखको समान समझता है, जो मानसिक विकारों से अलग रहता है ; जो कंकर, पत्थर और सोने को समान समझता है,

जो प्यारी और कुप्यारी चीज़को एकसी समझता है, जो धीर है, जो बड़ाई और बुराई को समान समझता है, वह गुणातीत है।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

जो मान-अपमान को एकसा समझता है, जो शत्रु-मित्र को बराबर समझता है, जो किसी काम में हाथ ही नहीं लगाता, वह गुणातीत है।

खुलासा—वह दृश्य और अदृश्य फलोंके देनेवाले कामोंको त्याग देता है; सिर्फ इतनाही करता है. जो शरीर-रक्षार्थ ज़रूरी है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

जो कोई अखण्ड भक्ति से मेरी सेवा करता है, वह इन तीनों गुणों को पार करके ब्रह्मभाव से प्राप्त होने योग्य हो जाता है; यानी मोक्ष के योग्य हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

अविनाशी, निर्विकार ब्रह्म का स्थान मैं हूँ, सनातनधर्म का स्थान मैं हूँ और एकान्त सुख का स्थान मैं हूँ।

खुलासा—मैं अविनाशी ब्रह्म, सनातनधर्म—भक्तियोग—एकान्त सुख—अपने स्वरूपकी प्राप्ति—का आधार हूँ; इसलिये जो अखण्डित भक्तियोगसे मेरी सेवा करता है,—वह सत्व, रज, तम इन तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके मेरे भावको प्राप्त होता है; यानी ब्रह्म हो जाता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय।

संसार-वृक्ष।
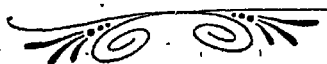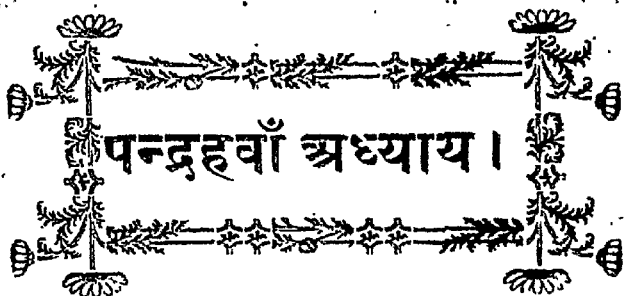
क्योंकि सब जीव कर्म-फलोंके लिये और ज्ञानी अपने ज्ञानके फलके लिये मेरे अधीन हैं: इसवास्ते जो लोग भक्ति-योगसे मेरी सेवा करते हैं, ज्ञान प्राप्त करके मेरी कृपासे गुणोंको पार कर जाते हैं और मुक्ति पा लेते हैं; इसी तरह वह भी मोक्ष पा जाते हैं, जो आत्माके असली तत्त्वको जान जाते हैं। इसी कारणसे भगवान् अर्जुनके बिना पूछे आत्माके असली तत्त्वका वर्णन इस अध्यायमें करते हैं।

"वैराग्य बिना" ज्ञान और भक्ति—दोनोंहीका होना महा कठिन है। इसी वजहसे भगवान् वृक्षके रूपकालङ्कारसे संसारके स्वरूपका वर्णन करते हैं। क्योंकि मनुष्य बिना विरक्ति हुए ईश्वरीय ज्ञानके प्राप्त करने लायकही नहीं होता।

श्रीभगवानुवाच।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

भगवान् ने कहा:—

कहते हैं, कि अविनाशी अश्वत्थ वृक्ष की जड़ ऊपर है और

शाखें नीचे हैं। इसकी पत्तियाँ वेद हैं। जो इसे जानता है, वह वेदों को जानता है।

कठोपनिषद्में लिखा है,—"इसकी जड़ ऊपर और शाखाएँ नीचेकी ओर हैं। यह अश्वत्थ आनादि* है।" पुराणमें भी कहा है—"ब्रह्मके अनादि वृक्षकी जड़ अव्यक्त है। वह अव्यक्तकी शक्तिसे बढ़ा है। उसका धड़ बुद्धि है। इन्द्रियोंके छेद उसके खोखले हैं। महाभूत उसकी शाखाएँ हैं। इन्द्रियोंके विषय उसकी डालो और पत्ते हैं। धर्म और अधर्म उसकी कलियाँ हैं। सुख और दुःख उसके फल हैं, जो सब प्राणियोंकी जीविका हैं। यह ब्रह्मके आवागमनकी जगह है। ज्ञानरूपी तेज़ तलवारसे जो इस वृक्षको छेद-काटकर परमगति पा जाता है, उसे फिर नहीं लौटना पड़ता।

और भी कहा है, कि यह मायामय संसार वृक्षके समान है, जिसकी जड़ ऊपर है। महत् अहङ्कार तन्मात्राएँ उसकी शाखाओंके समान हैं और वह नीचेकी ओर फैली हुई हैं। इसीसे इसकी डालियाँ नीचे हैं। इस वृक्षको अश्वत्थ इसलिये कहते हैं, कि यह कलतक भी नहीं ठहरेगा; क्योंकि इसका नाश हर क्षण होता है। संसारी माया अनादि है, इसीलिये यह वृक्ष भी अनादि कहा जाता है। जन्म बराबर होता रहता है; यानी जन्मनेका तार कभी नहीं टूटता, इसीसे इसे अनादि कहा है। वेद इसके पत्तोंके समान हैं। जिस तरह पत्तोंसे वृक्षकी रक्षा होती है; उसी तरह ऋक्, यजु, सामसे संसार-वृक्षकी रक्षा होती है। जो संसार-वृक्ष और उसकी जड़को जानता है, वह वेदकी शिक्षाओंको जानता है। इस संसार-वृक्ष और उसकी जड़के ज्ञान जानेपर कुछ भी और जाननेको बाकी नहीं रहता। जो इसके विषयमें जानता है, वह सर्वज्ञ है।

---

* यह वृक्ष ब्रह्मके अधिकारमें है। वही इसकी रक्षा करता है, वही इसका शासन करता है। इसको अनादि इसलिये कहा है, कि यह ज्ञानके सिवा और किसी चीज़से काटा नहीं जा सकता।

आगे इस वृक्षके अवयवोंका दूसरा रूपालङ्कार बताया जाता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

गुणों से पोषण होकर उसकी शाखाएँ नीचे और ऊपर फैली हुई हैं । इन्द्रियों के विषय उसकी कोंपलें हैं ; नीचे मनुष्यलोकमें कर्मों के परिणाम-स्वरूप उसकी जड़ें फैली हुई हैं ।

खुलासा—संसार-वृक्षकी शाखाएँ सत्व, रज और तम, इन गुणों से सींची जानेके कारण, ऊपर और नीचे फैल रही हैं । इन्द्रियोंके विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि—इसकी कोंपलें हैं । मनुष्यलोकमें कर्मोंके फल-स्वरूप जड़ें फैल रही हैं । मतलब यह है कि जो सतोगुणके कर्म करते हैं, वे देवताओंके लोकमें जन्म लेते हैं और जो नीच कर्म करते हैं, वे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेते हैं । जो जैसे कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है ।

वृक्षको काटो और मूल कारणकी खोज करो ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥

इसके रूप, इसके आदि-अन्त और इसके अस्तित्व का पता नहीं लगता । इस मजबूत जड़वाले अश्वत्थ को उदासीनताकी तेज़ तलवारसे काटकर, संसारके मूल कारण ईश्वरकी खोज करनी चाहिये, जहाँ आकर फिर लौटना नहीं पड़ता । उस आदि पुरुषकी शरण जाना चाहिये, जिससे इस पुरातन संसारका निकास हुआ है ।

जैसे वृक्षका बयान पहले कर आये हैं, उसका रूप किसीको नहीं दीखता ; क्योंकि वह स्वप्न, मृगतृष्णा अथवा मायावी द्वारा रचे हुए गन्धर्व्वनगरके समान है । वह दीखता है और नहीं दीखता। इसीसे उसका न अन्त है और न उसका आदि—कोई नहीं जानता कि वह किस जगहसे निकला है । उसका अस्तित्व भी किसीको

नहीं मालूम होता। उस मज़बूत जड़वाले वृक्षको जड़ वही काट सकता है जो धन, दौलत, स्त्री, पुत्र और इस जगत्से मोह न रखे। एकचित्त होकर, परमात्मामें मन लगावे और तत्व-ज्ञानके विचारोंमें लीन हो।

इस तरह माया-ममताके त्यागको तेज़ तलवारसे उस वृक्षकी जड़ काटकर, उस वृक्षके परे, खोजीको मूल-कारणकी खोज करनी चाहिये। जो इस मूल-कारण—ईश्वर—के पास पहुँच जाते हैं, उन्हें फिर इस संसारमें लौटना नहीं पड़ता। उस आदि पुरुषकी शरणके प्रार्थी होनेसे, वह मिल जाता है। वह आदि पुरुष वह है, जिससे मायारूपी संसारके वृक्षका कुला फूटा है।

मूल कारणके पास पहुँचनेकी राह।

किस प्रकारके लोग उस मूल कारणके पास पहुँचते हैं ?—सुनोः—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम् यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥
निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

जिनको मान-अपमानका ख़याल नहीं है; जिनको मोह नहीं है; जिनका स्त्री-पुत्र आदि में मन नहीं है; जिनका ध्यान हर समय आत्मा के ज्ञान में लगा रहता है; जिनकी सब सांसारिक वासनाएँ दूर हो गई हैं; जिनका सुख-दुःख, गरमी सरदी, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वोंसे पीछा छूट गया है,—ऐसेही ज्ञानी उस सनातन आदि पुरुष—मूल कारण—को पाते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

जिसको सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते; वह मेरा परम धाम है, जहाँ पहुँचकर किसीको लौटना नहीं होता।

जीव ईश्वरका अंश है।

यह कहा गया है कि "वहाँ पहुँचनेपर लौटना नहीं पड़ता।" लेकिन इस बातको हर शख्स जानता है, कि जो आता है वह जाता है, जो जाता है वह आता है, जो मिलता है वह अलग होता है। फिर यह बात कैसे कही गयी है, कि उस धाममें पहुँचनेपर लौटना नहीं होता? सुनो :—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! इस जीवलोकमें सनातन जीव मेरा अंश है। वह जीव प्रकृति में स्थित होकर आँख, कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों और छटे मनको सांसारिक भोगोंके लिये खींचता है।

खुलासा—संसारमें सनातन जीव मेरा—परमात्मा का—अखण्ड अंश है। वह हर शरीरमें अपने तईं कर्त्ता और भोक्ता प्रकट करता है। वह उस सूर्यके समान है, जो जलमें दिखाई देता है; किन्तु पानीके हटा लेनेपर वह पानीमें दीखनेवाला सूर्य असली सूर्यमें मिल जाता है और उसी सूर्यके समान रहता है।—अथवा वह घड़ेमें आकाशके समान है, जो घड़ेकी उपाधिसे सीमाबद्ध है। यह घड़ेका आकाश अनन्त आकाशका एक अंश-मात्र है। जो घड़ेके फोड़ देनेपर उसीमें मिल जाता है और फिर नहीं लौटता। इसी तरह उपाधि-रहित होनेपर, जो मुझमें मिल जाता है वह फिर नहीं लौटता।

शङ्का—परमात्माके खण्ड नहीं हैं, इसलिये इसका टुकड़ा कैसे हो सकता है? अगर उसके खण्ड हैं, तो वह अपने खण्डोंके अलग होनेपर नाश हो जायगा।

उत्तर—हमारी कल्पनामें यह शङ्का नहीं हो सकती; वह ख़यालो खण्ड मान लिया गया है। तेरहवें अध्यायमें सिद्ध कर

दिया गया है, कि वह परमात्माका अंश नहीं है, बल्कि परमात्मा ही है ।

जीव शरीरमें किस तरह रहता है और किस तरह उसे छोड़कर जाता है ?

एक आत्मा या जीव जो मेरा खालो अंश है, किस तरह दुनिया में रहता है और किस तरह उसे छोड़ता है ? यानी जबकि परमात्मा है, तो उसे संसार या दुनियासे जानेवाला क्यों कहते हैं ?— सुनो—वह अपने गिर्द कान आदि इन्द्रियों और छठे मनको खींचता फिरता है। ये छः इन्द्रियाँ प्रकृतिमें रहती हैं; यानी अपनी-अपनी जगहोंमें रहती हैं। जैसे,—कानकी इन्द्रिय कानके छेदमें रहती है।

वह उन्हें कब खींचे फिरता है ?

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

जब यह देहका मालिक शरीर धारण करता है और इसे छोड़ता है, तब यह इन्हें इस तरह ले जाता है, जिस तरह हवा सुगन्धको लेकर दूसरी जगह चली जाती है ।

खुलासा—जब देह, इन्द्रिय और मनका स्वामी, कर्मों की वासनासे दूसरा शरीर धारण करता है अथवा मरनेके समय पहला शरीर छोड़ता है; तब अपने पहले शरीरके मन और इन्द्रियोंको सङ्ग लेकर दूसरे शरीरमें इस तरह चला जाता है ; जिस तरह हवा फूलोंसे सुगन्ध लेकर दूसरी जगह चली जाती है ।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! वह कान, आँख, चमड़ा, जीभ, नाक और मनको काममें लाकर इन्द्रियोंके विषयोंको भोगता है।

ज्ञान-चक्षुसे आत्मा दीखता है।

जीवका शरीर बदलना यानी एकको छोड़ना और दूसरेमें जाना, सबको क्यों नहीं दिखाई देता?

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

शरीरको छोड़ते हुए; शरीरमें ठहरे हुए; विषय-भोगोंको भोगते हुए; सत्व, रज, तम इन गुणोंसे युक्त हुए आत्माको मूढ़ लोग नहीं देखते—वे देखते हैं, जिनके ज्ञानकी आँखें हैं।

खुलासा—जो शरीरमें रहता है, जो एक दफेके धारण किये हुए शरीरको छोड़ता है, जो शरीरमें ठहरता है, जो शब्द, रूप, रसादिका अनुभव करता है, जो हमेशा गुणों (सत्व, रज, तम) के सङ्ग रहता है, यानी जो हमेशा सुख, दुःख, मोह आदिका अनुभव करता है, उसे मूढ़ लोग नहीं देखते। यद्यपि वह (जीव) बिल्कुल उनको नज़रके सामने रहता है; तथापि वह (मूढ़ लोग) उसे नहीं देख पाते: क्योंकि उनके चित्त देखी और अनदेखी विषय-भोगकी चीज़ोंमें लगे रहते हैं; लेकिन जिनकी ज्ञानकी आँखे ज्ञानसे खुल गयी हैं; यानी जिनमें विचार-शक्ति आ गई है, वे उसे देखते और पहचानते हैं।

बिना योग आत्मज्ञान नहीं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

जो योग-युक्त होकर (समाधिस्थ होकर) चेष्टा करते हैं, वे

अन्तःकरणमें आत्म-स्वरूपको देखते हैं ; जो ज्ञान-रहित हैं, जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, वे चेष्टा करने पर भी उसे नहीं देखते ।

जो चित्तको ठिकाने करके चेष्टा करते हैं, वे उसे—आत्माको—अपनी बुद्धिमेंही रहता हुआ देखते हैं। वे उसे पहचानते हैं, 'यह मैं हूँ' लेकिन जिनका चित्त तप और इन्द्रियोंके वश न करने से शुद्ध नहीं हुआ है, जिन्होंने कुकर्म नहीं छोड़े हैं, जिनका अहङ्कार नहीं गया है, वे उसे शास्त्रोंकी सहायतासे नहीं देख सकते। मतलब यह है, कि जिनका मन शुद्ध नहीं हुआ है, जिन्होंने नित्य, अनित्य, असली और नक़लीका भेद नहीं समझा है, वे केवल शास्त्र, बुद्धि और विचारोंकी सहायतासे उसे नहीं देख सकते।

ईश्वरकी विभूतियाँ।

सर्वप्रकाशक चैतन्यतात्मक ज्योति ।

जिस परब्रह्मरूप-पदको सारे जगत्में प्रकाश करनेवाले सूर्य्य, चन्द्रमा और अग्नि नहीं प्रकाश करते, जहाँ पहुँच कर मोक्षके खोजी फिर संसारमें नहीं आते, जीव जिसके अंशमात्र हैं और जो उपाधिके कारणसे अलग दीखते हैं—जैसे ; घड़ेमें आकाश घड़ेकी उपाधिसे महाआकाशसे अलग दीखता है ; किन्तु असलमें उसीका अंश है। घड़ेके फूटते ही, वह उसी महाआकाशमें जा मिलता है। इसी तरह जीव अविद्या आदि उपाधियोंसे निवृत्त होनेपर परब्रह्ममें मिल जाते हैं, दोनोंमें कुछ भेद नहीं रहता। यह बात दिखानेके लिये, कि वह परब्रह्मरूप-पद सबका आत्मा और सारे व्यवहारोंका साधक है ; भगवान् आगेके चार श्लोकोंमें, संक्षेपसे, अपनी विभूतियोंको कहते हैं ;—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

वह तेज जो सूर्यमें रहकर तमाम जगत् में प्रकाश फैलाता है, वह तेज जो चन्द्रमा में है और वह तेज जो अग्नि में है, उस तेजको तू मेरा ही जान।

यहाँ तेजसे मतलब चैतन्यता करनेवाली ज्योति से भी हो सकता है।

शंका—जब एक परब्रह्मका तेज सब चराचर चीज़ोंमें समान भावसे है; तब सूरज, चन्द्रमा, अग्निमें वह तेज अधिकतासे क्यों दिखाई देता है?

उत्तर—यद्यपि चर-अचर पदार्थोंमें चैतन्यताकी ज्योति तो समान ही है; तथापि सतोगुणकी उत्कर्षतासे सूर्य वग़ैरः अधिक तेजवान् दीखते हैं। जिन वस्तुओंमें रजोगुण या तमोगुण प्रधान है, उनमें वह ज्योति उस तरह साफ़ नहीं दीखती, जिस तरह हम अगर अपना मुँह लकड़ीके तख़्ते या भीतमें देखें तो साफ़ न दीखेगा, लेकिन काँच (आईना) जितनाही ज़ियादा साफ़ होगा; उसमें हमारा मुँह उतनाही अच्छा दीखेगा। काँच भी जितनाही कम साफ़ होगा, उतनाही मुँह कम साफ़ दीखेगा।

ईश्वर सबको धारण और पोषण करता है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

मैं ही पृथ्वी-रूप होकर, अपने बलसे, सब प्राणियों को धारण करता हूँ और रसात्मक सोम (चन्द्रमा) होकर सबका पोषण करता हूँ।

मतलब यह है कि, मेरा बलही पृथ्वीके थाम्हे रहनेको उसके अन्दर घुसा हुआ है। मेरे उस बलके कारणसेही पृथ्वी नीचे नहीं जाती और इसके टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते। इसीसे कहा है, कि मैं पृथ्वीरूप

होकर या पृथ्वीमें घुस कर, सब चराचर प्राणियों को धारण करता हूँ। मैं ही रसात्मक सोम (चन्द्रमा) होकर, पृथ्वीपर पैदा होनेवाली औषधियों (गेहूँ, जौ, चाँवल, आदि) को पोषण करता हूँ। यह बात सच है, कि चन्द्रमाही सारी वनस्पतियोंको; उनमें रस डालकर, पोषण करता है।

ईश्वरही जठराग्नि है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

मैंही वैश्वानरके रूपमें, प्राणियोंकी देहमें घुसकर, प्राण और अपान वायुको संग लेकर, चारों प्रकार के भोजनों को पचाता हूँ।

वैश्वानर या जठराग्नि उस अग्निको कहते हैं, जो पेटमें रहती और भोजन पचाती है।

भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य,—ये चार प्रकारके भोजन होते हैं। जो चीज़ दाँतोंसे तोड़कर खाई जाती है, उसे "भक्ष्य" कहते हैं। जैसे; पूरी। जो चीज़ दाँतोंकी बिना सहायता जीभ हिलानेसे गलेके भीतर चली जाती है, उसे "भोज्य" कहते हैं। जैसे; खीर। जो चीज़ जीभ पर पहुँचकर उसके स्वादसे भीतर चली जाती है, उसे "लेह्य" कहते हैं। जैसे चटनी, अमरस, शिखरन इत्यादि। जो चीज़ चूसी जाती है, उसे "चोष्य" कहते हैं, जैसे; ऊख वग़ैरः।

जो यह समझता है, कि खानेवाला वैश्वानर अग्नि है और जो खाया जाता है सो सोम-रूप है—अग्नि और सोम दोनों सर्व-रूप हैं, उसे बुरे भोजनका दोष नहीं लगता।

ईश्वर सबके हृदयमें वास करता है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनंच।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥

मैंही सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ हूँ, मुझसेही पहली बातें याद आती हैं, मुझसे ही रूप आदिका ज्ञान होता है और मुझसेही स्मृति और ज्ञानका अभाव होता है । सब वेदोंसे जानने योग्य मैं ही हूँ । मैं वेदान्तका कर्त्ता और वेदोंका जाननेवाला हूँ ।

नोट—जो पापी हैं, उनमें स्मृति और ज्ञानका अभाव कर देता हूँ। जो पुण्यात्मा हैं, उनमें स्मृति और ज्ञान पैदा करता हूँ। एक बात और है, कि मैं प्राणियोंके हृदयमें रहकर, उनके दिलोंके बुरे-भले कामोंको देखा करता हूँ। मैं तार खींचनेवाला—सूत्रधार—हूँ। जगत् रूपी मैशीनके पीछे खड़ा हुआ, सब कामोंको देख-भाल किया करता हूँ।

क्षर और अक्षरसे ईश्वर अलग है।

इस अध्यायके १२ वें श्लोकसे यहाँतक, ईश्वरकी विभूतियोंका वर्णन किया गया। अब आगेके श्लोकोंमें कृष्ण महाराज ईश्वरके क्षर-अक्षरसे परे, निरुपाधिक शुद्ध रूपका वर्णन करते हैं ;—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

इस जगत् में दो प्रकारके पुरुष हैं—क्षर और अक्षर । जो देहधारी हैं, वे क्षर हैं और जो विकार-रहित हैं, वे अक्षर हैं ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

लेकिन इन दोनोंसे अलग उत्तम पुरुष है, जिसे "परमात्मा" कहते हैं । वह अविनाशी ईश्वर, तीनों लोकोंमें प्रवेश करके, तीनों लोकोंका पालन करता है ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! मैं क्षरसे उत्तम हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसीसे दुनिया और वेदमें मैं "पुरुषोत्तम" नामसे प्रसिद्ध हूँ ।

खुलासा—ऊपरके तीनों श्लोकोंका सारांश यह है, कि दुनियामें तीन चीज़ें हैं:—(१) क्षर, (२) अक्षर, (३) पुरुषोत्तम । क्षर प्रकृतिको कहते हैं, क्योंकि वह हमेशा बदलती रहती है । अक्षर नाम जीवका है । उसे अक्षर इसलिये कहते हैं, कि उसका कभी नाश नहीं होता और वह विकार-रहित है । तीसरा पुरुषोत्तम है । वह क्षर और अक्षर दोनोंसे बड़ा और उनसे अलग है । वही मूल-कारण है । उसीके हाथमें जगत्‌की बागडोर है । वही संसाररूपी नाटकका सूत्रधार है । वही संसार-वृक्षकी वह मूल है, जहाँसे यह संसार निकला है । वही इस जगत्‌में व्याप्त हो रहा है । वही सबका पालन करनेवाला और नाश करनेवाला है । वही सर्वेश्वर है । उसके ऊपर और कुछ नहीं है ।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

हे भारत ! जो क्षर और अक्षरसे अलग, नित्य मुक्त शुद्ध सच्चिदानन्द पुरुषोत्तमको जानता है, वह सर्वज्ञ विद्वान् सम्पूर्ण भावोंसे मुझे भजता है ।

जिसे आत्मज्ञान हो जाता है, वह सदा आत्मानन्दमें तृप्त रहता है अथवा यों कह सकते हैं, कि जिसे ईश्वरके उपरोक्त रूपका ज्ञान हो जाता है, वह सदा ईश्वरकी भक्तिमें ही लगा रहता है ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ।

हे पापरहित अर्जुन ! मैंने तुमसे यह बहुत गुप्त विषय कहा है इसके जान जानेपर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ।

यों तो सारा गीताही शास्त्र है; तथापि उपरोक्त वाक्यसे मालूम होता है, कि यह पन्द्रहवाँ अध्यायही गीता-शास्त्र है। बात भी सच है। समस्त गीताका सारांश इस अध्यायमें कह दिया गया है। गीताके उपदेशही नहीं, वेदकी शिक्षाओंका सार-तत्त्व यहाँ कह दिया गया है। यह कहा गया है, कि जो इसे (अश्वत्थ वृक्ष को) जानता है, वेदको जानता है और जिसे वेदों द्वारा जानना चाहिये—वह "मैं" हूँ। इस उपरोक्त उपदेशके जान जानेपर मनुष्य बुद्धिमान् हो जाता है। जो इसे जान जाता है, वह अपने तमाम कर्तव्य-कर्म पूरे कर चुकता है।

आवश्यक सूचना।

सोलहवाँ अध्याय ।

ब्रह्मवाद और देहात्मवाद ।

दैवी सम्पत्ति अथवा प्रकृति ।

नवें अध्याय में विचार-शक्ति रखनेवाले जीवोंकी तीन प्रकारकी प्रकृतियाँ कही गयी थीं ;—(१)यानी दैवी प्रकृति, (२)आसुरी प्रकृति और (३)राक्षसी प्रकृति। इस सोलहवें अध्यायमें वही बात बढ़ाकर—विस्तार से—बताई जाती है। इन तीनों प्रकृतियों में से "दैवी प्रकृति" संसार-बन्धनसे छूटनेकी राह बताती है और "आसुरी तथा राक्षसी प्रकृतियाँ" संसार-बन्धनकी राह दिखाती हैं। अब इस मौक़ेपर दैवी और आसुरी तथा राक्षसी तीनों प्रकृतियोंका वर्णन—इस मतलब से किया जायगा, कि दैवी प्रकृति समझदारोंको ग्रहण करनी चाहिये और दूसरी दोनों प्रकृतियाँ छोड़ देनी चाहियें।*

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

---

* ये क्रमशः सात्विकी, राजसी और तामसी प्रकृतियाँ हैं, जो मनुष्यों में उन के पूर्व्व जन्म के कर्मों के अनुसार होती हैं। ये वासना हैं, जो अपने तईं कर्म-रूपमें प्रकट कर रही हैं। इनको १५ वें अध्यायके दूसरे श्लोकमें "संसारकी अप्रधान जड़" कहा है।

भगवान् ने कहा :—

निर्भयता, अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञान और योगमें निष्ठा, दान, इन्द्रिय-निग्रह, यज्ञ, वेद पढ़ना, तप, सीधापन ;

निर्भयता=संशयरहित होकर शास्त्रके उपदेशानुसार चलना। अन्तःकरणकी शुद्धि=छल, कपट और झूठको सब व्यवहारोंमें छोड़ देना। ज्ञान और योगमें निष्ठा=शास्त्रोंसे आत्माका स्वरूप समझना और सर्व जगहसे मनको हटाकर, हर समय उसी स्वरूपमें लीन रहना। दान=सुपात्रोंको अन्न, धन, धरती वगैरः अपनी शक्ति अनुसार देना। इन्द्रिय-निग्रह=बाहरी इन्द्रियोंको वशीभूत करना। यज्ञ=श्रुतिमें लिखे हुए अग्निहोत्र, सोमयाग आदि करना तथा स्मृतियोंमें लिखे हुए देव-यज्ञ आदि करना। वेद पढ़ना=पुराणोंकी उत्पत्तिके लिये ऋग्वेद आदि वेद पढ़ना। तप=कायिक, वाचिक और मानसिक तप, इस विषयमें आगे लिखा जायगा।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

अहिंसा, सच बोलना, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, चुगुलखोरी न करना, प्राणीमात्र पर दया, निर्लोभता, कोमल स्वभाव रखना, लज्जा, चंचलता का त्याग ;

अहिंसा=किसीको तकलीफ़ न पहुँचाना। सच=अनर्थ न हो, ऐसा सच बोलना। क्रोध न करना=अगर कोई गाली दे या मारे, तोभी क्रोध न करना। त्याग=संन्यास ; कर्मोंका त्याग ; त्यागके माइने 'दान' के भी हैं, मगर यहाँ वह माइने नहीं लिये गये हैं ; क्योंकि 'दान' के विषयमें पहले कह आये हैं। शान्ति=चित्तमें उद्विग्नता न होने देना। चुगलखोरी न करना=किसीके पीठ पीछे, किसीके सामने किसीकी निन्दा न करना। प्राणिमात्र पर दया=सब जीवोंको अपने समान समझकर, उनके कष्टोंसे उन्हें छुड़ानेका भरसक

यत्न करना। निर्लोभता=विषय-भोगोंके मौजूद होने पर और उनके भोगने योग्य शक्ति रहने पर भी,उनमें मन न लगाना। कोमल स्वभाव=किसीसे भी कड़वी बात न कहना; छोटे-बड़े, नीचे-ऊँचे, सबसे मीठी बात बोलना। लज्जा=न करने योग्य कामोंके करने से लजाना। चञ्चलताका त्याग=बिना मतलब या बिना काम न बोलना और वृथा हाथ-पैर आदि न चलाना।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

तेज, क्षमा, धीरता, पवित्रता, किसीसे घृणा या वैर न करना, अपने तईं बड़ा समझ कर घमण्ड न करना; ये २६ दैवी सम्पत्तियाँ हैं। ये उन्हींमें होती हैं, जिनका आगे भला होनेवाला होता है।

तेज=सामर्थ्य, प्रभाव। क्षमा=सामर्थ्य होने और अपने को सताने पर भी क्रोध न करना। धीरता=शरीर और इन्द्रियोंके व्याकुल होने पर, उनकी व्याकुलताके दबानेकी चेष्टा करना। पवित्रता=शौच; शौच दो प्रकारके हैं—(१) बाह्य शौच; (२) आभ्यान्तरिक शौच। जल और मिट्टीसे शरीर शुद्ध करनेको बाह्य शौच कहते हैं। छल, कपट, द्वेष आदिसे मनको अलग रखनेको आभ्यान्तरिक शौच कहते हैं। किसीसे घृणा या वैर न रखना=किसीको तकलीफ़ पहुँचानेकी इच्छा न रखना।

आसुरी सम्पत्ति अथवा प्रकृति।

आगे आसुरी सम्पत्तिका वर्णन किया जाता है—

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान, ये छः प्रकृतियाँ उनकी होती हैं, जिनका बुरा होनेवाला होता है।

दम्भ=अपनेको बड़ा साबित करनेको, लोगोंके सामने अपना धर्मात्मापना दिखाना। दर्प=विद्या, धन और ऊँचे कुल वगैरःका घमण्ड करना। निष्ठुरता=किसीके सामने रूखी (कड़वी) बात कहना। अज्ञान=कर्त्तव्य विषयोंकी विचार-हीनता।

दो प्रकारकी प्रकृतियों का परिणाम।

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी प्रकृतिसे मोक्ष होती है। आसुरीसे बन्धन होता है। हे पाण्डव! तू सोच मत कर, तू दैवी प्रकृति लेकर जन्मा है।

खुलासा—जिनकी प्रकृति दैवी होती है, वेही तत्त्वज्ञानके अधिकारी होते हैं। तत्त्वज्ञानसे उनकी मोक्ष हो जाती है। जिनकी प्रकृति आसुरी होती है, उनको निश्चयही संसार-बन्धनमें फँसना पड़ता है। यह सुनतेही अर्जुनके मनमें सन्देह हुआ कि, "मैं आसुरी प्रकृतिवाला हूँ या दैवी प्रकृतिवाला।" भगवान्ने, उसके चेहरेसे ही यह बात समझ कर, कह दिया कि तू सोच मत कर, तू दैवी प्रकृति लेकर जन्मा है; यानी तेरी प्रकृति दैवी है। तू तत्त्वज्ञान का अधिकारी है। तेरी मोक्ष होगी।

असुर लोग।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

इस संसारमें दो तरहके जीवोंकी सृष्टि है, (१) दैवी और (२) आसुरी। दैवीका वर्णन विस्तारसे कर दिया गया है। हे पार्थ! अब आसुरी का वर्णन सुनः—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुरी प्रकृतिवाले लोग यह नहीं जानते कि, उन्हें क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये। उनमें न पवित्रता है, न आचार है और न सच है।

खुलासा—असुर-प्रकृतिवाले कर्त्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं रखते। इसके सिवाय वे अपवित्र, बदचलन और झूँठे होते हैं।

जगत्के विषयमें आसुरी प्रकृतिवालोंका सिद्धान्त।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥८॥

वे कहते हैं—जगत् असत्य है, आधारहीन है, अनीश्वर है। यह स्त्री-पुरुषके संयोगसे पैदा हुआ है। इसका कारण काम है; इसके सिवा दूसरा कारण नहीं है।

खुलासा—असुर-रूपी (नास्तिक) मनुष्य कहते हैं,—"जिस भाँति हम असत्य हैं, उसी तरह यह जगत् मिथ्या है। धर्म और अधर्म इसके आधार नहीं हैं। धर्म-अधर्मके अनुसार इस जगत्का शासनकर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है। इसलिये जगत् बिना ईश्वर के है। सारा जगत् स्त्री-पुरुषके कामसे पैदा हुआ है। इसके सिवाय, जगत्का कारण और क्या हो सकता है?" आसुरी प्रकृतिवाले लोगोंकी ऐसीही राय है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥९॥

हे अर्जुन! पूर्वोक्त दृष्टिका आश्रय लेकर, ये नष्टात्मा, अल्पबुद्धि, भयंकर कर्म करनेवाले और जगत्के शत्रु जगत्के नाश करनेको पैदा हुए हैं।

आसुरी प्रकृतिवालोंका जीवन।

भगवान्ने उन्हें नष्टात्मा इसलिये कहा है, कि उन्होंने उच्च

लोकोंमें जानेका अवसर गँवा दिया है। अल्पबुद्धि इसलिये कहा है; कि उनकी बुद्धिमें विषय-भोगोंके सिवाय और कोई चीज़ नहीं जँचती। भयङ्कर कर्म करनेवाले इसलिये कहा है, कि वे रात-दिन दूसरोंको कष्ट देनेके काम किया करते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

असुरप्रकृतिके लोग ऐसी-ऐसी कामनाएँ किया करते हैं, जो बड़े-बड़े कष्ट उठानेपर भी पूरी न हों। उनमें छल, कपट और मद भरा रहता है। मूर्खतासे अशुभ कर्मोंको गृहण करके, वे वेद-विरुद्ध कर्म करते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

वे ऐसी घोर चिन्ताओंमें लगे रहते हैं, जो उनकी मृत्युके समयही उनका पीछा छोड़ती हैं। विषय-भोगोंको वे परम पुरुषार्थ समझते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ १२॥

वे आशा-रूपी अनेक फाँसियोंमें बँधे हुए, काम और क्रोधके अधीन हुए, विषय-भोग भोगनेके लिये, अन्याय-कर्मोंसे धन जमा करनेकी चेष्टा करते हैं।

खुलासा—असुर-स्वभाव वाले इन्द्रिय-सुखकोही परम पुरुषार्थ समझते हैं। उनका खयाल है, कि इस सुखसे बढ़कर और सुख नहीं है। इन्द्रिय-सुखके सामान जुटानेके लिये, वे रात-दिन चिन्ता-में फँसे रहते हैं। उनकी चिन्ताका अन्त उनके अन्त होनेके समयही होता है। चिन्ताके सिवाय, हज़ारों प्रकारकी आशाए

उनको लगी रहती हैं। रात-दिन वे काम और क्रोधमें अन्धे रहते हैं। वे इन्द्रियोंके सुख भोगनेके लिये, धन जमा करने के लिए, लोगोंका गला काटते, चोरी करते और डाका डालते हैं। ऐसा बुरा कोई काम नहीं है, जिसे स्वार्थ-साधन करनेको वे न करते हों।

असुर-प्रकृतिवालोंकी इच्छाएँ।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

असुर प्रकृतिवाले हर समय ऐसी बातोंके फेरमें पड़े रहते हैं—'आज मुझको यह मिल गया है ; मेरा यह मनोरथ पूरा होगा; यह मेरा है और भविष्यत्में यह दौलत भी मेरी हो जायगी।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

'उस दुश्मनको मैंने मार डाला है, दूसरोंको कल मारूँगा; मैं मालिक हूँ, मैं भोग भोगता हूँ; मैं सिद्ध हूँ, कृतकृत्य हूँ; मैं बलवान् और तन्दुरुस्त हूँ।'

अमुक अजेय शत्रुको मैंने मार डाला, दूसरोंको भी मार डालूँ-गा। ये ग़रीब क्या कर सकते हैं ? मेरी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है—किस तरह ? मैं मालिक हूँ, मैं भोगता हूँ, मैं हर तरहसे कामयाब हूँ, मेरे बेटे-पोते हैं ; मैं साधारण आदमी नहीं हूँ; मैं अकेला ही बलवान् और स्वस्थ हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

'मैं अमीर हूँ, मैं अच्छे कुलमें पैदा हुआ हूँ, मेरी बराबरी कौन

कर सकता है ? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मैं आनन्द करूँगा।' इस तरह अज्ञानसे भूलकर, ये आसुरी प्रकृतिवाले अनेक प्रकारके ख़यालातोंमें भ्रमते हुए अज्ञानके जालमें फँसे हुए, विषयोंकी तृप्तिमें लगे रहकर घोर नरकमें पड़ते हैं।

आसुरी प्रकृतिवालोंके यज्ञ।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

ऐसे लोग अपनी बड़ाई आप किया करते हैं, किसीका सत्कार नहीं करते तथा धनके नशे और मदमें चूर रहते हैं। ये नाममात्रके वेद-विरुद्ध यज्ञ कपटसे करते हैं।

आसुरी प्रकतिवाले ईश्वरकी आज्ञा नहीं मानते।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिता।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

ये लोग अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोधके अधीन रहते हैं। ये दुष्टात्मा अपने और पराये शरीरमें रहनेवाले मुझ—अन्तर्यामी—से घृणा करते हैं।

ये शास्त्रोंमें लिखी ईश्वर-आज्ञाओंको जानना और उनका पालन करना पसन्द नहीं करते।

आसुरी प्रकृतिवालोंका पतन।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

मुझसे द्वेष रखनेवाले इन निर्दयी नराधमोंको, इन कुकर्मियोंको, इस संसारके बीच, बारम्बार असुर-योनियोंमें ही डालता हूँ।

असुर-योनियों से मतलब शेर, चीते, बाघ और तेंदुए आदि की योनियोंमें डालनेसे है ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

वे मूर्ख—जन्म-जन्ममें असुर-योनि पानेसे—मुझ तक कभी नहीं पहुँचते ; इससे हे अर्जुन ! वे औरभी नीची गति को प्राप्त हो जाते हैं ।

खुलासा—वे मूढ़ लोग, जन्म-जन्म में, तामसी योनियोंमें जन्म लेते और नीची-से-नीची गतिको प्राप्त होते हैं । बतायी हुई राह पर न चलने से, वे नीच योनियोंमें जन्म लेते हैं । सबका सार-मर्म यह है, कि आसुरी स्वभाव—पापोत्पादक और मानवी उन्नतिका शत्रु है । मनुष्यको उसे अपनी स्वतन्त्रता में अलग कर देना चाहिये । ऐसा न हो, कि उसे कोई ऐसी योनि मिल जाय, जिसमें वह परतन्त्र हो जाय और फिर कुछ भी न कर सके । सब प्रकारकी उन्नति और मोक्षके लिये मनुष्यका चोला उपयुक्त है । जिसने इस मनुष्य-चोले में कुछ नहीं किया, वह अन्य चोलोंमें कुछ भी न कर सकेगा ।

नरकके तीन द्वारोंसे बचना चाहिये ।

यहाँ तमाम आसुरी प्रकृतिका तीन सूरतोंमें खुलासा कर दिया जाता है । इन तीन सूरतोंसे बचनेपर, मनुष्य सारी आसुरी प्रकृति से, जो सब दोषोंकी खान है, बच जाता है ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ! नरकके तीन द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ । ये तीनों आत्माके नाशक हैं; अतः मनुष्य को इन तीनों को त्याग देना चाहिये ।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

जो मनुष्य काम, क्रोध और लोभ—इन तीन नरकद्वारोंको त्याग देता है, हे अर्जुन ! वह अपनी आत्माका भला करता है और परम गतिको प्राप्त होता है ।

शास्त्रकी मर्यादा पर चलना उचित है ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य शास्त्रकी मर्यादा छोड़कर, अपनी इच्छानुसार चलता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न मोक्ष मिलती है ।

जो मनुष्य वेद-विहित कर्म नहीं करता है, मनमें आता है वही करता है,—उसे सिद्धि, इस लोकमें सुख और देह छोड़ने पर स्वर्ग या मोक्ष कुछ भी नहीं मिलता ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित है,—इस व्यवस्थामें शास्त्र प्रमाण है । अब तुझे शास्त्र-विधिसे अपना कर्तव्य कर्म करना उचित है ।
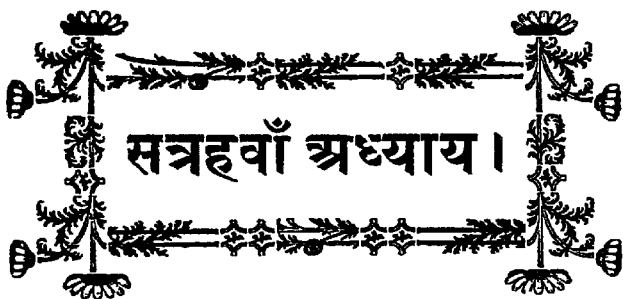
तीन प्रकार की श्रद्धा।

मूर्ख, किन्तु श्रद्धावान्।

भगवान्‌ने पिछले १६ वें अध्यायके २४ वें श्लोकमें जो शब्द कहे हैं, उन्हींसे अर्जुनको प्रश्न करनेका मौक़ा मिला है। अर्जुनके मनमें यह शङ्का पैदा होती है, कि कर्म्म करनेवाले तीन तरहके होते हैं। कितने लोग तो ऐसे हैं, जो शास्त्र-विधिको जानते हैं ; किन्तु शास्त्रमें श्रद्धा न होनेसे शास्त्र-विधिको उपेक्षा करते हैं और मनमानी रीतिसे थोड़े बहुत कर्म्म करते हैं। ऐसे लोग असुर कहलाते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं, जो शास्त्र-विधिको जानते हैं और उसमें अत्यन्त श्रद्धा रखकर शास्त्र-विधिके अनुसार अच्छे कर्म्म करते हैं। ऐसे लोग देव कहलाते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो आलस्यसे शास्त्र को नहीं देखते ; किन्तु पूर्वपुरुष जिन कर्मों को करते आये हैं, उनको वे भी श्रद्धापूर्व्वक करते हैं और जिन कर्मों को पूर्व्व पुरुषोंने बुरा समझा है, उन्हें त्याग देते हैं। इस तीसरी श्रेणीके लोगोंका शास्त्र-विधि पर ध्यान न देना, यह उनका असुर धर्म है और श्रद्धा-सहित

बड़ोंकी देखा-देखी अच्छे कर्म करना, यह उनका देव-धर्म है। ऐसे असुर-धर्म और देव-धर्मसे मिले हुए पुरुष किस एक श्रेणीमें गिने जायँगे, इस संशयको मनमें लेकर अर्जुन भगवान्से पूछता है:—

अर्जुन उवाच।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुनने कहा :—

हे कृष्ण! जो पुरुष शास्त्र-विधिको त्यागकर, श्रद्धा-सहित यज्ञ करते हैं, उन लोगोंकी निष्ठा कैसी है? सात्त्विकी है, राजसी है, अथवा तामसी है?

तीन प्रकारकी श्रद्धा।

श्रीभगवानुवाच।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

श्रीभगवान् ने कहा :—

हे अर्जुन! शरीरधारियों की श्रद्धा स्वभाव से तीन प्रकार की होती है;—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उसके विषयमें सुन :—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

हे भारत! सब देहधारियों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुसार होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसाही होता है।

खुलासा—ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसकी कहीं श्रद्धा न हो। जिनकी श्रद्धा सात्त्विकी है, वे सात्त्विक हैं; जिनकी श्रद्धा

रजोगुणी है, वे रजोगुण-युक्त हैं और जिनकी श्रद्धा तमोगुणी है, वे तमोगुण-युक्त हैं।

सबकी श्रद्धा अपने-अपने अन्तःकरणके अनुसार होती है। जिनके अन्तःकरणमें सत्वगुणकी प्रधानता है, उनकी श्रद्धा सात्विकी है। जिनके अन्तःकरणमें रजोगुणकी प्रधानता है, उनकी श्रद्धा रजोगुणयुक्त है ; इसी भाँति जिनके अन्तःकरणमें तमोगुणकी प्रधानता है, उनकी श्रद्धा तमोगुणविशिष्ट है। पुरुषकी श्रद्धा किस तरह जानी जा सकती है ?—सुनो—

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सतोगुणी पुरुष सत्वगुणवाले देवताओं की उपासना करते हैं ; रजोगुणी पुरुष यक्ष,-राक्षसों की पूजा करते हैं ; तमोगुणी पुरुष भूत-प्रेतों को पूजते हैं।

खुलासा—शास्त्र-ज्ञानसे शून्य पुरुष अपनी स्वाभाविक श्रद्धासे महादेव आदि सात्विक देवताओंको पूजते हैं ; वे सतोगुणी हैं। जो लोग रजोगुणी कुवेर आदि यक्षों तथा राक्षसोंको पूजते हैं, वे रजोगुणी हैं। जो तमोगुणी भूत-प्रेतोंको पूजते हैं, वे तमोगुणी हैं। लोगोंकी उपासनासे; अथवा उनकी श्रद्धासे भलीभाँति जाना जा सकता है, कि वे सतोगुणी हैं, रजोगुणी हैं, या तमोगुणी हैं।

एक बात और है, कि जो जैसेको भजता है, वह वैसाही हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि लोग जो अपने धर्मसे गिरकर भूत-प्रेतोंको आजकल पूजते हैं, आगे जाकर भूत-प्रेत होते हैं। जो राक्षसोंको पूजते हैं, वे राक्षस होते हैं। जो अच्छे देवताओंको पूजते हैं, वे देव होते हैं। जो एकमात्र ब्रह्मकी उपासना करते हैं; वे ब्रह्म हो जाते हैं। अब पाठकोंको स्वयंही विचार कर लेना चाहिये, कि कौनसी उपासना श्रेष्ठ है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! जो कपटी हैं, जो घमण्डी हैं, जो काम और विषयानुराग के बल से युक्त हैं, वे शास्त्र-विरुद्ध घोर तप करके शरीर के पंच महाभूतों को कमजोर कर डालते हैं तथा अन्तर्यामी रूप से मुझ अन्दर रहनेवाले को भी दुर्बल करते हैं---वे मूर्ख हैं ; उनका निश्चय आसुरी समझ ।

खुलासा—आजकल ऐसे ढोंगी साधुओंकी गिन्ती करना कठिन है। कितने तो वृक्षोंमें झूला डालकर ऊपर पैर और नीचे सिर करके लटकते हैं, कितनेही लोहेके शूलोंकी शय्या बनाकर उसपर सोते हैं, कितने ही अपनी लिङ्गेन्द्रियको जंजीरसे कस डालते हैं, कितने चारों ओर आग सुलगाकर उसमें बैठे रहते हैं, कितने तप्त (गर्म) शिलाओंपर तपते हैं ; कहाँ तक गिनावें, आजकल सैकड़ों प्रकारके ढोंगी साधु देखे जाते हैं। ये लोग ऐसे-ऐसे कितनेही कठिन काम लोगोंको दिखाने और वाहवाही लूटनेको करते हैं; अथवा अपनी कोई कामना पूरी करनेको करते हैं। ऐसे तपोंकी शास्त्रमें आज्ञा नहीं है। दूर जानेकी क्या ज़रूरत है ? भगवान् कृष्णचन्द्रके इस महावाक्यको देखनेसे क्या इस बातपर अविश्वास रह सकता है ? भारतमें आजकल ऐसे बनावटी साधु प्रायः हर जगह पाये जाते हैं। प्रयागके कुम्भके मेले, मथुरा, वृन्दावनकी रेतीली भूमिमें ऐसे साधुओंकी भरमार रहती है। ये पाखण्डी अपना अड्डा ऐसी जगह जमाते हैं,जहाँसे आदमियोंका जमघट, विशेषकर स्त्रियोंके झुण्डके-झुण्ड निकलते हैं। हमारे देशके अधिकांश पुरुष बिल्कुल ढपोल-संख हैं, स्त्रियाँतो कच्ची बुद्धिकी होती ही हैं। पुरुष तो इन्हें पूजते

होते हैं, मगर स्त्रियोंकी भक्ति इनमें जल्दी पैदा हो जाती है। ऐसे महात्मा अच्छे-अच्छे घरोंकी कुल-बालाओंको तीर्थस्थानों से उड़ा ले जाते हैं और उनका कुल-धर्म, पातिव्रत-धर्म नष्ट कर देते हैं। जो ऐसे दुष्टोंकी पूजा करते हैं, वे भगवान्‌की आज्ञाको नहीं मानते, इसलिये उन्हें भी नरकमें जाना होगा।

भोजन, यज्ञ, तप और दानके तीन भेद।

आगे भगवान् भोजन, उपासना, तप और दानकी तीन-तीन किस्में बतलाते हैं। इन किस्मोंके जाननेसे मनुष्य सतोगुणको बढ़ा सकता है और रजोगुण तथा तमोगुणको घटा सकता है। इसके सिवाय भोजन आदिकी किस्मोंके सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणीकी पहचान भी जान सकता है। जो सतोगुणी भोजन करता है, वह सतोगुणी है। जो तमोगुणी भोजन करता है, वह तमोगुणी है। इसीतरह जो सात्विक, तप, दान, उपासना करता है, वह सतोगुणी है। रजोगुणी, तमोगुणीको उनके तप-दान आदिसे समझना चाहिये।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७॥

हे अर्जुन! जिस तरह तीन प्रकारका आहार सबको अच्छा लगता है; उसी तरह उपासना, तप और दान भी सबको तीन प्रकारका अच्छा लगता है। उनके भेद सुन—

तीन प्रकारका आहार।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥८॥

आयु, उत्साह, बल, आरोग्यता और प्रसन्नता बढ़ानेवाले रसीले, चिकने और बहुत समय तक देहमें रहनेवाले तथा हृदय को हितकारी भोजन सात्विकी लोगोंको प्यारे लगते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अति कड़वा, अति खट्टा, अति नमकीन, अति चरपरा, अति रूखा और दाह पैदा करनेवाला भोजन, जिससे दुःख, शोक और रोग बढ़ते हैं, रजोगुणी को अच्छा लगता है ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

एक-प्रहरका रक्खा हुआ, रस-रहित, सड़ा हुआ, बासी, जूँठा, और अपवित्र भोजन तमोगुणी लोगोंको अच्छा लगता है ।

तीन प्रकारका यज्ञ ।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! यज्ञ करना कर्त्तव्य-धर्म है, ऐसा विचारकर जो यज्ञ बिना फल-प्राप्तिकी इच्छाके किया जाता है, वह यज्ञ सात्विक कहलाता है ।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! जो यज्ञ फल की कामना से अथवा ढोंग फैलानेको किया जाता है, वह यज्ञ रजोगुणी है ।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

जो यज्ञ शास्त्र-विधिके विरुद्ध किया जाता है, जिसमें भोजन नहीं कराया जाता, जिसमें वेद-मन्त्र नहीं बोले जाते, जिसमें दान नहीं दिया जाता और जो श्रद्धा-रहित होकर किया जाता है, वह यज्ञ मोगुणी है ।

शारीरिक तप।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवं।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

देवता, द्विज, गुरु और तत्वज्ञानियों की पूजा करना, भीतर-बाहर पवित्र रहना, सबके सामने नम्र रहना, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करना, किसीको कष्ट न देना, यह शारीरिक तप कहलाता है।

देवता—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य्य आदि।

द्विज—सदाचारी ब्राह्मण।

गुरु—माता, पिता और विद्या पढ़ानेवाला।

ब्रह्मचर्य—शास्त्रमें जो मैथुन मना है, उसे न करना।

शारीरिक तपमें शरीर प्रधान है; लेकिन इसके सहायक और भी हैं। केवल शरीरसे जो तप किया जाता है, उसे शारीरिक तप नहीं कहते। इस विषयमें भगवान् आगेके १८ वें अध्यायमें कहेंगे।

वाचिक तप।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

अपनी बातसे किसीका दिल न दुखाना, सच बोलना, प्यारी और हितकारी बात कहना और वेदका अभ्यास करना, यह वाचिक तप है।

मानसिक तप।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

चित्त प्रसन्न रखना, चित्तमें शान्ति रखना, मौन रहना, मनको वशमें रखना, कपट न रखना; इसे मानसिक तप कहते हैं।

मनको एकाग्र करके आत्माका ध्यान करनेको मौन कहते हैं।

कपट न रखना—दूसरे लोगोंसे व्यवहारमें ईमान्दारीसे चलना।

गुण-अनुसार तीन प्रकारका तप।

पहले जो शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारके तप कहे हैं, वे सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणके हिसाबसे तीन प्रकार के होते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते॥ १७॥

फलोंकी इच्छा त्यागकर, अत्यन्त श्रद्धासे एकाग्रचित्त मनुष्य जो तीन प्रकारके तप करते हैं, वह "सात्विक तप" कहलाते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

जो तप अपना मान बढ़ानेकी इच्छासे, अपनेको पुजानेकी इच्छासे, केवल दिखानेके लिये किया जाता है, वह "राजस तप" कहलाता है। वह तप तुच्छ और अनित्य है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

जो तप मूर्खतासे, अपने आत्मा को दुःख देकर, दूसरे को दुःख पहुँचाने या नाश करनेके लिये किया जाता है, वह "तामस तप" कहलाता है।

तीन प्रकारके दान।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥ २०॥

जो दान अपना कर्त्तव्य-धर्म समझकर किया जाता है, जो दान उत्तम देश और उत्तम कालमें ऐसे सुपात्रको दिया जाता है, जिसने कभी अपना उपकार न किया हो, वह "सात्विक दान" कहलाता है।

छटे-कट्टे, बदमाश, लुच्चों को देना अच्छा नहीं है। विद्वान् ब्रह्मचारी, लोककी भलाई के लिये परिश्रम करनेवालोंको दान देना अच्छा है। ऐसे ही लोग सुपात्र कहलाते हैं। जिससे कभी उपकार की आशा हो या जिसने कभी उपकार किया हो उसे दान देना अनुचित है। कुरुक्षेत्र, प्रयाग आदि अच्छे-अच्छे स्थानों तथा संक्रान्ति आदि अच्छे-अच्छे पर्व्व-दिनोंमें दान देना चाहिये।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

जो दान बदलेमें भलाईकी इच्छासे दिया जाता है, या फलकी कामना से दिया जाता हैं, या दुःखित चित्तसे दिया जाता है, वह "राजसी दान" कहलाता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो दान निषिद्ध देश और कालमें अयोग्योंको दिया जाता है अथवा योग्योंको निरादर और तिरस्कारके साथ दिया जाता है, वह "तामस दान" कहलाता है।

अंगहीन क्रियाओंके पूर्ण करनेकी विधि।

नीचे लिखेहुए विधि और नियम यज्ञ, दान, और तपादिके पूर्ण करने या उनमें सिद्धि प्राप्त करनेको दिये जाते हैं।

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

हे अर्जुन! "ओं तत्सत्" यह तीन अवयवोंवाला नाम परब्रह्मका है। इस नामसेही प्राचीन कालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ उत्पन्न किये गये थे।

जिस भाँति अकार, उकार, मकार, इन् अवयवोंवाला (अ+उ+म=ओं=ॐ, ओं) ॐ अथवा प्रणव परब्रह्मका नाम है, उसी तरह से "ओं तत् सत्" भी परब्रह्मके नाम हैं। वेदान्त जाननेवालोंने पहले इसका स्मरण किया था। अधिकारी मनुष्य यदि यज्ञ, दान आदिके पहले और पीछे तीन-तीन बार "ओं तत् सत्" उच्चारण करे तो उसके यज्ञ, दान आदिमें दोष न रहने पावें। इसके उच्चारण करनेसे अंगहीन क्रिया भी सात्त्विकी फल देगी। यह विधि अनादि कालसे चली आती है। आगे भगवान् "ओं, तत् सत्" इन तीनोंका माहात्म्य अलग-अलग कहेंगे।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

हे अर्जुन! इसीलिये वेद जाननेवाले शास्त्रविहित यज्ञ, तप, दान आदिके करनेसे पहले ॐ शब्दका उच्चारण करते हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

जो केवल मोक्ष चाहते हैं और किसी फल की चाहना नहीं रखते, वे लोग यज्ञ, तप, दान आदिके पहले "तत्" का उच्चारण करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

हे अर्जुन! सद्भाव और साधुभावमें "सत्" शब्द कहा जाता है; विवाह आदि मांगलिक कामोंमें भी इस "सत्" शब्दका प्रयोग किया जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञ, तप और दानके कामको "सत्" कहते हैं। ईश्वरके लिये जो कर्म किया जाता है उसे भी "सत्" कहते हैं। परमात्माके लिये जो यज्ञ आदि कर्म किये जाते हैं यदि वे अँगहीन और गुणरहित भी हों; तोभी 'ओं तत्सत्'के पहले उच्चारण करनेसे पूर्ण हो जाते हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

हे पार्थ! जो यज्ञ, तप, दान आदि बिना श्रद्धाके किया जाता है वह 'असत्' कहलाता है; उसका फल न तो इस लोकमें मिलता है और न परलोकमें।

इस अध्याय का सारांश।

वे भक्त हैं जो शास्त्रके न जानने पर भी, श्रद्धावान् हैं; और जो अपनी श्रद्धानुसार सात्त्विक, राजसिक, और तामसिक की श्रेणियोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। इनको चाहिये कि राजसी-तामसी आहार, यज्ञ, दान और तपको छोड़कर सात्त्विक आहार, यज्ञ आदि करें। जब कि उनको यज्ञ, दान आदिक क्रियाओंमें दोष हो तो वे ओम्, तत् और सत्का उच्चारण करें; इससे उनके कार्य पूर्ण हो जायँगे। इस भाँति अन्तःकरण शुद्ध करके उन्हें शास्त्र पढ़ने चाहियें और आगे चलकर ब्रह्मकी खोजमें लगना चाहिये। इस तरह करने से उन्हें सत्यका अनुभव होगा और उनको मोक्ष हो जायगी।

सिद्धान्त ।

सन्यास और त्याग का भेद ।

इस अध्यायमें भगवान सारे गीता-शास्त्र और वेदके सारांश को एक जगह करके उपदेश देते हैं। पहले के अध्यायोंमें जो उपदेश दिया गया है वह सब निस्सन्देह इस अध्यायमें मिलेगा। लेकिन अर्जुन केवल यही जानना चाहता है, कि "सन्यास" और "त्याग" शब्दोंके अर्थमें क्या भेद है।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन ने पूछाः—

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशी राक्षसके मारनेवाले! मैं सन्यास और त्यागके तत्त्वको अलग-अलग जानना चाहता हूँ।

हे भगवन्! सन्यास और त्याग शब्दोंमें क्या फ़र्क़ है? उसे आप मुझे कृपा करके समझाइये।

संन्यास और त्याग शब्दोंका ज़िक्र अनेक जगह पिछले अध्यायों में आया है मगर उनका खुलासा अर्थ कहीं नहीं किया गया, इसीसे अर्जुन पूछता है और भगवान् आगे समझाते हैं:—

श्री भगवानुवाचः—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

पण्डित लोग काम्य कर्मोंके छोड़नेको 'संन्यास' कहते हैं; विचार-कुशल पुरुष सब कर्मों के फल छोड़ने को 'त्याग' कहते हैं।

कुछ विद्वान समझते हैं, कि फलोंकी इच्छा सहित अश्वमेध यज्ञ आदि काम्य कर्मोंको छोड़ना "सन्यास" है। सत्य-असत्यकी आलोचना करनेवाले विद्वानोंकी राय है, कि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके फल छोड़ने को "त्याग" कहते हैं।

संन्यास और त्याग दोनोंका एकही अर्थ है। उनमें इतना फ़र्क़ नहीं है जितना कि "घड़े" और "कपड़े" में। हाँ, दोनोंमें ज़रासा भेद है। संन्यासका अर्थ है—अश्वमेध आदि काम्य कर्मोंका छोड़ना और त्यागका अर्थ है—कर्म फलोंका छोड़ना।

शङ्का—नित्य और नैमित्तिक कर्मों का फल होते तो कहीं नहीं कहा गया है। क्या सबब है जो यहाँ उनके फल-त्यागकी बात कही गयी है? यह बात तो वैसीही है जैसे बाँझ स्त्रीका पुत्र-त्याग करना।

उत्तर—यहाँ ऐसी शङ्का नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि भगवान् की रायमें नित्य नैमित्तिक कर्मोंका फल होता है। वह इसी अठारहवें अध्यायके १२ वें श्लोक में बतायेंगे कि वे सन्यासी, जिन्होंने कर्म-फलोंकी तमाम इच्छाएँ त्याग दी हैं, उनके फलोंसे सम्बन्ध नहीं रखते; किन्तु जो संन्यासी नहीं हैं उन्हें तो अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका फल भोगना ही होगा, जिनके करने को वे बाध्य हैं।

अज्ञानियोंको कर्म छोड़ना चाहिये या नहीं ?

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कितने ही तत्त्वज्ञानी कहते हैं, कि राग, द्वेष आदि की तरह कर्म छोड़ देने चाहिये ; कुछ कहते हैं, कि यज्ञ, दान और तपको न छोड़ना चाहिये ।

खुलासा—नित्य-नैमित्तिक एवं काम्य कर्म आदि सभी मनुष्य को बन्धनमें डालते हैं ; क्योंकि वे राग द्वेष आदिके समान दोषोंसे भरे हैं। इसलिये अज्ञानी (जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है) को वे सब कर्म छोड़ देने चाहिये। यह तो एक पक्षके विद्वानोंका मत है। दूसरे पक्षके विद्वान कहते हैं, कि अज्ञानी को भी अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा, ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये, यज्ञ, दान तप इन कर्मोंको हरगिज़ न छोड़ना चाहिये। भगवान् यहाँ दो प्रकारके लोगोंका मत कहकर, आगे अपना निश्चय बताते हैं।

भगवान् की आज्ञा है कि अज्ञानियों को कर्म करने चाहियें।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे भरतकुलश्रेष्ठ ! इस त्यागके विषयमें मेरे निश्चयको सुन । पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग तीन भाँतिका कहा गया है

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तप कर्मोंको नहीं छोड़ना चाहिये । उनका करना ज़रूरी है । यज्ञ, दान और तप ज्ञानीके शुद्ध करनेवाले हैं ।

खुलासा—यज्ञ, दान और तप तीनों प्रकारके कर्म अवश्य करने चाहियें ; क्योंकि वे ज्ञानीके मनको शुद्ध करते हैं; यानी जो फलोंकी इच्छा नहीं रखते, उन ज्ञानियोंको शुद्ध करनेवाले हैं।

आवश्यक कर्म आसक्ति छोड़कर करने चाहियें।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! ये कर्म भी आसक्ति और कर्म फलकी आशा छोड़ कर करने चाहियें । हे पार्थ ! यह मेरा निश्चित और श्रेष्ठ मत है।

खुलासा—यज्ञ, दान और तप ये तीन कर्म, "मैं करता हूँ" ऐसा अभिमान छोड़कर तथा अपने किये हुए कर्मों से स्वर्ग, स्त्री, पुत्र, आदि फलोंकी आशा न रखकर, करने चाहियें। मतलब यह है, कि उन किये हुए कर्मोंमें आसक्ति न रखनी चाहिये और उनसे किसी फलके मिलनेकी उम्मीद न रखनी चाहिये। अगर ये कर्म आसक्ति और फल-आशा त्यागकर किये जायं; तो मनुष्यको बन्धनमें न फँसावें। लेकिन जो ऐसा समझते हैं, कि "हम यह काम करते हैं, हमें इनके करनेसे स्वर्ग, राज, धन-दौलत आदि मिलेगी" वे कर्म बन्धनमें फँसेंगे—उनको मोक्ष न होगी

कर्मों का तामसी और राजसी त्याग।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

नित्य कर्मोंका त्याग निश्चय ही अनुचित है ; मूर्खतासे उनको त्याग देना तामसी त्याग कहलाता है ।

खुलासा—अज्ञानी परन्तु मोक्षकी इच्छा करनेवाला काम करने को बाध्य है ; अतः उसको नित्यकर्मोंका त्याग करना ठीक नहीं

है; क्योंकि कहा जाचुका है, कि नित्य कर्मों से अज्ञानीका मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध होनेसे मुक्तिकी राह दिखाई देने लगती है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

जो कोई, शारीरिक कष्टके भयसे, कर्मको दुखःदायी समझ कर छोड़ देता है, उसका यह त्याग राजसी त्याग है। इस त्याग का फल उसे कुछ भी नहीं मिलता।

सात्विक त्याग ।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

हे अर्जुन! "यह नियमित कर्म ज़रूर करना है।" ऐसा समझकर, जो कर्म आसक्ति तथा फल की आशा त्याग कर किया जाता है वह सात्विक कहलाता है।

खुलासा—कर्म करना चाहिये, किन्तु कर्म्म—फलकी इच्छा न करनी चाहिये। फलकी इच्छा त्याग देनेको ही सात्विक त्याग कहते हैं।

जब कि आदमी कर्म्मके योग्य होने पर नित्य-नैमित्तिक कर्म्म करता है और अपने कर्मोंसे प्रेम नहीं रखता एवं उनके फल की इच्छा नहीं करता, उसका अन्तःकरण साफ़ हो जाता है। जब अन्तःकरण शुद्ध और शान्त होजाता है, तब उसका अन्तःकरण आत्म-ध्यान करने-योग्य होजाता है। अब भगवान् यह सिखाते हैं, कि जिसका अन्तःकरण नित्यकर्मोंसे शुद्ध होजाता है और जो आत्म-ज्ञान प्राप्त करने योग्य हो जाता है—धीरे-धीरे ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर सकता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

सात्विक त्यागी मनुष्य सतोगुणसे व्याप्त होने पर तत्वज्ञानी हो जाता है, उसके सन्देह दूर हो जाते हैं; तब वह दुखदायी कर्मों से परहेज़ नहीं करता और सुखदायी कर्मोंसे प्रसन्न नहीं होता ।

खुलासा—जो दुःखदायी कर्मों—काम्य कर्मों—को संसारका कारण समझ कर, उनसे घृणा नहीं करता और जो सुखदायी कर्मों—नित्य कर्मों—को अन्तःकरण शुद्ध करनेवाला और ज्ञान पैदा करके मोक्षकी राह बतानेवाला समझ कर, उनसे राज़ी नहीं होता वह ठीक आदमी है। यह हालत मनुष्यको उस समय होती है, जबकि उसमें सतोगुण व्याप्त हो जाता है और उस सतोगुणके कारण से उसे आत्मा और अनात्माका ज्ञान हो जाता है । उस समय उसके अज्ञानसे पैदा हुए सन्देह नाश हो जाते हैं, तब उसे विश्वास हो जाता है, कि आत्मतत्त्वमें लीन रहनेसे ही मोक्ष होगी। इसके सिवाय मोक्षका और उपाय नहीं है।

सारांश यह है, कि जब मनुष्य कर्म-योगके योग्य होकर, ऊपर लिखी विधिसे कर्म-योग करता है, तब धीरे-धीरे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। उस समय वह अपने तईं जन्मरहित और निर्विकार आत्मा समझने लगता है। इस तरहका ख़्याल हो जानेसे, वह परमानन्द स्वरूप आत्माके मुक़ाबलेमें सब कर्मोंके फल को तुच्छ समझता है ।

अज्ञानी केवल फल ही त्याग सकता है ।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

देहधारी से कर्मोंका एकदम त्याग होना असम्भव है ; जो कर्मफलोंको त्याग देता है वह निश्चयही त्यागी है ।

खुलासा—अज्ञानी देहधारी सारे कर्मोंको नहीं छोड़ सकता ; किन्तु वह कर्मोंके फलको छोड़ सकता है। कामोंका फल त्यागने से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है ; पीछे ज्ञान होता है। जब तक अज्ञानका नाश न हो, तब तक काम न छोड़ने चाहियें। जो अज्ञानी ज़रूरी काम करता है; किन्तु अपने कामोंके फलकी चाहना छोड़ देता है, वह काम करता हुआ भी त्यागी कहलाता है।

सब कामोंको वही त्याग सकता है, जो परब्रह्म-तत्त्वको जान गया है और शरीरको आत्मा नहीं समझता। मतलब यह निकला, कि अज्ञानी काम करना नहीं छोड़ सकता; लेकिन कामोंके फलको छोड़ सकता है ; लेकिन आत्मज्ञानी (शरीर और आत्माको अलग-अलग समझनेवाला) सारे कर्मोंको छोड़ सकता है। वह समझता है, कि आत्मा कुछ नहीं करता, जो कुछ होता है, वह शरीर से होता है, इसलिये वह काम करता हुआ भी काम नहीं करता।

कर्मों के फल ।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

कर्मोंके फल तीन प्रकारके होते हैं—अनिष्ट, इष्ट, और मिश्र। ये फल मरने बाद उन्हें मिलते हैं जो कर्म-फलका त्याग नहीं करते। संन्यासियोंको यह फल भोगने नहीं पड़ते।

खुलासा—जो फलोंकी इच्छा सहित काम करते हैं, उनको अनिष्ट, इष्ट, और मिश्र फल भोगने पड़ते हैं। पाप-कर्मका फल अनिष्ट होता है। पुण्य-कर्मका फल इष्ट होता है। पाप और पुण्य का फल मिश्र होता है। जो पाप-कर्म करते हैं वह नरकमें जाते हैं ; यानी पशु-पक्षियोंकी नीच योनिमें जन्म लेते हैं। जो पुण्य करते हैं, वे स्वर्गमें जाकर देवता होते हैं। जो पाप और पुण्य दोनों करते हैं वे मनुष्य-योनियोंमें जन्म लेते हैं।

इस सबका सारमर्म यह है, कि इन तीनों प्रकारके फलोंको वे भोगते हैं जो अत्यागी हैं (जिन्होंने कर्म-फलोंकी चाहना नहीं छोड़ी है), जो अज्ञानी हैं, जो कर्म-योगके अनुयायी हैं, जो पक्के त्यागी (संन्यासी) नहीं हैं; किन्तु जो सच्चे संन्यासी हैं, जो एकमात्र ज्ञान-निष्ठामें लगे हुए हैं और जो संन्यासियोंकी सर्व्वोच्च श्रेणीमें हैं; जो परमहंस परिव्राजक हैं, उन्हें ये तीन प्रकारके फल नहीं भोगने पड़ते।

कर्मों के पांच कारण।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो! सब कर्मोंकी समाप्ति करनेवाले सांख्य शास्त्रमें सब प्रकारके कर्मोंके जो पाँच कारण कहे हैं, उन्हें तू मुझसे सुन :—

सांख्य=वेदान्त (उपनिषद), इसे कृतान्त भी कहते हैं, क्योंकि यह सब कर्मोंका अन्त कर देता है। दूसरे अध्यायके ४६ वें और चौथे अध्यायके ३३ वें श्लोक उपदेश करते हैं, कि जब आत्मज्ञानका उदय होता है, तब सब कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है; इसीसे वेदान्तको, जो आत्मज्ञान देता है, 'कृतान्त' कहते हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

वे पांच कारण ये हैं—

(१) अधिष्ठान यानी शरीर।

(२) कर्त्ता यानी उपाधि सहित चैतन्य।

(३) करण यानी मन और पाँच इन्द्रियाँ।

(४) प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान वायु।

(५) दैव।

(१) अधिष्ठान=शरीर, क्योंकि यही इच्छा द्वेष, सुख-दुःख और ज्ञान अज्ञानका आधार है। (२) कर्त्ता=चैतन्य और जड़के मेलवाला अहङ्कार अथवा स-उपाधि चैतन्य। (३) करण=मन और पाँच इन्द्रियों के व्यापार। (४) पाँच प्रकारकी वायु=जिनसे साँस के आने-जाने आदिकी क्रियाएँ होती हैं। (५) दैव=जैसे सूर्यादि देवता, जिनकी मददसे आँख वग़ैरः इन्द्रियाँ अपने-अपने काम करती हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

हे अर्जुन! मनुष्य शरीर, मन, और वाणीसे जो भले-बुरे कर्म करता है उनके ये (जो ऊपर कहे गये हैं) ही पाँच कारण हैं।

तत्रैव सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

हे अर्जुन! सब कर्म उपरोक्त पाँच कारणोंसे होते हैं, इस बातके निश्चय होजानेपर भी जो मूढ़ अपने शुद्ध आत्माको कर्मोंका कर्त्ता समझता है, वह दुर्बुद्धि नहीं देखता है।

सब काम उपरोक्त पाँच कारणोंसे होते हैं; किन्तु मूर्ख मनुष्य, अपनी अज्ञानताके कारण, उन पाँच कारणोंके साथ अपने आत्माको समझता है और शुद्ध आत्माको कामका करनेवाला मानता है। असलमें काम उन पाँचोंसे होता है। कामसे आत्माका कुछ सम्बन्ध नहीं है। आत्मा कभी कुछ भी नहीं करता। आत्मा उदासीन और असङ्ग है। जिसने वेदान्त नहीं पढ़ा है, जिसने ब्रह्मज्ञानी गुरुसे ब्रह्म-विद्याका उपदेश नहीं पाया है, जिसने तर्क-शास्त्र नहीं सीखा है, वह मूर्खही आत्माको कामोंका करनेवाला समझता है। ऐसा आदमी मूर्ख है। वह असल राहसे भूला हुआ है। ऐसी समझवालेको बारम्बार जन्मना और मरना पड़ता है। यद्यपि ऐसा

आदमी देखता है तथापि वह उस आदमीके समान तत्त्वको नहीं देखता, जो आँखोंमें तिमिर [धुन्ध] रोग होनेसे एक चाँदकी जगह अनेक चाँद देखता है, या उस मनुष्यके समान है जो चलते बादलों में चन्द्रमाको चलता हुआ देखता है, अथवा उसके समान है जो गाड़ीमें बैठा हुआ अपने तईं चलता हुआ समझता है, जबकि उस गाड़ीके खींचनेवाले चलते हैं ।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! जिस विद्वान् पुरुषके मनमें 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा विचार नहीं है, जिसकी बुद्धि कामोंमें लिप्त नहीं है—यद्यपि वह इन प्राणियोंको मारता है, तथापि वह नहीं मारता और उसे बन्धनमें भी नहीं फँसना होता है ।

जिसका मन शास्त्र-ज्ञानसे शुद्ध हो गया है, जिसने गुरुसे ब्रह्म-विद्याकी शिक्षा पाई है, उसके मनमें अहङ्कार नहीं रहता ; यानी "मैं कर्त्ता हूँ" ऐसा ख़याल वह कभी नहीं रखता । वह समझता है, "शरीर, अन्तःकरण, इन्द्रिय, पञ्चवायु और देवहो, जो मुझमें माया से कल्पना कर लिये गये हैं, सब कर्मोंके कारण हैं ; मैं किसी कर्म का कारण नहीं हूँ ; मैं शरीर, अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि पाँचोंके कामोंका साक्षीभूत—देखनेवाला—हूँ । मैं क्रिया-शक्ति रखनेवाला प्राण-रूप उपाधि और ज्ञान-शक्ति रखनेवाले अन्तःकरण-रूप उपाधि से रहित हूँ ; यानी प्राणवायु आदि वायुओं तथा अन्तःकरणसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । मेरे न अन्तःकरण है और न मैं साँस लेता हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं सब विकारोंसे रहित हूँ, मेरा जन्म-मरण नहीं होता, मैं अविनाशी और नित्य हूँ ।" जिसका अन्तःकरण (बुद्धि) जो आत्माकी उपाधि है, कर्मों में लिप्त नहीं है, वह इस तरह नहीं पछताता—"मैंने यह काम किया है ; इससे मुझे नरकमें

जाना होगा।" जिसके विचार ऐसे हैं वह ज्ञानी है; वह ठीक देखता है; चाहे वह इन सब प्राणियोंको मारे तोभी वह मारनेवाला नहीं है। उसपर इस कर्मका असर नहीं होता; यानी उसे कर्मके बन्धनमें बँधकर अधर्मका फल नहीं भोगना पड़ता।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये तीन कर्मके प्रवर्त्तक हैं। करण, कर्म और कर्त्ता ये तीन कर्मके आश्रय हैं।

ज्ञान=जिससे किसी चीज़का यथार्थ स्वरूप मालूम हो वह 'ज्ञान' है। ज्ञेय=ज्ञान द्वारा जो चीज़ जानी जाय उसे 'ज्ञेय' कहते हैं। जो ज्ञानसे किसी चीज़को जाननेवाला है वह 'परिज्ञाता' है। ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता, इन तीनोंके मिले बिना कोई काम आरम्भ नहीं होता; यानी इन तीनोंमें से किसी एकके न होने पर भी काम आरम्भ नहीं हो सकता। करण=जिससे क्रियाकी सिद्धि हो उसे करण कहते हैं; जैसे आँखसे देखाजाता है। करण दो भाँतिके होते हैं (१) बाह्य करण, जैसे आँख कान आदि। (२) अन्तःकरण, जैसे मन, बुद्धि आदि। कर्म्म=जो काम किया जाय। कर्त्ता=जो काम करे। मैं हाथसे रोटी खाता हूँ; इसमें "मैं" कर्त्ता है "रोटी" कर्म्म है, "हाथसे" करण है और "खाता हूँ" यह क्रिया है। कर्त्ता, कर्म्म और करण इन तीनोंसे कर्म्मका संग्रह होता है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

हे अर्जुन! सांख्य-शास्त्रमें सत्व, रज, तम, इन तीन गुणोंके भेदसे ज्ञान, कर्म और कर्त्ता तीन प्रकारके कहे गये हैं। उनको भी तू ठीक-ठीक सुन।

सात्विक ज्ञान ।

सर्वं भूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् । ॥ २० ॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य सब अलग-अलग प्राणियोंमें एकही अभिन्न अविनाशी परमात्माको देखता है, वह सात्विक ज्ञान है ।

जब मनुष्यको सात्विक ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्मासे लेकर चींटी तकमें एकही अविनाशी परमात्माको देखने लगता है। उस समय भिन्न भाव नहीं रहता। वह ऐसा समझने लगता है, कि देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी सबमें एकही अविनाशी परमात्मा है। भिन्न-भिन्न प्रकार की देह होनेसे भिन्न-भिन्न मालूम होते हैं, वास्तवमें सब एक हैं। अलग-अलग शरीर में अलग-अलग आत्मा नहीं है।

राजस ज्ञान ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

जिस ज्ञानसे सब प्राणियोंकी देहमें रहनेवाला एकही आत्मा अलग-अलग दिखायी देता है, उसे राजस ज्ञान कहते हैं ।

तामस ज्ञान ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जिस ज्ञानसे शरीर आत्मा समझा जाता है ; अथवा एक प्रतिमा में ईश्वर समझा जाता है, वह ज्ञान निर्मूल और तुच्छ है । ऐसे ज्ञानको तामस ज्ञान कहते हैं ।

सात्विक कर्म।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

जो कर्म नित्य नियमसे किया जाता है, जिस कर्ममें मनुष्य आसक्त नहीं होता, जो कर्म विना राग-द्वेषके किया जाता है, जो कर्मफलकी इच्छा छोड़कर किया जाता है, वह सात्विक कर्म है।

राजस कर्म।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

जो कर्म किसी प्रकारके फलकी इच्छासे, अहंकारसे और बड़े कष्टसे किया जाता है, वह राजस कर्म है।

तामस कर्म।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

जो काम करनेसे पहले यह नहीं विचारा जाता कि इसका नतीजा क्या होगा, कितना धन नाश होगा, दूसरोंको कितनी तकलीफ पहुँचेगी, मेरी सामर्थ्य इसके करनेकी है या नहीं, इन बातोंको विचार किये बिनाही जो कर्म किया जाता है, वह तामस कर्म है।

सात्विक कर्त्ता।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो कर्ममें आसक्त नहीं होता, जिसको अहंकार नहीं है, जो धैर्य्यवान् और उत्साही है, जो कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें एकसा

रहता है; यानी काम बन जानेपर खुश नहीं होता और बिगड़ जाने पर रंज नहीं करता—वह सात्विक कर्त्ता है।

राजस कर्त्ता।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

हे अर्जुन! जो कामोंसे प्रेम रखता है, जो अपने किये हुये कामके फल पाने की इच्छा रखता है, जो लोभी है, जो दूसरों को तकलीफ़ पहुँचानेमें उत्साही रहता है, जो अपवित्र है, जो हर्ष और शोकके अधीन है, वह राजस कर्त्ता है।

तामस कर्त्ता।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

जो कर्म करनेके समय कर्ममें चित्त नहीं रखता, जो बालकों-की सी बुद्धि रखता है, जो किसी के सामने सिर नहीं झुकाता, जो कपट रखता है, जो दुष्टता करता है, जो अपने कर्त्तव्य कर्मको नहीं करता, जो हर समय शोकमें डूबा रहता है, जो समय पर काम न करके कामको टाला करता है, वह तामस कर्त्ता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

हे अर्जुन! गुणोंके अनुसार बुद्धि और धृति (धैर्य) भी तीन तीन तरह की होती है। उन्हें मैं अच्छी तरह से अलग—अलग कहता हूँ सुन—

सात्विक बुद्धि।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥३०॥

जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध तथा मोक्षको जानती है वह सात्विकी बुद्धि है ।

जो बुद्धि, प्रवृत्ति, और निवृत्ति; यानी कर्म-मार्ग और संन्यास-मार्ग को जानती है, जो करने-योग्य और न करने-योग्य कर्मोंको जानती है, जो भय और निर्भयताके कारण जानती है, जो बन्धन और मोक्षके कारण जानती है, वह सात्विकी बुद्धि है ।

राजसी बुद्धि ।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

जिस बुद्धिसे धर्म, अधर्म और कर्त्तव्य, अकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं होता, वह राजसी बुद्धि है ।

तामसी बुद्धि ।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

जो बुद्धि अज्ञान रूपी अन्धकारसे ढकी हुई है, जो धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझती है, तथा सारी बातों को उलटी समझती है, वह तामसी बुद्धि है ।

सात्विकी धृति ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

जो धृति योगसे व्याप्त है, जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियायें रुकती हैं, वह सात्विकी धृति है ।

राजसी धृति ।

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकाङ्क्षी धृतिःसा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

वह धृति, जिससे मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की प्राप्तिमें लगता है और समय पर प्रत्येकका फल चाहता है, वह धृति, हे पार्थ ! राजसी है ।

तामसी धृति ।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन ! जिस धृतिसे मूर्ख मनुष्य नींद, भय, शोक, विषाद, और मद (मस्ती) को नहीं छोड़ता, वह धृति तामसी है ।

खुलासा—मूर्ख आदमी इन्द्रियोंके विषयको खूब पसन्द करता है और कामातुरताको नहीं त्यागता है । वह समझता है नींद, भय वगैर: कर्त्तव्य कर्म हैं ; यानी वह उठनेके समय सोता रहता है । और कामके समय भय, शोक और मदमें डूबा रहता है ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

हे अर्जुन ! अब मैं तीन भाँतिके सुखोंका वर्णन करता हूँ । उस सुखका अभ्यास करनेसे आनन्द होता है और दुःखों का अन्त होजाता है ।

सात्विक सुख ।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

जो सुख पहले विषके समान मालूम होता है ; लेकिन परिणाम में अमृत के समान सुखदायी होता है, वह आत्मबुद्धिकी शुद्धतासे पैदा हुआ सुख सात्विक सुख होता है ।

खुलासा—उस सुखमें पहले-पहले बड़ा दुःख होता है ; यानी उस सुखके प्राप्त करनेके पहले ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधिकी प्राप्तिमें बड़ी-बड़ी तकलीफें उठानी पड़ती हैं । अन्तमें, ज्ञानके उदय होने तथा बाह्य पदार्थोंमें उदासीनता होनेसे अमृत समान सुख

होता है। वह सुख सात्विक है; क्योंकि वह बुद्धि या अन्तःकरण की शुद्धता; अथवा पूर्ण आत्मज्ञान होनेसे होता है।

राजसी सुख।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

हे अर्जुन! जो सुख इन्द्रियों और विषयोंके मेलसे होता है, वह पहले तो अमृतके समान मालुम होता है; लेकिन अन्तमें वह विषके समान (दुखदायी) होता है, ऐसे सुख को राजसी सुख कहते हैं।

खुलासा—विषय-भोगसे पहले तो बड़ा आनन्द आता है; किन्तु भोग लेनेके बाद वह ज़हरका काम करता है; क्योंकि उससे बल, शक्ति; रङ्गरूप, बुद्धि, विवेक, धन और धैर्य सबका ह्रास होता है; इसके सिवा उससे पाप लगता है और वह नरकमें ले जाता है।

तामसी सुख।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

हे अर्जुन! वह सुख, जो पहले और अन्तमें आत्माको मोहमें फँसाता है; नींद, आलस्य और प्रमादसे पैदा होता है—उसे तामसी सुख कहते हैं।

कोई भी मनुष्य और देवता गुणरहित नहीं है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

हे अर्जुन! पृथ्वी या स्वर्ग में कोई मनुष्य और देवता ऐसा नहीं है, जो प्रकृति से पैदा हुए सत्व, रज, तम इन तीन गुणोंसे बचा हो।

गुणोंके अनुसार चारों वर्णोंके कर्त्तव्य कर्म।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

हे परन्तप! प्रकृतिसे पैदा हुए सत्व, रज, तम, इन गुणों के

कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र के कर्त्तव्य कर्म अलग-अलग ठहराये गये हैं।

ब्राह्मणोंके कर्म।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

अन्तःकरण का रोकना, इन्द्रियों का वश करना, शारीरिक तपस्या, अन्तःकरणकी शुद्धता, क्षमा, सिधाई, शास्त्रज्ञान, अनुभवज्ञान, और आस्तिकता, ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं।

क्षत्रियोंके कर्म।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शूरता, साहस, धीरज फुरती, युद्धसे न भागना, उदारता, प्रभुता, ये क्षत्रियोंके स्वाभाविक गुण हैं।

वैश्यों और शूद्रोंके कर्म।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

खेती करना, मवेशी पालना और व्योपार करना ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं। शूद्रों का स्वाभाविक कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा करना है।

अपने ही धर्म-कर्ममें तत्पर रहनेसे सिद्धि मिलती है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य अपने कर्म में तत्पर रहता है, वह सिद्धि पाता है। अपने कर्म में तत्पर रहनेवाला कैसे सिद्धि पाता है सो सुन :—

अपने कर्ममें तत्पर रहनेवालेको अन्तःकरण शुद्ध होने पर मोक्ष

मिलती है। केवल कर्म्म करनेसे मोक्ष मिल जायगी, ऐसा हरगिज़ न समझना चाहिये। पहला काम अन्तःकरणकी शुद्धि है, वह कर्म करनेसे होती है। उसके बाद ज्ञाननिष्ठ होकर मनुष्य परमानन्द स्वरूप आत्माको पाता है। असलमें तो कर्म्म बन्धनका कारण है, पर उसीसे चित्तकी शुद्धि होती है, इसलिये कर्म्मको मोक्षके कारणोंमेंसे एक माना है। मतलब यह है, कि जब तक चित्त शुद्ध न हो जाय, मनुष्यको शास्त्रानुसार अपने कर्म्म करने ही उचित हैं।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानांयेन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

जिस अन्तर्यामी परमात्मा से भूतोंकी प्रवृत्ति होती है; यानी जिसकी सत्तासे सब जगत् चेष्टा करता है, जिससे यह जगत् व्याप्त हो रहा है, उस परमात्मा को जो अपने उचित कर्मों से पूजता है, उसे सिद्धि मिलती है।

जिस अन्तर्यामी परमात्मासे यह जगत् पैदा हुआ है; अथवा जिसकी सत्तासे यह चेष्टाएँ करता है और जो सारे संसारमें व्याप्त हो रहा है, उस परमात्माको जो मनुष्य अपने जाति-धर्मानुसार कर्म करके पूजता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध (निर्म्मल) हो जाता है। अन्तःकरण शुद्ध होने पर मनुष्य ज्ञान-निष्ठ हो जाता है। ज्ञान-निष्ठ होनेपर उसे परमानन्द-स्वरूप आत्मा मिल जाता है। इसलिये,

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ ४७ ॥

पराये उत्तम धर्मसे अपना गुणहीन धर्म अच्छा है। अपना स्वाभाविक कर्म करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता है।

खुलासा—जो अपने धर्म्मको बुरा समझकर पराये धर्म्मको अङ्गीकार करता है उसे पाप लगता है; किन्तु जो अपने गुणके अनुसार नियत कर्म्मको करता है, उसे पाप नहीं लगता; जिस तरह विषसे पैदा हुए कीड़ेको विष नाश नहीं करता। अगर कोई गृहस्थ एक-

दम गृहस्थाश्रम छोड़कर संन्यास ले ले; यानी कर्मोंको छोड़ दे तो उससे वह कब निभ सकेगा? अन्तःकरणसे रजोगुण-तमोगुणके अलग हुए बिना, उससे वह संन्यास कभी न हो सकेगा। ऐसे आदमी दीन-दुनिया दोनोंसे जाते हैं।

किसीको अपना कर्म न छोड़ना चाहिये।

कह चुके हैं, कि जो अपने गुणोंके अनुसार नियत कर्म्म करता है, उसे विषमें पैदा हुए कीड़ेकी भाँति पाप नहीं लगता। पर-धर्म्ममें जानेसे भय होता है। जो आत्माको नहीं जानता, वह एक क्षणभर भी बिना कर्म्म नहीं रह सकता। क्योंकि :—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

हे कुन्तीपुत्र! अपने स्वाभाविक कर्म में कुछ दोष भी हो तोभी उसे न छोड़ना चाहिये; जिस तरह आग में धुआँ है, उसी तरह सभी कर्मोंमें दोष है।

संसारमें कोई कर्म्म अच्छा या बुरा ऐसा नहीं है, जिसमें कुछ न कुछ ऐब (दोष) न हो; इसलिये जन्मके साथ जो कर्म्म पैदा हुआ हो उसे ही करना चाहिये। अर्जुन! तू क्षत्रिय-कुलमें पैदा हुआ है, तेरा कर्म्म युद्ध करना है, तू उसमें पाप समझता है और पराये धर्म्मको अच्छा समझता है; लेकिन तू खूब समझ ले, कि कोई धर्म्म भी एकदम दोषरहित नहीं है। अग्नि भी धुएँ के कारणसे दोषसहित है; लेकिन उसके दोष—धुएँ—की तरफ़ ख़याल न करके उसके गुण तेजसे सब संसार मतलब रखता है। इसी तरह तू भी अपने कर्म्मके दोष को छोड़कर, चित्तके निर्म्मल होनेके गुणसे मतलब रख।

यदि कोई आदमी अपना धर्म्म त्यागकर, अपना स्वाभाविक कर्म्म छोड़कर, पर-धर्म्मको अङ्गीकार कर ले, तो वह दोषरहित नहीं हो सकता। दूसरेका धर्म्म भयावह है; इसलिये दूसरेका धर्म्म कभी अङ्गीकार न करना चाहिये। कोई भी मनुष्य बिना आत्मज्ञान हुए, कर्मोंको एकदम नहीं छोड़ सकता; अतः मनुष्य को कर्म्म नहीं छोड़ने चाहियें।

कर्म-योगमें सिद्धि प्राप्त कर लेने बाद मोक्षकी राह मिलती है ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९ ॥

जिसकी बुद्धि किसी चीज़में आसक्त नहीं है, जिसने अपने अन्तःकरणको जीत लिया है, जिससे इच्छा किनारा कर गयी है, ऐसा मनुष्य संन्याससे नैष्कर्म्य-सिद्धि को पाता है ।

जिसके अन्तःकरणमें पुत्र, स्त्री, धन, दौलत आदिकी ममता नहीं रही है, जिसने अपने अन्तःकरणको सब ओरसे हटाकर वशीभूत कर लिया है, जिसे किसी प्रकारकी इच्छा नहीं रही है, यहाँ तक कि शरीर क़ायम रखनेवाले खाने-पीनेके पदार्थोंमें भी जिसकी इच्छा नहीं है, जो शरीर और जीवनकी भी इच्छा नहीं रखता—ऐसा शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष आत्माके ज्ञान जानेपर संन्याससे नैष्कर्म्य सिद्धि—कर्मोंसे एकदम छुटकारा—पा जाता है। निष्क्रिय ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान होनेसे सब कर्म मनुष्यका पीछा छोड़ देते हैं। इस अवस्थाको एकदम कामोंसे छुटकारा पानेकी अवस्था कहते हैं। इसीको सिद्धि कहते हैं।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

हे अर्जुन ! इस सिद्धिको पाकर मनुष्य किस तरह ब्रह्मके पास पहुँचता है, उसे ईश्वरीय ज्ञानकी परानिष्ठा तू मुझसे संक्षेपमें सुन :—

सब कर्मोंको अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुसार पालन करके तथा अपने कर्मोंके फलकी इच्छा त्यागकर मनुष्य नैष्कर्म्य सिद्धि पाता है। नैष्कर्म्य सिद्धि पाया हुआ मनुष्य ब्रह्मसे कैसे साक्षात् करता—मिलता—है, उसे तू मुझसे संक्षेपमें सुन। यही ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है, इसीसे इसे ईश्वरीय ज्ञानकी परानिष्ठा कहा है। क्योंकि इस ज्ञानसे अपर और ज्ञान नहीं है। इससे साक्षात् मोक्ष मिलती है।

आत्मज्ञानकी निष्ठा परम सिद्धि है।

आत्मज्ञानकी निष्ठा और ब्रह्मज्ञानकी निष्ठा एकही है। इनमें कुछ भी भेद नहीं है। ब्रह्मज्ञान और आत्मज्ञान एकही बात है। इस विषयको हम नीचे प्रश्नोत्तरके रूपमें रखकर और भी समझा देते हैं।

प्र०—किसकी निष्ठा ?

उ०—ब्रह्मज्ञानकी निष्ठा।

प्र०—ब्रह्मज्ञानकी निष्ठा कैसी है ?

उ०—जैसी आत्मज्ञानकी निष्ठा।

प्र०—आत्मज्ञान कैसा है ?

उ०—जैसा आत्मा है।

प्र०—आत्मा कैसा है ?

उ०—आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है। उसी प्रकार ऐसा भी कभी नहीं होता कि वह पहले न हो और बादको हो या पहले हो और बादको न हो। उसका जन्म नहीं होता, वह सदा रहता है। उसमें कमी नहीं हुआ करती; अधिकता भी नहीं होती। शरीरके काट डालनेपर भी वह नहीं कटता। ज्ञाननिष्ठा¶ किस तरह प्राप्त होती है? सुनो (अध्याय २ रा श्लोक २० वाँ)

मोक्षकी राह।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

जिसकी बुद्धि सात्विकी है, जिसने धीरजसे अपने मनको वशमें करलिया है, जिसने शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंको छोड़ दिया है, जिसने राग और द्वेष दूर कर दिये हैं;

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

¶ ज्ञाननिष्ठा = ब्रह्मज्ञानका धारा-प्रवाह ; सब उपाधियोंको अथवा झञ्झटोंको हटाकर ब्रह्ममें बुद्धिका लीन हो जाना।

जो एकान्तमें रहता है, जो थोड़ा भोजन करता है, जिसने वाणी, काया और मनको वशमें कर लिया है, जिसने ध्यान—योगके अभ्याससे चित्तको स्थिर करलिया है और जिसे वैराग्य हो गया है,

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

जिसने अहंकार, पराक्रम, गर्व, इच्छा, शत्रुता और विषय भोगके सामानोंको छोड़ दिया है, जिसने "मेरा" यह खयाल छोड़ दिया है ; जो सब चिन्ताओंसे पीछा छुटाकर शान्तचित्त होगया है, वह ब्रह्म-भावको प्राप्त होने योग्य है ।

खुलासा—जिसकी बुद्धिमें सन्देह और भ्रम नहीं है, जिसने शरीर और मन सहित पाँचों इन्द्रियाँ अपने वशमें करली हैं, जिसने एकमात्र शरीर क़ायम रखने लायक़ सामानको छोड़कर सब तरहके विषय-भोगके सामान त्याग दिये हैं, जिसने किसी भी चीज़से प्रेम और द्वेष नहीं रक्खा है, जिसने जङ्गल, नदीके किनारे, अथवा पर्वत गुहाको अपना वास-स्थान बना लिया है, जो नींद आलस्य आदि बुराइयोंसे बचनेको थोड़ासा खाता है, जिसने अपनी वाणी, अपने शरीर और अपने मनको अपने अधीन कर लिया है, जो इस भाँति सारी इन्द्रियोंको अपने अधीन करके; यानी उन्हें शान्त करके हर घड़ी मनको आत्मामें लगाकर आत्म-ध्यानका अभ्यास करता रहता है जिसके मनमें दीखनेवाली और न दीखनेवाली दोनों प्रकारकी चीज़ों की इच्छा नहीं रही है, जिसने शरीरको आत्मा समझना छोड़ दिया है, जिसने दूसरोंको सतानेकी इच्छा और रागयुक्त बल छोड़ दिया है जिसने हठ, इच्छा और वैर त्याग दिया है, जिसने अपने धर्म-कार्योंमें झञ्झट पड़नेके ख़यालसे शरीरके लिये ज़रूरी सामानों तकको त्याग दिया है; यानी जो परमहंस परिव्राजक सर्वोच्चसंन्यासी—होगया है, जिसने अपने शरीरकी चिन्ता नहीं रक्खी है, ऐसा ज्ञानी ब्रह्म होनेके योग्य है ।

जो इस तरहसे :—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४॥

जो ब्रह्ममें निश्चलचित रहता है, जो प्रसन्न रहता है, जो न तो किसी बातका सोच करता है और न कुछ चाहता है, जो सब प्राणियोंको एक समान समझता है, वह मेरी पराभक्ति—ज्ञानकी परानिष्ठा—को पाता है।

जो ब्रह्म-भावको प्राप्त होजाता है, जिसका चित्त शान्त रहता है, वह किसी कामके बिगड़ने अथवा किसी भी चीज़के नष्ट होने या खोजानेसे रञ्ज नहीं करता और न वह किसीभी चीज़की चाहना रखता है। वह सब प्राणियोंके दुःख-सुखको अपने सुख-दुःखके समान समझता है, ऐसा ज्ञाननिष्ठ मुझ परमात्माकी सर्वोच्चभक्ति—ज्ञानकी परानिष्ठा—पाता है। (ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ किसी मूर्त्तिकी भक्ति करनेसे मतलब नहीं है।)

इसके बाद :—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

भक्ति—ज्ञानकी निष्ठा—से वह मेरे यथार्थ स्वरूपको जानता है, मैं क्या हूँ और कौन हूँ ; इसके बाद वह मेरे यथार्थ स्वरूपको जानकर शीघ्रही मुझमें मिल जाता है।

भक्तिसे, ज्ञाननिष्ठासे, वह जान जाता है, कि उपाधिके कारणसे मैं नाना प्रकारके रूपोंमें दिखाई देता हूँ, वह जान जाता है, कि मैं कौन हूँ, वह जान जाता है, कि उपाधिके कारणसे जो भेद होते हैं, मैं उनसे रहित हूँ, मैं परम पुरुष हूँ, आकाशके समान हूँ ; वह जान जाता है, कि मैं अद्वितीय हूँ, मैं एक चैतन्य हूँ, पवित्र, अजन्मा न गलने-सड़नेवाला, निर्भय और मृत्युरहित हूँ। इस भाँति मेरा यथार्थ रूप जान जाने पर (ज्ञान प्राप्त करके) वह शीघ्रही मुझमें प्रवेश कर जाता है।

ध्यान रखना चाहिये कि, 'आत्माको जानकर उसमें प्रवेश करना'

दो अलग-अलग काम नहीं हैं—तब प्रवेश करना क्या है ? वह स्वयं आत्माको जानना है; क्योंकि आत्माके जाननेका फल आत्माके सिवाय और नहीं है। आत्माही ईश्वर है। तेरहवें अध्याय के दूसरे श्लोकमें भगवानने कहा है, "तू मुझे क्षेत्रज्ञ भी जान ।"

सारांश यह है, कि इस ज्ञानकी परानिष्ठा या पराभक्तिसे ईश्वर और क्षेत्रज्ञ (ईश्वर और जीव) के दर्म्यानका भेद-भाव एकदम उड़ जाता है ।

काममें लगकर ईश्वरकी भक्ति करना ।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

हे अर्जुन ! जो मेरी शरण आकर, हमेशा सारे कामोंको करता हुआ रहता है वह मेरी कृपासे अनादि, अविनाशी पदको पा लेता है ।

इसलिये :—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

हे अर्जुन ! तू मनसे सारे कामोंको मेरे अर्पण करके, मुझे परमात्मा समझकर, निश्चल बुद्धिसे मनको एकाग्र करके, तू सदा मुझमें चित्त लगाये रह ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

हे अर्जुन ! मुझमें अपना चित्त लगानेसे, मेरी कृपासे, तू संसार-सागरके दुःखोंसे पार होजायगा, लेकिन अगर तू अहंकारके मारे मेरी बात न सुनेगा तो तू नष्ट होजायगा ।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

अगर अहंकारके कारण तू यह समझता है "मैं युद्ध न करूँगा" तेरा यह इरादा वृथा है; रजोगुणी प्रकृति तुझे लड़नेको मजबूर करेगी ।

तू क्षत्रिय है। क्षत्रियोंमें रजोगुण प्रधान होता है। अगर तू न मानेगा तो रजोगुणी प्रकृति तुझे लड़नेपर आमादा कर देगी।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! तू अपने स्वभावजन्य क्षत्रिय-धर्ममें बँधा हुआ है । जिस कामका करना तू अज्ञानसे पसन्द नहीं करता, वह तुझे करना पड़ेगा ।

क्योंकि :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन ! ईश्वर सबके हृदयमें निवास करता है । वही संसाररूपी चक्रपर बैठा हुआ, अपनी मायासे, सब प्राणियोंको घुमाया करता है ।

खुलासा—जिस तरह बाज़ीगर पीछे बैठा हुआ कठपुतलियोंको तार खींचकर नचाया करता है ; उसी तरह संसाररूपी मैशीन पर चढ़े हुए जीवोंको परमात्मा अपनी माया (अविद्या) से घुमाया करता है। जीव प्रकृतिके अधीन है और प्रकृति ईश्वरके अधीन है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे अर्जुन ! सब तरहसे तू उस परमात्माकी शरणमें जा ; उसकी कृपासे तुझे परम शान्ति और अविनाशी विश्राम-स्थान मिलेगा ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

हे अर्जुन ! मैंने तुझसे यह गुप्तसे भी गुप्त ज्ञान कहा है; तू इस सब पर खूब विचार करले । फिर तेरी जो इच्छा हो सो कर ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

हे अर्जुन ! मेरे परम वचनको जो सबसे अधिक गुप्त है फिर सुन ; तू मेरा परम मित्र है ; इसलिये तेरी भलाईको कहता हूँ ।

खुलासा—अगर तू सारी गीताको न समझ सके, तो दो श्लोकोंमें सारी गीताका सार-तत्त्व तुझसे कहता हूँ ; यह गुप्त विषय मैं तुझे तेरे डर या तुझसे इनाम पानेको गरज़से नहीं कहता ; किन्तु इस-लिये कहता हूँ, कि तू मेरा प्यारा और पक्का मित्र है ।

वह क्या है ?—भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

तू मुझमें चित्त लगा, मेरी भक्ति कर, मेरी ही उपासना कर, मेरा ही सम्मान कर, ऐसा करनेसे तू मेरे पास पहुँच जायगा । क्योंकि तू मेरा प्यारा है, इसलिये यह बात मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ ।

खुलासा—इस मन्त्रमें भगवान्ने कर्मनिष्ठाका सार कहा है; क्योंकि कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठाका साधन है । ईश्वरकी भक्ति करना और एकमात्र उसकी शरण जाना, कर्म-योगकी सिद्धिका गुप्ततम भेद है । आगे भग-वान् कर्म-योगसे पैदा होनेवाले फल—शुद्ध ज्ञान—को बतलाते हैं ।

शुद्धज्ञान ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सब धर्मोंको त्यागकर, एकमात्र मेरी शरणमें आजा । मैं तुझे सब पापोंसे छुड़ा दूँगा तू रंज मत कर ।

खुलासा—शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्त;करणके सब धर्मोंको छोड़कर; अर्थात् नैष्कर्म्य होकर, एक मेरी शरण आ जा । मनमें यह विश्वास रख, कि मैं स्वयं ईश्वर हूँ ; मनमें समझ कि मुझ, ईश्वर के सिवाय और कुछ भी नहीं है । जब तेरा यह विश्वास दृढ़ हो जायगा, तो मैं तुझे तेरे आत्माके रूपमें तमाम पापों तथा धर्म और अधर्मके बन्धनसे छुड़ा दूँगा । ऐसीही बात दसवें अध्यायके ११ वें श्लोकमें कही है—

"मैं उनके आत्मामें ठहरा हुआ, प्रकाशवान् ज्ञानरूपी दीपकसे उनके अहङ्काररूपी अज्ञानसे पैदाहुए अन्धकारको नाश कर देता हूँ।"

गीताका उपदेश सुनाने योग्य मनुष्य ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

यह ज्ञान जो मैंने तुझे बताया है, ऐसे आदमी से कहने-योग्य नहीं है जो तपरहित है, जो मेरा भक्त नहीं है, जो मेरी सेवा नहीं करता और जो मेरी बुराई करता है ।

गीताके उपदेश करनेका फल ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो, परमभक्तिसे, इस अत्यन्त गुप्त ज्ञान को मेरे भक्तोंको सुनावेगा, वह निस्सन्देह मेरे पास आवेगा ।

खुलासा—जो मनुष्य इस अत्यन्त गुप्त ज्ञानको, जिससे परमपद मिलता है, मेरे भक्तों को सुनावेगा और मनमें ऐसा विश्वास रखेगा कि मैं गीता सुनाकर परमात्मा और परम गुरुकी सेवा करता हूँ, वह मेरे पास पहुँच जायगा; यानी उसकी मोक्ष हो जायगी ।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

जो गीताका उपदेश करता है, उससे अधिक मेरा प्यारा काम करनेवाला मनुष्योंमें नहीं है ; उससे अधिक प्रिय, पृथ्वी पर, मेरा कोई न होगा ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

जो कोई हमारे-तुम्हारे इस पवित्र कथोपकथनको पढ़ेगा, वह ज्ञानयज्ञ द्वारा मेरी पूजा करेगा, यह मेरी राय है ।

गीता सुननेका फल ।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१॥

वह मनुष्य जो, द्वेषरहित होकर श्रद्धासे गीता सुनता है, वह भी मुक्त होकर उन सुखदायी लोकोंमें जाता है, जहाँ अग्निहोत्र आदि यज्ञ करने वाले जाते हैं ।

अर्जुनका भगवान्को विश्वास दिलाना कि आपका उपदेश मेरी समझमें आगया ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जयः ॥ ७२ ॥

भगवानने पूछाः—

हे अर्जुन ! मैंने तुझे जो उपदेश दिया है, वह तैंने ध्यान देकर सुना या नहीं ? उससे तेरा अज्ञानसे पैदा हुआ भ्रम दूर हुआ कि नहीं ?

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुनने जवाब दियाः—

हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा भ्रम दूर हो गया है और मुझे ज्ञान होगया है । मैं दृढ हूँ, मेरे सन्देह नाश होगये हैं । मैं आपकी आज्ञानुसार काम करूँगा ।

संजय कृष्ण भगवान् और उनके उपदेशकी प्रशंसा करता है ।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

सञ्जयने कहा:—

हे धृतराष्ट्र ! मैंने भगवान वासुदेव और महात्मा अर्जुन का अद्भुत कथोपकथन इस भाँति सुना । इसके सुनने से मेरे रोंये खड़े हो गये ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

व्यासजीकी कृपासे. मैंने इस परमगुप्त योगको स्वयं योगेश्वर भगवान् कृष्णके मुखसे निकलते सुना है ।

व्यासजीसे सञ्जयको दिव्य चक्षु (नेत्र) मिले थे । इसीसे वह धृतराष्ट्रके पास बैठा हुआ, युद्धभूमिका सारा हाल देख सका था ।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हे राजन् ! केशव और अर्जुनके इस अद्भुत और पवित्र कथोपकथनके हर क्षण याद आनेसे मुझे बारम्बार प्रसन्नता होती है ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

और हर क्षण हरिके परम अद्भुत विश्वरूपके याद आनेसे मुझे बड़ा आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

मेरी समझमें जिधर योगेश्वर कृष्ण हैं और जिधर गाँडीव धनुर्धारी अर्जुन हैं, उधरही राज्यलक्ष्मी, उधरही विजय, उधरही वैभव और उधरही न्याय है ।

हे राजन् ! जिस सेनामें योगेश्वर भगवान् कृष्ण हैं, उसी सेनाकी जीत होगी । मेरी समझमें आपके पुत्र दुर्योधनकी जीत हरगिज़ न होगी । आप जयकी आशा छोड़ दीजिये ।

चिकित्साचन्द्रोदय

पर

विद्वानोंकी सम्मतियाँ

भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ पत्र "वर्तमान" कानपुर लिखता है:—"अनेक चित्र देखकर डाक्टरी हकीमी और आयुर्वेद विज्ञान की जटिल बातोंको इतना सरल कर दिया है, कि साधारण हिन्दी-ज्ञाता मनुष्य भी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है और घर बैठे वैद्य बन सकता है...अनेक प्रकारके ज्वरोंके ऊपर जो कुछ और जितना कुछ बाबू हरिदासजी वैद्यने इस भाग में लिखा है, शायद उतना विशद वर्णन संस्कृत के भी ग्रन्थोंमें न लिखा होगा। एक-एक रोगके वैद्यक, हकीमी और डाक्टरीके हजारों नुसखे दिये हुए हैं। गरीबोंके लिये पैसे-पैसे और दो-दो पैसेकी जड़ी-बूटियोंकी दवाइयाँ ऐसी बतला दी हैं, कि उनसे दुखियोंका महाकष्ट थोड़े खर्चमें ही दूर हो सकेगा। लेखक इस पुस्तक को लिखकर अमर हो जायगा। हमारी रायमें यह पुस्तक हिन्दी में एक ही होगी—ये तीन भाग (आज चार भाग तैयार हैं) प्रत्येक वैद्य और गृहस्थ के यहाँ हमेशा रहने चाहिये।"

संस्कृतके धुरन्धर विद्वान् कलकत्ता यूनीवरसिटीके वेद-व्याख्याता स्वर्गीय पण्डित भीमसेनजी शर्म्माके सुपुत्र,"ब्राह्मण सर्वस्व" सम्पादक पण्डित ब्रह्मदेवजी शास्त्री काव्यतीर्थ महोदय लिखते हैं;—"वैद्यकके महान् ग्रन्थों का काम केवल "चिकित्साचन्द्रोदय" से ही चल सकता है। प्रत्येक रोग पर अनुभूत योग भी दिये गये हैं। वैद्य जिन योगोंको अपने पुत्रों और शिष्योंको भी बताने में संकोच करते हैं, वे ही वैद्यक-विद्या के गूढ़ रहस्य बाबू हरिदासजी ने इसमें निस्संकोच प्रकट कर दिये हैं। आपकी यह उदारता और परोपकारिता अन्य वैद्योंको अनुकरणीय है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि, इस अकेली पुस्तक का रखना एक योग्य वैद्य या डाक्टरका अपने सामने रखना है। पुस्तक वैद्यक-विद्या सीखनेकी इच्छा रखनेवाले नौसिखुओं और सर्व साधारण गृहस्थों को परमोपयोगी है। लिखने का ढँग तो ऐसा अच्छा है कि, ग्रन्थकार के हाथ चूम लेनेको जी चाहता है। पुस्तककी छपाई कागज और जिल्दबन्दी अत्युत्तम है।

"जायसवाल जैन"-आगरा लिखता है-"बाबू हरिदासजी पहले ही "स्वास्थ्यरक्षा आदि पुस्तकें लिखकर और भर्तृहरि के नीतिशतक आदिका अनुवाद करके यथेष्ठ ख्याति लाभ कर चुके हैं। अब आपने "चिकित्साचन्द्रोदय" नामक ग्रन्थ लिखकर तो अपनी कीर्त्ति अजर अमर, कर दी है। लिखने की शैली इतनी उत्तम है, कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी, बिना किसीकी सहायताके, इस ग्रन्थको पढ़ कर इन रोगोंके विषयमें पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकता है।